जगदीश प्रसाद कौशिक
भारतीय
आर्यभाषाओं
का
इतिहास

अपोलो प्रकाशन

जयपुर–३

जगदीश प्रसाद कौशिक
भारतीय
आर्य
भाषाओं
का
इतिहास

प्रकाशक :
अपोलो प्रकाशन, जयपुर

•

मूल्य : [illegible] रुपये मात्र

•

मुद्रक :
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

स्वर्गीया धर्मपत्नी

श्रीमती शान्ता कौशिक

को

सस्नेह समर्पित

प्रस्तावना

भापा मानवीय जीवन का वह विधायक तत्त्व है जो सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एव सांस्कृतिक उत्थान का कारण होता है। मानव भाषा का विकास करता है और भाषा मानव-जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। इस प्रकार दोनो का विकास अन्योन्याश्रित है। अतः भाषाओं का विकासात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन एक प्रकार से जातीय जीवन-विकास का ही अध्ययन कहा जा सकता है। यदि भापाएँ नही होती तो विचारो का पारस्परिक आदान-प्रदान सर्वथा अवरुद्ध हो जाता और सभ्यता का जो रूप आज हमारे समक्ष वर्तमान है वह भी नही होता। भापा की यह महत्ता ही विद्वानो को भापा-अध्ययन के प्रति प्रोत्साहित करती हैं।

भापाओ के नियमन का कार्य तो सुदूर प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था और प्राय विश्व की समस्त समृद्ध भाषाओ का उनका अपना व्याकरण है, परन्तु भापाओ के विकासात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन का इतिहास अधिक प्राचीन नही है। लगभग सत्तरहवी और अठारहवी शताव्दी मे योरप मे इस प्रकार के अध्ययन का एक प्रवाह प्रस्फुटित हुआ था और उससे प्राय. समस्त विश्व आप्लावित हो उठा था। विश्व के चिन्तनशील मनीषियो ने अत्यन्त गम्भीर चिन्तन एवं मनन के पश्चात् वशानुक्रम के आधार पर विश्व की समस्त भाषाओ का वर्गीकरण किया। वशानुगत सम्वन्ध स्थापित करने के लिये अनेक तत्त्वो को सहायक रूप मे ग्रहण किया गया है; यथा—(१) शव्द साम्य, जिनके अन्तर्गत उन शव्दो को लिया गया जो दैनिक जीवन मे काम आते हो, जैसे—सम्वन्धियो अथवा वस्तुओ के नाम, सर्वनाम पद, गिनती वाले शव्द और कम से कम परिवर्तित होने वाले क्रिया पद आदि। (२) ध्वनि साम्य, (३) व्याकरणगत विकास और भौगोलिक सन्निकटता। उक्त साम्यो के आधार पर अधोलिखित भापा परिवारो की स्थापना हुई; यथा—(१) अमेरिकन परिवार, (२) मलय-इण्डोनेशियन परिवार, (३) मलेनेशियन परिवार, (४) पालिनेशियन परिवार, (५) पापुआयन परिवार, (६) आस्ट्रेलियन परिवार, (७) वुशमैन परिवार (८) वाँटू परिवार, (९) सूडानी परिवार, (१०) सामी-हामी परिवार, (११) उराल-अल्ताई परिवार, (१२) चीनी परिवार, (१३) काकेशियन परिवार, (१४) द्रविड़ भापा परिवार और (१५) आर्य भापा परिवार।

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण को विद्वान् लोग अभी भी पूर्ण वर्गीकरण नही

मानते क्योकि विश्व की अनेक ऐसी बोलियाँ आज भी अवशिष्ट है जिनका तुलनात्मक तो क्या केवल भाषा-शास्त्रीय अध्ययन भी सम्पन्न नही हो पाया है, तो भी यह वर्गीकरण विश्व की प्राय: समस्त समृद्ध भाषाओ को अपने मे संजोये हुए है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अनेक संस्कृतियो का संगम-स्थल रहा है। अत: यहाँ पर अनेक भाषा-परिवारो की भाषाओ का अस्तित्व उपलब्ध होता है। आज तक विद्वानों ने भारत में अनेक विभिन्नमार्गी भाषाओं को लक्षित किया है जिन्हे दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ और (ख) आर्य-परिवार की भाषाएँ।

(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ—भारत मे अनेक ऐसी बोलियाँ है जिनका सम्बन्ध आर्य परिवार की भाषाओ से न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व है, ये बोलियाँ इस प्रकार से है—(१) मुण्डा परिवार और (२) द्रविड़ परिवार।

(१) मुण्डा परिवार—भारतवर्ष के विभिन्न स्थानो में फैली हुई आदिम जातियाँ 'मुण्डा भाषा' की बोलियाँ बोलती है। ये जातियाँ छोटा नागपुर, मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ जिलो मे, मद्रास के कुछ भागो मे, पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाडी एवं जगली प्रदेशो मे निवास करती हैं। **श्री मैक्समूलर** पहले विद्वान् थे, जिन्होने इन बोलियों के समूह को 'मुण्डा' नाम दिया, क्योंकि इसकी एक बोली 'मुण्डेरी' है जिसका अर्थ मुखिया होता है। अत: इसी आधार पर इसे 'मुण्डा' नाम दिया गया है।

'मुण्डा परिवार' को बोलियों को आस्ट्रिक परिवार की शाखा माना जाता है। इसकी लगभग उन्नीस बोलियाँ भारतवर्ष मे प्रचलित है और मुण्डा की सात बोलियाँ प्रयोग मे लाई जाती है जिनमे से सन्थाली और मुण्डारी का कुछ अध्ययन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त हो, कुर्कू, सवर, कनावरी एवं खेरवारी बोलियों का ज्ञान भी प्राप्त किया जा चुका है, लेकिन उसके सूक्ष्म अध्ययन की अभी भी आवश्यकता है।

विशेषताएँ—मुण्डा भाषाओ मे विद्वानों ने अधोलिखित विशेषताओं को चिह्नित किया है—

(१) आर्य परिवार के सभी स्वर इस भाषा मे मिलते है।

(२) आर्य परिवार के व्यञ्जनो के साथ-साथ 'ड' तथा अर्ध व्यञ्जन 'क, च, त, प' भी मिलते हैं। इनका उच्चारण स्पर्श 'क, च, त, प' के उच्चारण से भिन्न होता है।

(३) सन्थाली मे संयुक्त व्यञ्जन आदि मे नही रखे जाते।

(४) शब्दो को सज्ञा,, सर्वनाम जैसे विभागो मे विभाजित नही किया जाता है।

(५) पद विभाग का ज्ञान प्रकरण से होता है । आवश्यकता के अनुसार एक ही शब्द संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है ।

(६) इन भाषाओ मे तीन वचन होते है ।

(७) विभक्ति-प्रत्ययो के स्थान पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की तरह परसर्गों का प्रयोग किया जाता है ।

(८) पुरुष के अनुसार क्रिया मे रूप विभिन्नता नही होती ।

(९) अव्यय स्वतन्त्र शब्द के रूप मे भी प्रयुक्त किये जाते है और अव्यय की तरह भी ।

द्रविड़ परिवार :

यह भाषा-परिवार भारत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषा परिवार है । आर्य भाषाओ के बाद साहित्यिक समृद्धि और बोलने वालो की संख्या की दृष्टि से इसी परिवार का स्थान है । 'द्रविड़' शब्द का विकास संस्कृत 'द्रमिल' शब्द से हुआ है । भरत मुनि ने दक्षिण के एक प्रदेश के लिए 'द्रमिल' शब्द का प्रयोग किया है; यथा—'द्रमिलान्ध्रजा' । इसका विकास दो दिशाओं मे हुआ है । वराहमिहिर ने इसके लिए 'द्रमिड' शब्द का प्रयोग किया है और पालि मे इसका रूप 'दमिल्' मिलता है । 'द्रमिड़' विकसित होकर 'द्रविड़' बना और 'दमिल्' इससे विकसित होकर बना 'तमिल', जो आजकल द्रविड़ परिवार की एक भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त होता है । मद्रास प्रदेश को अब 'तमिलनाडु' प्रदेश ही कहा जाता है ।

उक्त परिवार की अनेक बोलियो का प्रयोग दक्षिण भारत मे किया जाता है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की चार प्रमुख भाषाएँ है :— (१) तमिल, (२) तेलगु, (३) मलयालम और (४) कन्नड ।

(१) तमिल :

यह भाषा तमिलनाडु राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग मे और लका के उत्तरी भाग मे बोली जाती है । इसके उत्तर मे तेलगु, पश्चिम मे कन्नड़ और मलयालम भाषी क्षेत्र आते है । पूर्व मे बगाल की खाडी और दक्षिण मे लका द्वीप आते है । इसमे आठवी शताब्दी तक का साहित्य उपलब्ध होता है । साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की यह सर्वाधिक समृद्ध भाषा है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की किसी भी समृद्ध भाषा से टक्कर ले सकती है ।

तेलगु :

यह आन्ध्र प्रदेश की भाषा है । इसके बोलने वालो की सख्या द्रविड़ परिवार मे सब से अधिक है । 'तिलंगा' शब्द सैनिक का पर्यायवाची है । इस भाषा का साहित्य बारहवी शताब्दी से मिलने लगता है । इसका आधुनिक साहित्य तमिल की टक्कर का है । प्राचीन काल में इस प्रदेश के लोग संस्कृत

के अप्रतिम पण्डित होते थे। अतः इस भाषा पर संस्कृत शब्दावली का बहुत अधिक प्रभाव है। विद्वानों का विचार है कि सत्तर से अस्सी प्रतिशत के लगभग संस्कृत शब्द तेलगु मे खोजे जा सकते है। इस कारण से हिन्दी, मराठी, बंगला आदि भाषा से अन्य द्रविड परिवार की भाषाओ की तुलना में इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके उत्तर-पूर्व मे उडिया भाषा, उत्तर में पूर्वी हिन्दी, पश्चिम मे कन्नड़ एवं मराठी और दक्षिण मे तमिल भाषा के क्षेत्र आते है।

मलयालम :

यह पश्चिमी घाट मे स्थित केरल राज्य की भाषा है। यह वस्तुतः तमिल की ही एक शाखा है जो इससे नवी शताब्दी के लगभग पृथक् हुई। तेलगु की तरह इसमे भी संस्कृत भाषा की शब्दावली की प्रचुरता है। ट्रावणकोर और कोचीन के राजाओ के संरक्षण मे इस भाषा ने पर्याप्त मात्रा मे उन्नति की। इसमे तेरहवी शताब्दी से साहित्य मिलना प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व मे तमिल भाषी क्षेत्र और उत्तर मे कन्नड भाषा के क्षेत्र आते है। दक्षिण और पश्चिम मे समुद्री क्षेत्र है।

कन्नड़ :

यह मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि की दृष्टि से तेलगु के और भाषा गठन की दृष्टि से तमिल के समीप पडती है। प्राचीनता की दृष्टि से द्रविड़ परिवार मे यह सब से प्राचीन भाषा है। इसमे पाँचवी शताब्दी तक लेख उपलब्ध होते है। इसके दक्षिण मे तमिल और मलयालम भाषाओ का क्षेत्र, उत्तर मे मराठी, और पूर्व मे तेलगु भाषा के क्षेत्र आते है। पश्चिम मे अरब सागर लहराता है।

(ख) आर्य परिवार की भाषाएँ :

विश्व भाषा-परिवारो मे आर्य भाषा परिवार सभी दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ भारत, ईरान, रूस के कुछ भाग, समस्त योरप महाद्वीप, समस्त अमेरिका महाद्वीप, अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी भाग और आस्ट्रेलिया महाद्वीप मे बोली जाती है।

विश्व मे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आविर्भाव का श्रेय भी इसी परिवार की भाषाओ को है। इस परिवार के लिए अनेक नामों के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये है। सर्व प्रथम जर्मन विद्वानो ने इस परिवार का नाम "इण्डो-जर्मेनिक" परिवार रखा। उनका कथन था कि इस परिवार की पूर्वी सीमा भारत है और पश्चिमी सीमा जर्मनी। अतः उक्त नाम ही उपयुक्त है। कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि उक्त नाम से 'आयरलैण्ड और वेल्ज़' की बोलियाँ जो 'केल्टिक' शाखा की हैं, इसमे नही आ पाती। अतः इसका नाम "इण्डो-केल्टिक" रखा गया, परन्तु यह नाम पहले नाम से भी

संकुचित होने के कारण, बिल्कुल नही चल पाया। इसके पश्चात् 'सास्कृतिक, जैफाइट' आदि नाम भी सुझाये गये, परन्तु विद्वानो द्वारा स्वीकृत नही हुए। तदनन्तर विद्वानो ने अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् दो महत्त्वपूर्ण नाम प्रस्तुत किये—(१) "आर्य परिवार" और (२) "इण्डो योरपियन परिवार"। योरपियन विद्वानो ने, मुख्यतः फ्रास के मनीपियो ने इण्डो-योरपियन नाम अत्यधिक पसन्द किया। इनका कहना है कि भारत और योरप ही दो ऐसे महादेश है जहाँ पर इस परिवार की भाषाएँ अत्यन्त समृद्ध एवं गौरवमयी रही है। इसके साथ ही 'आर्य परिवार' नाम के विरोध मे इनका यह कहना है कि 'आर्य' शब्द जाति का सूचक होने के कारण आर्येतर जातियाँ इससे बहिष्कृत हो जाती है और यह नाम केवल 'भारत और ईरान' की शाखा के लिए ही प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योकि ये ही लोग अपने आपको "आर्य" कह कर गौरवान्वित होते है।

उपर्युक्त सभी नामो मे से 'आर्य-परिवार' नाम मेरी दृष्टि मे अधिक उपयुक्त है। प्रथम तो यहाँ पर लाघव है। 'इण्डो-योरपियन' नाम की अपेक्षा 'आर्य' नाम छोटा है जो गुण दार्शनिक दृष्टि से अच्छा समझा जाता है। दूसरे, इस तथ्य को भी दृष्टि से ओझल नही किया जा सकता कि मूलत· यह आर्यो (एक प्राचीन जाति-विशेप) की ही भाषा थी और उनके शौर्य-पराक्रम और बुद्धि-वैभव के कारण विश्व के एक बहुत बड़े भूभाग पर फैल गयी। तीसरे, 'सामी, हामी, बांटू' जैसे परिवारो के नाम के भी अनुकूल है। चौथे, इसे शाखाओ-प्रशाखो मे विभाजित करने मे सुविधा रहेगी; यथा—योरपीय आर्य परिवार, अमेरिकन आर्य परिवार, ईरानी आर्य परिवार, भारतीय आर्य परिवार आदि। अत. उक्त परिवार के लिए यही नाम अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

सर्व प्रथम १८७० ई० मे प्रसिद्ध विद्वान् अस्कोली ने अनुभव किया कि आर्य परिवार की भापाओ मे कुछ ऐसी भाषाएँ है जिनके 'श, स, ज' के परिवार का अन्य भाषाओ मे 'क' हो जाता है और उन्होने इस प्रकार के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये। तदनन्तर इसे आधार मानते हुए 'फान ब्रेडके' ने आर्य परिवार की भाषाओ को दो वर्गो मे विभाजित किया—(१) कैन्टुम् और (२) सतम्। कैन्टुम् वर्ग मे आपने 'ग्रीक, इटालिक, केल्टी, जर्मनी, हित्ती और तुखारी उपपरिवारो को परिगणित किया और सतम् वर्ग मे भारत ईरानी, अर्मीनी, वाल्ती-स्लेवोनी तथा अल्बानी उपपरिवारों को समाविष्ट किया। इनमे भारत ईरानी उपपरिवार अपनी विशिप्ट महत्ता रखता है। इस परिवार की तीन शाखायें हे—(१) ईरानी, (२) दरद और (३) भारतीय। भारतीय आर्य भाषा की प्राचीनतम भाषा 'छान्दस' और

ईरानी शाखा की प्राचीनतम भाषा 'अवेस्ता' मे अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। किञ्चित् परिवर्तन से अवेस्ता छान्दस और छान्दस अवेस्ता वन सकती है। इसीलिए विद्वानो ने इसे एक ही उपपरिवार की भाषा माना है।

ईरानी :

'ईरानी' शाखा की भाषा की विद्वानो ने तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। एक पारसियो के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' की भाषा, दूसरी अवेस्ता पर की गयी टीका की भाषा और तीसरी, हखमानी राजाओ के शिला-लेखो की भाषा। इन तीनो अवस्थाओ को मिलाकर प्राचीन ईरानी भाषा कहा जा सकता है।

लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से सातवी शताब्दी के वीच ईरानी भाषा के नये रूप का आविर्भाव होता है। इस समय की मुख्य साहित्यिक भाषा 'पहलवी' है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी ईरान मे 'हुज्वारेश' और पूर्वी ईरान मे 'पाज़ंद' भाषाएँ भी प्रचलित थी। इन्हे मध्यकालीन ईरानी कहा जा सकता है।

इस्लाम के प्रचार के साथ-साथ ईरानी भाषा ने नया रूप ग्रहण किया और इस पर अरवी भाषा का प्रभाव पडा। मुसलमानो के साथ-साथ यह भारत मे आई और भारतीय परिवार के साथ इसका पुन सम्पर्क हुआ। उस समय इसे 'फारसी' के नाम से अभिहित किया जाता था। वीसवी शताब्दी मे इसे पुनः फारसी के स्थान पर अपना पुराना नाम प्राप्त हुआ और आज कल इसे 'ईरानी' ही कहा जाता है। यहाँ से ही ईरानी का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है।

दरद :

'दरद' का अर्थ होता है पर्वत। अत भारत के सीमान्त पर्वत प्रदेशो मे वोली जाने वाली भाषाओ के समूह को दरद भाषाएँ कहा जाता है। पजाव के पश्चिमोत्तर मे और पामीर के पूर्व-दक्षिण मे जो पर्वत प्रदेश है, वह इनका क्षेत्र माना जाता है। इन्हे पिशाच या भूत भाषाएँ कहने का भी प्रचलन है। काफिरी, खोवारी, शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी (अनेक वोलियो के समूह का कल्पित नाम) आदि इसकी आधुनिक भाषाएँ है। कश्मीरी इनमें सव से महत्त्वपूर्ण है और इसका क्षेत्र भी अपेक्षाकृत विस्तृत है। प्राचीन समय मे कश्मीर संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहने के कारण इस पर सस्कृत शब्दावली का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस्लाम के प्रवेश के वाद से इस भाषा पर अरवी और फारसी का प्रभाव वढता गया और आजकल इसे फारसी लिपि मे ही लिखा जाता है। अव तक विद्वान् यह निश्चित नही कर पाये हैं कि पिशाची प्राकृत और दरद भाषाओ का कोई पारस्परिक सम्वन्ध है अथवा दो भिन्न नामो वाली यह एक ही भाषा है। कश्मीरी स्वरो मे

अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। सघोप महाप्राण ध्वनियो का अभाव है जो पैशाची प्राकृत की भी एक विशेषता है।

भारतीय आर्य शाखा :

भारतीय आर्य शाखा भारत-ईरानी उपपरिवार की एक शाखा है, जो समस्त भारत मे किसी न किसी रूप मे प्रयोग मे लाई जाती है। इसकी प्राचीनतम भाषा छान्दस है। यही से लेकर नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत ग्रन्थ मे उपस्थित करने का उपक्रम किया गया है।

समस्त पुस्तक को **ग्यारह अध्यायों** मे विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय मे प्राचीन भारत की सास्कृतिक गतिविधियो पर विचार-विमर्श करने के लिये आर्यो के मूल निवास-स्थान का अनुसन्धान कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आर्यों की मूल जन्मभूमि सप्तसिन्धु प्रदेश ही थी और आर्य कही बाहर से नही आये थे। इसकी पुष्टि प्रजातिवाद, भाषा और पुरालेखो की दृष्टि से की गई है। तदनन्तर भारत मे अन्य सस्कृतियों के अस्तित्व को प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय में छान्दस एवं संस्कृत भाषाओं की विकास प्रक्रिया और ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और दोनो भाषाओ के पारस्परिक सम्वन्ध को स्पप्ट किया गया है।

तृतीय अध्याय मे मध्यकालीन भाषाओं के विकास के कारण प्रस्तुत करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि उनका विकास संस्कृत भाषा से सम्भव है अथवा छान्दस से। इसके साथ ही मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ की सामूहिक ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेपताओ का निदर्शन किया गया है।

चौथे अध्याय मे पालि एवं अशोकी शिला-लेखो की भाषाओ पर विचार करते हुए पालि भाषा के 'नामकरण' की और क्षेत्रीय बोली की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'पालि और छान्दस' भाषा की उन विशेषताओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनके रूप संस्कृत मे उपलब्ध नही होते। अन्त मे पालि भाषा की ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेपताएँ प्रस्तुत की गयी है।

पाँचवे अध्याय मे साहित्यिक प्राकृत भाषाओ के उद्भव पर विचार करते हुए इनकी सामूहिक विशेषताओ को प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत पर पृथक्-पृथक् प्राकृत-वैयाकरणो के अनुसार ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

छठे अध्याय मे अपभ्रश भाषा के उद्गम उसका देशत्व, और आभीरादि जातियो के साथ उसके सम्वन्ध पर विचार किया गया है। इसके साथ ही

साहित्यिक एवं परिनिष्ठित अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों को पुष्ट भाषा-वैज्ञानिक आधार-भूमि पर निरस्त कर उसके एक ही रूप की स्थापना की गयी है। इसी बीच उसका ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

सातवे अध्याय मे 'अवहट्ठ' अथवा सक्रान्ति काल की भाषा पर विचार किया गया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि वह साहित्यिक अपभ्रंश से कितनी दूर चली गयी थी और नव्य-भारतीय आर्य भाषाओ के कितनी समीप आ गयी थी। इसके साथ ही इसकी ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेषताओ पर भी विचार किया गया है।

आठवे अध्याय मे नव्य-भारतीय आर्य भाषाओ पर विचार व्यक्त किये हैं और डॉ. ग्रियर्सन और डॉ. चाटुर्ज्या के वर्गीकरणो पर विस्तार से विचार भी। इसके पश्चात् समस्त नव्य-भारतीय आर्य भाषाओ का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए इस अध्याय मे मुख्यतः नामकरण, क्षेत्र, सीमाएँ और ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक विशेषताएं सन्निविष्ट की गयी है।

नवे अध्याय मे पश्चिमी हिन्दी के उद्भव और विकास पर विचार किया गया है तथा अपभ्रंश के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् हिन्दी शब्द की निरुक्ति तथा हिन्दी-उर्दू विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है।

दसवे अध्याय मे हिन्दी (खड़ी बोली) भाषा की ध्वनियो के स्वरूप और उनके विकास की प्रक्रिया को विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

ग्यारहवे अध्याय मे हिन्दी (खडी बोली) का रूपात्मक विकास प्रस्तुत किया गया है। महामुनि यास्क के 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' के आधार पर शब्द-रूपो का विभाजन कर प्रत्येक विधा को पृथक्-पृथक् रूप मे स्पष्ट किया गया है।

अन्त मे दो परिशिष्ट है जिनमे (१) हिन्दी राष्ट्र-भाषा क्यो ? तथा (२) पारिभाषिक शब्दावली का विवेचन है। इस प्रकार संक्षेप मे यह प्रयास किया गया है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययेष्णु छात्र सरलता से भारतीय आर्य भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर सके। यह प्रयास कितना सफल हुआ है, यह निर्धारित करना विज्ञ पाठको का अपना विषय है।

मानव के जीवन-निर्माण मे विभिन्न व्यक्तियों, घटनाओ एवं परिस्थितियों का योगदान रहता है। मनुष्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करता है और तदनुरूप अपने पथ का निर्धारण करता है। अतः इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि भाषा-अध्ययन के इस पथ को प्रशस्त करने का श्रेय मेरे दो पितृव्य स्व. **पं. रामस्वरूप शर्मा** और स्व. **पं. कन्हैयालाल शर्मा** को है जिनके सान्निध्य मे मैंने सस्कृत भाषा की पुरातन प्रणाली पर लघु और सिद्धान्त कौमुदी तथा

सारस्वत और सिद्धान्त चन्द्रिका जैसे व्याकरण ग्रन्थो का अध्ययन किया। आधुनिक प्रणाली पर भाषाओ के अध्ययन की ओर अग्रसर करने का श्रेय हिन्दी के कतिपय ग्रन्थो को है जिनमे डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', डॉ. बाबूराम सक्सेना कृत 'सामान्य भाषा-विज्ञान', डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और डॉ सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या कृत 'भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी' आदि प्रमुख है। उक्त ग्रन्थो का मेरे भाषा जीवन मे जो योगदान है उससे मैं शायद ही उऋण हो सकू ।

भाषाओं के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करते रहने का श्रेय **डॉ. सरनाम सिह शर्मा 'अरुण'** को है । किसी भी विषय पर किसी भी समय विचार-विमर्श करने के लिए उनके द्वार मेरे लिए सदैव खुले रहते है। उसी का यह परिणाम है जिसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ ।

मेरे लेखक जीवन का शुभारम्भ उन भाषा-वैज्ञानिक लेखो से होता है जो समय-समय पर हिन्दी की प्रमुख शोध-पत्रिकाओ—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, शोध-पत्रिका, विश्वम्भरा, सप्त-सिन्धु, राजस्थान पत्रिका, जनभारती, रसवन्ती आदि मे प्रकाशित होते रहे है । मेरे लेखो को पढकर मेरे विद्वान् मित्रो ने मुझे इस विषय पर कोई पुस्तक लिखने का परामर्श दिया जिससे मेरे विचार अधिक से अधिक लोगो तक पहुँच सकें । इसी बीच बी.ए. के छात्रों को भारतीय आर्य भाषाओ का इतिहास पढाते समय मुझे यह अनुभव भी हुआ कि हिन्दी जगत् मे एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है जो मौलिक होते हुए भी ऐसी शैली मे लिखी हुई हो कि एम.ए. और बी.ए. के छात्रो के लिए समान रूप से उपादेय हो और वे अपनी आवश्यकतानुसार सामग्री अत्यन्त सरलता से प्राप्त कर सके। अत· पुस्तक लिखने का निश्चय कर उपर्युक्त प्रकार की रूपरेखा तैयार कर ली गयी ।

उक्त रूप रेखा को साकार रूप प्रदान करने मे मेरे अभिन्न मित्र **डॉ. प्रभाकर शर्मा शास्त्री**, संस्कृत विभाग का जो अमूल्य सहयोग मिला, वह मेरे हृदय की एक बहुमूल्य निधि बन गया है। समय-समय पर मिले आपके सुझाव तो महत्त्वपूर्ण थे ही, साथ ही आपके सशक्त 'प्रूफ रीडिग' ने पुस्तक को अधिक निर्दोष बना दिया है ।

मेरे जीवन निर्माण मे मेरी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती शान्ता कौशिक का बहुत बड़ा हाथ रहा । वह मेरी पत्नी ही नही एक मार्ग-दर्शिका भी थी । किशोरावस्था की वह मेरी जीवन-सगिनी सदैव कहा करती थी कि अध्ययन काल मे सुख की आकांक्षा करना असफलता को आमन्त्रित करना है और अध्ययन तो अपने आप मे एक सुख है । मैं नही समझती कि इससे आगे भी

दुनियाँ में कोई सुख होता है। आज वह इस संसार में नहीं है किन्तु उसके वाक्य आज भी मेरा मार्ग-दर्शन करते है।

अन्त में मैं उन विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों का आधार लेकर मैं इस पुस्तक को प्रस्तुत कर सका हूँ। उनकी सूची पुस्तक के अन्त में प्रस्तुत कर दी गई है। यदि किसी ग्रन्थ का नाम अज्ञानवश उस सूची मे नही आ पाया हो जिसका उपयोग इस पुस्तक मे किया गया है तो सम्बद्ध विद्वान् मुझे क्षमा करेगे। सिद्धान्तो के प्रतिपादन में यदि किसी विद्वान् के किसी सिद्धान्त का खण्डन करते समय कही कोई वाक्स्खलन हो गया हो तो विद्वान् उसे वाल-चांचल्य समझकर क्षमा कर देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यह मेरा प्रथम प्रयास है। अतः वहुत सम्भव है, अनेक स्थलों पर अनेक भूलें एवं अपूर्णताएँ रह गयी हो, इसके लिए विद्वानो के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं, जिससे अग्रिम सस्करण मे उनका उपयोग किया जा सके।

श्री कल्याण राजकीय महाविद्यालय,
सीकर
विजयदशमी, २०-१०-६६

जगदीशप्रसाद कौशिक

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक वातावरण

बौद्धिक युग और उसके परिणाम—पाश्चात्य विद्वान् और उनकी मनोवृत्ति—आर्यजन और उनके मूल निवास स्थान का भ्रम—विभिन्न मत—मतों का आधार—प्रजातिवाद—भाषावाद—प्राचीन शिलालेख एवं ग्रन्थ—प्राचीन भारत की मुख्य-मुख्य प्रजातियाँ—हब्शी—आस्ट्रिक या निषाद—द्रविड़—मंगोलियन या किरात—इनका प्रभाव—छान्दस/संस्कृत, अवेस्ता, पालि/प्राकृत की तुलना।

वर्तमान युग बौद्धिक विकास एवं सभ्यता के प्रसार में कितनी तत्परता से संलग्न है, यह स्वयं सिद्ध तथ्य है जो विस्तृत व्यञ्जना की अपेक्षा नही रखता। मानव-मस्तिष्क उस उर्वरा भूमि की भाँति कार्य-निरत है जो एक बीज के प्रतिदान मे वपनकर्ता को असख्य बीजो से आपूरित निष्कर्ष रूपी फल प्रदान करता है। आज एक विषय जैसे ही अंकुरित होता है वैसे ही तुरन्त शाखाओ एवं प्रशाखाओ मे प्रस्फुटित हो कर पुष्पित एव पल्लवित हो जाता है। क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या राजनीति, क्या समाजशास्त्र, क्या इतिहास, क्या संस्कृति, सभी क्षेत्रो मे मानव प्रतिभा ने जो कमाल कर दिखाए है, वे अप्रतिम है। ज्ञान के सभी अंगो का आलोडन-विलोडन कर उन पर पड़े अज्ञान के पर्दे को फाड़कर विद्वत्समाज उस रहस्य के उद्घाटन मे तल्लीन है जो या तो मानव-मस्तिष्क के लिए गहन गुत्थी बना हुआ था, या मानव-समाज उसके विषय मे पूर्णत अनभिज्ञ था। प्रकृति के ऐसे कितने ही व्यापारो का उद्घाटन किया जा चुका है और कितनो का ही किया जा रहा है, किन्तु इस प्रकार के कृत्यों का उत्तरदायित्व वहन करते समय विद्वान् पुरुष यदि किञ्चित् मात्र भी बहक जाता है (कारण चाहे राजनैतिक, धार्मिक व राष्ट्रीय कोई भी रहा हो) तो वह अपने आप को तो प्रवंचना के गहन गह्वर मे पतित करता ही है, साथ ही भावी सन्तति के लिए गहन समस्याओ का आदाता भी हो जाता है। बौद्धिकता की शान पर चढ़े हुए, तेज धार वाले अनुमान-प्रसूत तर्क, किस प्रकार युगों से प्रस्थापित मानव-मस्तिष्क के विश्वास-विहगो के पख छिन्न-भिन्न कर देते है, यह एक कल्पित विधान नही, अकाट्य सत्य है। अतएव बुद्धिप्रधान तर्क-वितर्क के युग मे कम से कम बुद्धिजीवी वर्ग से मेरी विनय है कि वह अपनी निष्पक्ष प्रतिभा का परिचय दे। उसकी समस्त मान्यताए व निष्कर्ष पक्षपात रहित प्रतिभा की उज्ज्वलता से जाज्वल्यमान हो।

इस समस्त आकलन से मेरा तात्पर्य उस महान् भ्रम को उद्घाटित करना था जो पाश्चात्य विद्वानो द्वारा तथा उनके ही पदचिन्हो का अनुकरण करने वाले भारतीय मनीषियों द्वारा इस देश के विद्यालयो व विश्वविद्यालयो मे ज्ञान की आराधना मे निरत भारत के भावी कर्णधारो के अतिरिक्त शिक्षित वर्ग एवं सामान्य जनता के मस्तिष्क को दूषित करने के लिए फैलाया गया। यह भयावह भ्रम है—आर्यो का आदि देश सप्तसिन्धु न मानकर उसके लिए प्रचलित की गयी भिन्न-भिन्न धारणाएं। इस प्रश्न को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताओं की स्थापना के लिए अनुमान के आधार पर दूर-दूर की कौडी खोजने के प्रयास मे जो बुद्धि-विलास किया गया है वह यह स्पष्ट प्रमाणित

करता है कि मनुष्य सत्य के उद्घाटन में ही सक्षम नही, वह सत्य को तमसावृत करने मे तथा उसे अज्ञान के अनेक आच्छादनो से वेष्टित कर असत्य को सत्य के आवरण मे उपस्थित करने मे अधिक सशक्त है। किन्तु ज्ञान की यह अर्चना निश्चय ही चिन्ता का विषय है। आज से लगभग दो सौ या चार सौ वर्ष पूर्व भारत को छोडकर शायद ही कोई देश था जो अपने आपको आर्य नाम से अभिहित कर गौरव का अनुभव करता रहा हो। वे जानते तक न थे कि एक दिन वे भी आर्य बनकर न केवल उस जाति के आदि पुरुष के निकटतम वंशज होने का दम भरेंगे, बल्कि उसका आदि स्थान भी यहीं कहीं निश्चित कर देगे और वह देश जो राजनैतिक दृष्टिकोण से चाहे जैसा रहा हो पर धार्मिक दृष्टिकोण से हिमालय से कन्याकुमारी तक, हिन्दूकुश से बर्मा तक एक सगठित इकाई था तथा जिसके निवासी अपने को आर्य कहकर सप्त-सिन्धु प्रदेश पर सौजान निछावर थे, अब उसकी सन्तानें न केवल अपने को विदेशी समझने लगेगी, बल्कि अपने मे भी द्रविड, आर्य, मगोलियन, हब्शी आदि का वर्ग-भेद कर एक दूसरे से दूर जाने का उपक्रम करने लगेंगी, यह किसे ज्ञात था। विधि की विडम्बना विचित्र है।

सर विलियम जौन्स विश्व के प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होने यह घोषणा की थी कि योरप की पुरातन भाषाओ मे एव सस्कृत मे प्रकृति साम्य ही नही रूप साम्य भी है तथा इनका मूल उद्गम किसी एक मूल भाषा से हुआ है। परिणाम स्वरूप योरप मे सस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। उन्नत प्रतिभाओ के अपार भण्डार को एक ही स्थान पर (सस्कृत भाषा मे) प्राप्त कर पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खुली की खुली रह गई और वे वाणी के इन वरद पुत्रो के साथ न केवल भाषा का ही, बल्कि अपना सागोपाङ्ग सम्बन्ध स्थापित करने का लोभ संवरण न कर सके। अब यह अनुमान लगाया जाना प्रारम्भ हुआ कि इन भाषाओ के बोलने वालो के पूर्वज प्रारम्भ मे कही एक स्थान पर एक ही परिवार से सम्बन्धित हो, रहते रहे होगे। यही वह समय था जब भारत, ईरान, रूस का एक बहुत बडा भू-भाग, फारस तथा समग्र योरप अपने आपको आर्य एव उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ को आर्य-परिवार की भाषाएँ कहने लगा। इन भाषाओ के प्राचीनतम ग्रन्थो मे ऋग्वेद, अवेस्ता तथा ईलियड औडेसी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो मे भी ऋग्वेद प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इस प्रकार जब इतने बड़े भू-भाग से रहने वाले व्यक्ति अपने आपको आर्यो की सन्तान समझने लगें तो उनकी प्रतिभाएं अपने पूर्वजो के आदि स्थान का अनुसन्धान करने में व्यस्त हो गईं। किन्तु इन अनुसन्धाताओ के साथ दुर्भाग्य यह था कि इनमे से कतिपय विद्वान् रक्त की विशुद्धता के दम्भ से ग्रस्त थे, कुछ राजनैतिक

गरिमा के आवरण से आवृत थे। हाँ, एक वर्ग अवश्य ऐसा था जो शुद्ध ज्ञान की वृद्धि और सरस्वती के मन्दिर की पावन आराधना के लिए कार्य कर रहा था। इस वर्ग द्वारा प्रस्तुत विचार निःसन्देह विचारणीय है। प्रस्तुत निबन्ध मे सक्षेप से हम यह देखने का प्रयत्न करेगे कि क्या आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु प्रदेश है ? इससे पूर्व कि हम मूल विषय के विधेयात्मक पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए अग्रसर हो, यह जान लेना आवश्यक ही नही, अनिवार्य हो जाता है कि जो विद्वान् "आर्यों का आदि देश" भारत के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान को निश्चित करते है उनके आधारभूत सिद्धान्त क्या है ? यह इसलिए आवश्यक है कि किसी भी पक्ष मे किसी मान्यता को स्थापित करने के लिए उनके सभी पक्षो का अवलोकन करना पड़ेगा। यदि किसी एक पक्ष को ही आधार मानकर हम अग्रसर होगे तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम कह सकते है कि जान मे और अनजान मे हम किसी प्रकार की कट्टरता से ग्रस्त है। वह कट्टरता चाहे राजनैतिक हो चाहे सामाजिक, धार्मिक तथा किसी अन्य प्रकार की। इस समस्या के समाधानार्थ विद्वानो ने प्रधान रूप मे तीन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है— (१) प्रजाति का सिद्धान्त, (२) भाषा का सिद्धान्त (३) प्राचीनतम ग्रन्थो मे प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री तथा कुछ प्राचीन स्थानो की खुदाई इत्यादि मे प्राप्त उपादान।

सर्व प्रथम हम प्रजातिवाद पर विचार कर यह जानने का प्रयत्न करेगे कि इससे प्रस्तुत समस्या का समाधान कहाँ तक सम्भव है। विद्वानो का एक वर्ग है जो प्रजाति के सिद्धान्त के आधार पर इस समस्या की समीक्षा करता है। यह वर्ग विश्व के समस्त नर समुदाय को उसकी आकृति, गठन एव वर्ग के आधार पर कतिपय भागो मे विभाजित कर लेता है तथा फिर भूगोल की सहायता से जलवायु इत्यादि का अध्ययन करता हुआ किसी एक प्रजाति के लिए कोई एक भू-खण्ड निश्चित करने का प्रयास करता है तथा अन्य स्थानो पर प्राप्त उसी प्रकार के गठन वाले मानव समुदाय को एक ही वश का सिद्ध करने की चेष्टा करता है। वर्तमान समय मे यह सिद्धान्त धीरे-धीरे अपनी महत्ता खो रहा है, क्योकि यह सिद्धान्त वर्तमान समय के मानव शरीरो का अध्ययन करने के पश्चात् उनके पूर्वजो के लिए कतिपय मान्यताएँ निश्चित करता है जो पूर्णत अनुमान पर आधारित है अथवा भिन्न-भिन्न स्थानो की खुदाई इत्यादि मे प्राप्त किन्ही गिने चुने नर ककालो का परीक्षण कर उस आधार पर अपने सिद्धान्त का निर्माण करता है। परन्तु ये दोनो ही आधार दुर्बल है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री हावेल ने इस सम्बन्ध मे उचित ही कहा है :

"It is a fact that race conscious persons hold an image of racial types in their heads."[1]

अतः हम कह सकते है कि यह शास्त्र इस कार्य मे अपना किञ्चित् योगदान तो दे सकता है किन्तु मूल आधार नही बन सकता, क्योंकि मानव की आकृति, गठन एव वर्ण पर तद्देशीय जलवायु तथा अन्तर-रक्त-मिश्रण आदि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। दो वस्तुएँ मिलकर तीसरी नवीन वस्तु को जन्म देती है— यह रसायन शास्त्र का प्रमुख नियम है। अतः स्पष्ट है कि एक प्रदेश विशेष के व्यक्ति के दूसरे प्रदेश मे जा वसने पर उसकी कुछ पीढ़ियों के पश्चात् की पीढियाँ उस प्रदेश के लोगो की नस्ल मे मिलने जुलने लगती है। इसमे जलवायु के साथ-साथ भोजन की अल्पता तथा अधिकता का भी प्रभाव पडता है। उत्तर योरप के यहूदियो का इस आधार पर किया गया परीक्षण उक्त सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध करता है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री फ्रंज बाउस (Franj Bous) ने "शीर्ष देशना" पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि पूर्वी योरप के अमरीका मे जा वसे यहूदियो की शीर्ष देशना ८३.० थी। उनके पुत्रो एव पौत्रो की क्रमश ८१.४ तथा ७८.७ पाई गई।[2] अतः यह कहना कि अमुक जाति की नस्ल के लिए निश्चित सीमा यह है और जहाँ भी इस प्रकार की शारीरिक सीमा मे आवद्ध व्यक्ति मिलेंगे वे उस निश्चित नस्ल विशेष के होगे, गले नही उतरती। नृ-विज्ञान वेत्ताओ ने कपाल के अध्ययन के द्वारा जिसमे सव से कम परिवर्तन देखा गया है, उसकी तीन स्थितियाँ स्वीकार की है, (१) लम्बा कपाल, (२) मध्यम कपाल—(३) चौड़ा कपाल। इनकी नाप-जोख इस प्रकार स्थापित की गई—लम्बा कपाल ७४.९९ तक, मध्यम कपाल ७५.० से ७९.९९ तक, चौडा कपाल ८०.० से अधिक। इस सिद्धान्त पर यदि उक्त यहूदी परिवार का परीक्षण करे तो उसकी प्रथम पीढी चौडे कपाल के अन्तर्गत, द्वितीय पीढ़ी मध्यम कपाल की ओर अग्रसर होती हुई तथा तृतीय पीढ़ी मध्यम कपाल के अन्तर्गत आती है। यह अध्ययन यह भी सिद्ध करता है कि सम्भवतः उस परिवार की अगली पीढ़ियाँ लम्बे कपाल की ओर बढ गई हो तथा यदि यह परिवार अमरीका की अपेक्षा अफ्रीका अथवा एशिया मे जाता तो यह विकास सम्भवत भिन्न प्रकार का होता। अतः प्रजातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किसी एक नस्ल को अधिक मात्रा मे उस स्थान विशेष मे प्राप्त कर उसका मूल उद्गम भी उसी स्थान को मान लेना उचित नही, क्योंकि इगलैण्ड मे रहने वाले कितने ही भारतीय परिवार अब

---

1 Man in the Primitive World, p. 119.

2 General Anthropology, p. 115.

शारीरिक गठन मे, विशेषकर स्त्रियाँ अपने मूल परिवार से भिन्न दिखाई देती हैं, पर योरपियनों के समीपस्थ। इस प्रकार एक समय ऐसा आ सकता है जब कि वे योरप के लोगो के अधिक समीप और भारत के लोगो से आकृति की दृष्टि से बहुत दूर पड जाएँ। ऐसी स्थिति मे कोई नृ-विज्ञान वेत्ता प्रजाति के सिद्धान्त के आधार पर उस परिवार का मूल उद्‌गम योरप मे कही खोजने का प्रयास करे तो यह प्रयास उतना ही हास्यास्पद होगा जितना किसी वनस्पति-शास्त्र वेत्ता का नीम वृक्ष का उद्‌गम वट वृक्ष मे खोजने का प्रयत्न। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त मे भौगोलिकता और अल्पाधिक आहार-विहार अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। समान जलवायु में रहने वाले निवासियो की नस्ले समान हो सकती है पर वे एक ही वंश के भी हो, यह नही हो सकता। अतः केवल इसे आधार मानकर भारत के उत्तरी एव दक्षिणी भाग के लोगो को आर्य एव द्रविड़ दो प्रजातियो मे बाँट देना प्रजाति-वाद के सिद्धान्त के खोखलेपन का परिचय देना है। सम्भवतः इसी विचार से चिढ़कर स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—"अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्यो की एक खास प्रजाति थी जिसका नाम द्रविड था, जो दक्षिण भारत मे रहती थी और उत्तर भारत मे रहने वाली आर्य जाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत मे रहने वाले ब्राह्मण है, वे केवल वे ही थोड़े से आर्य है जो उत्तर भारत से दक्षिण को गए। दक्षिण भारत के बाकी लोगो की जाति और प्रजाति ब्राह्मणो की जाति और प्रजाति से सर्वथा भिन्न है। श्रीमान भाषा-शास्त्रीजी, आप क्षमा करेगे; ये सारी बाते निराधार है।"[3]

इस प्रजातिवाद की भावना ने मानव समाज मे घृणा का जो बीजारोपन किया है, वह अवश्य ही अत्यन्त चिन्तनीय है। इस सिद्धान्त को आधार मान कर कितने ही विद्वान् इन गौरांग महाप्रभुओ को सभ्यता का अग्रदूत मानने लगे। "शुद्धि वैभव के एक मात्र अधिकारी गौरांग ही है, कृष्णांग नही, इस विचार के प्रचार मे प्रजातिवाद के सिद्धान्त-मानने वाले यह भूल जाते है कि भारत के ही नही, विश्व के एक मात्र आराध्य, कर्मयोग सिद्धान्त के आविष्कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण कृष्णाग थे। कूटनीति के अप्रतिम पंडित आचार्य चाणक्य भी कृष्णाग थे, ऐसी किंवदन्तियां है। हिन्दुओ के प्रधान आराध्य देवाधिदेव विष्णु के लिए भी नील वर्ण की कल्पना की गई है। अत हम कह सकते है कि प्रजाति का यह सिद्धान्त किञ्चित् सत्य पर भी चाहे आधारित हो

---

[3] दी फ्यूचर ऑफ इण्डिया—स्वामी विवेकानन्द—"आजकल" मे श्री रामधारीसिह दिनकर द्वारा उद्‌धृत।

पर यह उद्‌जन एवं कोबाल्ट बमो की भाँति विध्वंसक होने के कारण सर्वथा गर्हित एवं परित्याज्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों की कोई एक निश्चित नस्ल कल्पित कर उसी के उपयुक्त जलवायु वाले प्रदेश की खोज कर उसे आर्यो के आदि स्थान का श्रेय देना सर्वथा अबौद्धिक एवं कुतर्क है। आज समस्त योरप जहाँ तक अपने को आर्य जाति से सम्बद्ध मानता है वहाँ तक हमें कोई आपत्ति नही, पर जहाँ वह अपनी आकृति-विशेष को मस्तिष्क मे रखकर उसके आधार पर एक प्रजाति का लक्षण निश्चित कर उसका आदि-स्थान वही कही योरप मे खोजने का जो प्रयास कर रहा है, वह व्यर्थ है। क्या यह सम्भव नही कि योरप आदि शीत प्रदेशों मे जो भिन्न-भिन्न नस्ले आईं, वे देश व काल के क्रम मे परिष्कृत होती हुई प्राय. पर्याप्त अंशों मे समान होती गईं और जो एक निश्चित नस्ल विशेष के व्यक्तियो का आधिक्य योरप मे पाया जाता है, वह भी अनेक भिन्न नस्लो का रासायनिक मिश्रण हो, जो अब आर्यो की एक नस्ल का लक्षण बनकर प्रफुल्लित हो रहा हो, अथवा इसे यो भी कहा जा सकता है कि हजारों वर्ष पहले जो आर्य परिवार भारत-वर्ष से जाकर योरप मे बस गया था, वह जलवायु की भिन्नता एवं अन्य समुदाय के मेल से अपने मूल परिवार से भिन्न पड़ गया और अब अवसर पाकर तथा राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर भारत के स्थान पर योरप को ही अपना आदि स्थान कहने मे गौरव का अनुभव करने लगा हो। भारत के लिए इसके अतिरिक्त अन्य पुष्ट प्रमाणो के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्यो का आदि स्थान भारत ही है। पुरातत्त्व शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित डॉ वी० के० घोष ने 'वैदिक एज' के तृतीय भाग मे एक स्थान पर लिखा है :

"In spite of all the evidence to the contrary India was the original home of the Aryans, for there is no definite proof of the existence of an Aryan race or language outside India, previous to the age of the Mohan-jo-daro culture." (The Vedic Age : Vol. I p. 202)

यद्यपि डॉ. घोष, जब तक मोहन-जो-दड़ो के समस्त रहस्यो का उद्‌घाटन नहीं हो जाता, तब तक पाश्चात्य मनीषियो द्वारा निर्धारित सिद्धान्तो के आधार पर इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि आर्य भारत मे बाहर से आये, पर आपके द्वारा लिखित इस अध्याय के अध्ययन से अन्त मे जो प्रभाव मस्तिष्क में तैरता-सा शेष रह जाता है, वह यह है कि घोष जी इसे पूरे दिल से सहमति प्रदान नही करते, जैसा कि अगले अनुच्छेद से स्पष्ट होता है :

"But why consider the Mohan-jo-daro civilization to be

the oldest traceable civilization of India ? What is there to prove that the Aryan culture of Rig-vedic India was not older than the culture represented by the ruins of Mohan jo-daro ?" (*Ibid.*)

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इस विचारधारा को अधिक स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यक्त किया है :

"यह बात किसी भी प्रकार वुद्धि मे नही आती है कि द्रविड एक समय सारे उत्तर भारत मे फैले हुए थे और आर्यो ने उन्हे इस प्रकार खदेड कर दक्षिण पहुँचा दिया कि उत्तर मे उनका कोई भी चिह्न वाकी नही रहा। उन दिनो लड़ाइयो मे जोश-खरोश या प्रतिशोध की भावना वहुत अधिक नही रहती होगी। यह वह समय था जव लोग वसने की जगह भर चाहते थे, वैठने की जगह भर मिल जाने पर धक्का-मुक्की तो चलती होगी, पर शत्रुता भयानक रूप धारण नही करती होगी और यदि यह माने कि आर्यों ने प्रतिशोध-पूर्वक द्रविडो को खदेड कर विन्ध्य के पार पहुँचा दिया होगा तो आरम्भिक आर्य साहित्य मे दक्षिण का उल्लेख क्यो नही मिलता ? वेद और व्राह्मण ग्रन्थ केवल सप्तसिन्धु का नाम लेकर रह जाते है। उसके वाद के साहित्य से व्रह्मावर्त का भूगोल समझा जा सकता है। मध्य देश का भूगोल कुछ और वाद को उभरता है। स्वयं पाणिनि (सातवी सदी ई० पू०) को दक्षिण का पता था या नही, यह सन्देह का विपय है।"

उपर्युक्त उद्धरणो के अध्ययन के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि आर्य लोग प्रारम्भ से ही पुण्य-सलिला पावन भारत-भू पर ही निवास करते थे। द्रविड़ शव्द देशज है जो तमिल का उद्वोधक है। तमिल संस्कृति के संस्थापक मुनिवर अगस्त्य थे, यह सर्व विदित है। अगस्त्य मुनि का समुद्र के साथ संघर्ष तथा आर्य जाति के अन्य ऋषियो के साथ मतभेद केवल लोक प्रचलित कथन ही नही, अपितु शास्त्र-सम्मत तथ्य है। अतः भाषा विभेद को लेकर द्रविड़ो और आर्यों को जो इसी भारत भूमि पर निवसित एक ही परिवार के सदस्य है, दो भिन्न-भिन्न प्रजातियो मे विभाजित कर देना पूर्णतः अशोभनीय है। यदि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता की स्थापना द्रविडों द्वारा हुई, जो आजकल एक पुष्ट मान्यता है, तो यह भी निश्चित है कि उक्त सभ्यता का सागोपाग अध्ययन यह भी निर्णय कर देगा कि इसमे आर्य सस्कृति का योगदान भी नगण्य नही है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने एक ऐसे वर्ग का जिक्र किया है जो आर्यों को ही मोहन-जो-दडो सभ्यता का निर्माता मानता है। मै इसे इस प्रकार स्पष्ट करना चाहता हूं कि द्रविड आर्यो की वैसी ही एक प्राचीन शाखा है जिस प्रकार आधुनिक समय मे हिन्दुओं के कवीर पन्थ, सिक्ख सम्प्रदाय, जैन तथा वौद्ध धर्म आदि। अत. प्रजाति के सिद्धान्त के आधार को मानकर किसी निश्चय

पर नही पहुँचा जा सकता । मेक्समूलर ने इसकी पुष्टि बड़े सशक्त शब्दो में की है ·

"Aryan, in scientific language is utterly inapplicable to race, it means language nothing but language."

अन्त मे इस सिद्धान्त के लिए हम कह सकते है कि प्रजाति का यह सिद्धान्त खोखला है । एक जैसी आकृति और गठन के दो व्यक्तियो को एक वश के सूत्र मे नही बाधा जा सकता और न ही भिन्न-भिन्न जलवायु के निवासियो को अनेक भागो मे बाटा जा सकता है । डॉ. एस के. चटर्जी ने ठीक ही कहा है :

"This view, adopted in official publications and accepted very largely both in India and outside India without any questioning, divided the people of India, quite arbitrarily, with both insufficient data and immature science (not wholly free, it might also be suspected from political bias), into seven broad groups."

(The Vedic Age : Vol. I, p. 141)

द्वितीय सिद्धान्त भाषा का सिद्धान्त है । सर विलियम जोन्स ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि सस्कृत भाषा तथा ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि योरप की भाषाओ का मूल उद्गम किसी एक स्रोत से ही हुआ है । इस आधार को लेकर विद्वानो ने विश्व के मानव समुदाय का पारिवारिक विभाजन भाषा के आधार पर करना आरम्भ किया । इस प्रकार भारत, ईराक, ईरान तथा योरप मे बोली जाने वाली भाषाओ को इण्डो-आर्यन वर्ग के अन्तर्गत रखा गया और इन भाषाओ के बोलने वालों को आर्य या आर्यों का वशज कहा जाने लगा । किन्तु इस पर इस सिद्धान्त की सृष्टि कर लेना कि इस भाषा परिवार को बोलने वाला जन-समुदाय आर्य है और एक ही वंश से सम्बद्ध है, मान्य नही हो सकता । यद्यपि आज उर्दू भाषा मूल रूप मे हिन्दी की आकृति और प्रकृति से पूर्णतया भिन्न नही है और वाक्यों की बनावट, सज्ञा, क्रिया आदि के प्रयोग प्राय· हिन्दी के अनुसार है तथापि किन्तु इस भाषा मे अरबी और फारसी के शब्दो को बहुतायत से सम्मिलित कर एक जाति विशेष ने इसे अपने भावो एव विचारो की अभिव्यक्ति का साधन बना लिया है । क्योकि यह भाषा विजेताओं के द्वारा अपनाई गई थी, अत. विजित भी इस प्रकार का प्रयोग करने लगे । कहने का तात्पर्य यह है कि अब भारत एव पाकिस्तान के समस्त मुसलमान (इनमे तुर्कों, अफगानो, अरबो एव मुगलो की सन्ताने सम्मिलित है) तथा उत्तर प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान के वे हिन्दू परिवार जिनके पूर्वज राजघरानो या मुसलमानो के सम्पर्क मे आये, प्रायः उर्दू भाषा का प्रयोग करते है । किन्तु उपरिकथित ये भाषा-प्रयोक्ता परिवार एक भाषा का तो प्रयोग करते है, परन्तु एक परिवार या वश से

आबद्ध नही है। इसी प्रकार संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भापाओ में साम्य है, अतः इनका उद्‌गम एक मूल भाषा से हुआ होगा, यहां तक तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु इसके साथ जो दूसरा प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि मूल भाषा के बोलने वाले जन भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे फैल गये और अपनी भाषा भी साथ ले गये। काल-क्रमानुसार चाहे इनकी भापाओ मे भिन्नता आ गई हो, परन्तु इन भाषाओं अथवा इनकी तद्‌भव भापाओ के बोलने वाले एक ही परिवार या वश के रहे होगे, नही माना जा सकता। स्पष्ट है कि जब कभी भी कोई विजेता अथवा व्यापारी-वर्ग (जैसे अग्रेज व्यापारियो का भारत आगमन) जहा कही जाता है, वहां अपनी भापा भी ले जाता है। उसका वहाँ के निवासियो पर प्रभाव पडता है। स्थिति यहा तक पहुंच जाती है कि वहा के समस्त निवासी (यदि अल्प हो, जैसा कि आदि मे था भी) उसी भाषा का प्रयोग करने लग जाते है। तत्पश्चात् उनकी आने वाली सन्ततिया उसे ही अपनी मातृभाषा मानकर अपना लेती है। इस प्रकार वह भाषा उनके जीवन मे इतनी घुल-मिल जाती है कि उसे पृथक् नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे एक प्रदेश विशेष के निवासियो की भापा के आधार पर विजेता के वश का कहना उपहासास्पद ही होगा। अंग्रेजी शासन काल के इस प्रकार कितने ही उदाहरण भारत, अफ़्रीका, अमरीका तथा अन्य एशियाई देशो से प्रस्तुत किए जा सकते है। भारत की आदिम नागा आदि जातियाँ केरल एवं दक्षिण की अन्य ऐसी जातियाँ है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आग्ल भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करती है जिस प्रकार इग्लैण्ड आदि देशो के निवासी। परन्तु भाषा का इस प्रकार प्रयोग करने पर भी ये जातियाँ अग्रेजी जाति की वशज नही कही जा सकती। अत॰ भाषा को ध्यान मे रखते हुए भी इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना पडेगा कि योरप की इतनी बडी जन-सख्या आर्य परिवार की भाषा का प्रयोग करते हुए भी आर्य-जाति की वशज है अथवा नही। क्या यह सम्भव नही कि भापा का यह प्रयोग उसी प्रकार प्रारम्भ हुआ, जिस प्रकार भारत की आदिम जातियो मे अग्रेजी का और चीन, जापान, लंका, कोरिया आदि मे बौद्ध धर्म का तथा योरप के एक बहुत बड़े भू-भाग पर, मध्य एशिया, एशिया माइनर तथा भारत मे इस्लाम धर्म का प्रचार। एक धर्म, एक भापा, होने पर भी क्रमश. ईराक, ईरान के निवासी अरब वालो के वशज नही हो सकते और भारत की आदिम जातियाँ अग्रेजो की नही। अतः भापा को आधार मानकर तथा यह तर्क देकर कि आर्य परिवार की भापाओ का प्रयोग करने वाली एक बहुत बड़ी जन-सख्या, क्योकि योरप मे रहती है, अत॰ आर्यो का मूल स्थान भी यही कही योरप मे रहा होगा, कहना ऐसा ही हास्यास्पद होगा जैसा किसी अपरिपक्व बुद्धि वाले विद्वान् का यह कहना है कि क्योकि

विश्व मे बौद्ध धर्म के मानने वाले सबसे बडी संख्या में चीन मे पाये जाते है, अतः बौद्ध धर्म का प्रणेता भी यही कही चीन मे ही उत्पन्न हुआ होगा ।

जब से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ हुआ है, उक्त मत बहुत अधिक मात्रा मे शक्ति ग्रहण करता जा रहा है । यद्यपि प्रारम्भ मे जब योरप के विद्वानो का सम्पर्क सस्कृत भाषा से हुआ था तब सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि आर्य परिवार की सबसे प्राचीन भाषा, जिसमे मूल योरपीय परिवार की ध्वनिया सुरक्षित हैं तथा जो मूल भाषा के सबसे अधिक निकट है, संस्कृत है, परन्तु जब धीरे-धीरे योरप के विद्वानों ने विशेषकर जर्मन और फ्रेंच विद्वानो ने अपनी भाषाओ का—ग्रीक लैटिन, गाथिक, जर्मन तथा फ्रेंच—तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्हे कुछ ऐसे मूलभूत परिवर्तन के नियम दिखाई पडे, जिनके आधार पर ग्रीक, लैटिन, ट्युटेनिक आदि भाषाओ से उच्च जर्मन, इटालियन तथा अग्रेजी आदि भाषाओ ने विकास प्राप्त किया । इन्ही नियमो के आधार पर उन विद्वानो ने सस्कृत पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल ली तथा उक्त नियमो को पुष्ट करने वाले कतिपय शब्दो का चयन भी उसमे कर लिया और एक ऐसी भाषा की कल्पना की जिसमे वैदिक सस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ का उद्गम हुआ होगा, ऐसा माना जाने लगा । किन्तु इसमे सबसे बडी त्रुटि जो मैं समझता हू वह यह रह गई कि उपरिकथित विद्वानो का जितना सशक्त अधिकार योरप की मुख्य-मुख्य भाषाओ पर था उतना भारत की सभी भाषाओं पर तो क्या, स्वयं वैदिक संस्कृत पर भी नही रहा होगा । दूसरे वैदिक संस्कृत की ध्वनियो के सही उच्चारण के लिए ग्रथ उपलब्ध होते हुए भी सस्कृत के उन प्रकाण्ड विद्वानो का सहयोग परम आवश्यक था जो गौ-मासभक्षी अग्रेजों को हेय दृष्टि से देखते थे तथा अग्रेज जिन्हे पोगा-पथी "बैकवार्ड फुलिश" कहकर जिनका उपहास करते थे । ऐसी स्थिति मे योरप के विद्वानो ने वैदिक सस्कृत का अध्ययन या तो उपलब्ध ग्रथो के आधार पर किया था या ऐसे गुरुजनो की सेवा मे समर्पण किया जो स्वय सस्कृत के मध्यम श्रेणी के विद्वान् थे और उच्च श्रेणी के विद्वानो के बीच बैठने के उपयुक्त न होने के कारण उनके प्रति प्रतिकार की भावना से भरकर अग्रेजो को संस्कृत पढाने लगे । सर विलियम जोन्स के जीवन की घटना ही इसका उदाहरण है । बिना योग्य गुरु के उपलब्ध ग्रथो के आधार पर किया गया अध्ययन वैसा ही पल्लवग्राही ज्ञान है जैसा आजकल के प्राइवेट रूप से परीक्षा मे सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियो का । दूसरी ओर भारतीय भाषा वैज्ञानिको का अध्ययन, मुख्य रूप से, अग्रेजी भाषा तक ही सीमित है और उनके द्वारा लिखी गई अधिकतर पुस्तके अग्रेजी भाषा मे लिखी गई पुस्तको का अनुवाद अथवा रूपान्तर मात्र है । इन दिनो

हिन्दी मे लिखित पुस्तको तथा कतिपय आंग्ल भाषा मे लिखी गई इस विषय की पुस्तको को पढने का अवसर मिला, तव कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि हिन्दी ग्रथों में प्राय: उन्ही उदाहरणों से काम चला लिया गया है जिनका प्रयोग प्राय: अग्रेजी ग्रथों मे पाया जाता है। स्वयं यह अनुसन्धान करने का प्रयत्न नही किया गया है कि क्या इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी भारतीय भाषाओ मे उपलब्ध है और यदि उपलब्ध है तो कितनी मात्रा मे ? क्या इन नियमों के अपवाद है ? यदि है तो उनकी मात्रा कितनी है ? तीसरे, जिस प्रकार विकास को दृप्टि मे रखकर योरपीय परिवार की मूल भाषा की कल्पना की गई है, क्या वह वैदिक संस्कृत या लौकिक सस्कृत के अनुरूप है ? भारत मे भाषाओ के विकास मे मुख्य रूप से कौन-कौन से नियम सक्रिय रहे है—आदि समस्त तत्वो को दृष्टि में रखकर ही हमे ग्रिम-नियम, ग्रासमान, वर्नर तथा तालव्य-भाव के नियम को स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए, अन्यथा नही। भारतीय विद्वानो ने सम्भवत. ऐसा कष्ट नही उठाया। यदि उठाया होता तो निश्चय ही इन नियमो की विवेचना किसी ग्रंथ मे उपलब्घ होती, जो कि नही मिल सकी।

मैं भाषा विज्ञान के इस अन्तिम नियम पर कुछ अपने विचार प्रकट कर मूल विषय पर आने का प्रयत्न करूँगा। आजकल योरपीय परिवार के लिए सवसे प्रभावशाली नियम 'तालव्य भाव का नियम' माना जाता है, जिसके अनुसार—भारत योरपीय मूलभाषा के कण्ठ स्थानीय स्पर्श (मूल कण्ठ स्थानीय तथा साघारण) जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (इ, ई आदि) आने पर, भारत-ईरानी भाषा वर्ग मे तालव्य व्यञ्जन के रूप मे परिवर्तित हो गये और जहाँ ऐसा नही था वहाँ साधारण कण्ठ स्थानीय स्पर्श ही रहे।

उक्त नियम की विवेचना मे यह कहा गया है कि ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ के साथ उन स्थलो की तुलना करने से प्रतीत हुआ कि जहाँ-जहाँ उक्त स्थलो मे सस्कृत मे तालव्य व्यञ्जन पाया जाता है वहाँ-वहाँ ग्रीक और लैटिन भाषाओ मे 'इ, ई' आदि कोई तालव्य स्वर (मूल या साधारण) कण्ठ्य स्पर्श के आगे पाया जाता है। इससे यही समझा गया कि भारत योरपीय मूलभापा के तालव्य स्वर से पूर्व मे आने वाले कण्ठ स्थानीय स्पर्श के स्थान मे तालव्य व्यञ्जन हो जाता है। परन्तु संस्कृत शब्दो मे ऐसे स्थलो मे तालव्य व्यञ्जन के आगे जहाँ तालव्य स्वर 'इ, ई' होना चाहिए, वहाँ 'अ' ही देखा जाता है। इससे यह अनुमान किया गया कि संस्कृत मे उन शब्दों मे कण्ठ्य स्पर्श के स्थान में तालव्य व्यञ्जन के पाये जाने का कारण केवल मौलिक शब्दो में उस स्पर्श के आगे आने वाला तालव्य-स्वर ही हो सकता है। साथ ही इसका यह अर्थ होता है कि हमको मानना चाहिए कि मौलिक भाषा के मूल स्वरो को

जहाँ ग्रीक और लैटिन ने अपने-अपने रूप में सुरक्षित रखा, वहाँ सस्कृत में उन सब को केवल 'अ' के ही रूप मे रखा है।

यदि कोई भारतीय विद्वान् इस नियम की स्थापना करता तो शायद इस प्रकार करता कि वैदिक सस्कृत मे जहाँ तालव्य व्यञ्जन के साथ 'अ' पाया जाता है, वहाँ उसका विकास ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ मे दो रूपो मे विकसित हुआ। कही यह उच्चारण मध्य मे होने के कारण आगे फिसल कर दन्त्य हो गया और पीछे फिसल कर यह कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श। इस प्रकार 'अ', 'ए' (इ, ई, E) के रूप मे विकसित हो गया। भारतीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक स्थानो पर 'अ' सस्कृत ध्वनि, 'ए, ओ, तथा अ' मे विकसित हुई मिलती है। इस प्रकार मूल योरपीय भाषा की कल्पना मे जो च वर्ग का अभाव है, वह कल्पनाकर्ताओ के मस्तिष्क में योरपीय भाषाओ की ध्वनियाँ ही कार्य कर रही थी। अत. इस सिद्धान्त का नाम भी "तालव्य भाव का नियम" रखा जा सकता है। किन्तु इसकी व्याख्या के अनुसार मूल योरपीय भाषा मे "च वर्ग" की कल्पना करनी पड़ेगी तथा 'अ, ए, ओ' को मूल स्वर मानने के स्थान पर केवल 'अ' ध्वनि को ही मूल ध्वनि मानना पड़ेगा। शेष ध्वनियाँ, 'अ' ध्वनि की ही विकसित रूप होगी।

उपर्युक्त नियमो को उदाहरणो से इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है—

संस्कृत	**ग्रीक**	**लैटिन**	**संस्कृत**	**पालि**	**हिन्दी**
च	Te	que	वाच्	वाक्	वाक्
पञ्च	Pente	quinque	रुज्	रोग	रोग
चिद्	Ti	quid	वणिज्	वणिक्	बनिया

यदि मूल 'तालव्य भाव' के नियम की हम यहाँ पर आलोचना करे तो ज्ञात होगा कि ये मूल योरपीय भाषा के कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श संस्कृत मे तो तालव्य स्थानीय हो जाते है, क्योकि E तालव्य स्वर का प्रभाव है, पर ग्रीक मे यह दन्त्य क्यो हो जाते है, इसका कोई उत्तर नही; जब कि हमारा सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि जिह्वा का फिसलन ही ध्वनि-उच्चारण का परिवर्तन है। तालव्य ध्वनियाँ कण्ठ्य ध्वनियो और दन्त्य ध्वनियो के मध्य मे पडती हैं। अतः कुछ भाषाओ मे ये पीछे को खिसक गई है और कुछ मे आगे की ओर। यह क्रम ग्रीक मे आगे की ओर है तथा लैटिन मे पीछे की ओर।

अब थोड़ा स्वरो पर और विचार कर लेना चाहिए। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक सस्कृत की "अ" ध्वनि योरपीय भाषा परिवार में

तथा इनकी तद्भव भाषाओ मे 'अ, ए, ओ' के रूप में मिलती है। अतः "अ" ध्वनि ही मूल ध्वनि है।

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अवेस्ता	पालि	मागधी
अजामि	अगो	अगो	अजामि	—	—
अस्ति	एस्ति	एस्त्	अस्ति/अस्त	अत्थि	अत्ति
धर्मः	—	—	—	धम्मो	धम्मे
दम'	डोमोस	डोमुस	—	—	—
फल्गु	—	—	—	फेग्गु	—
अत्र	—	—	—	एत्थ	—
जन.	गेनोस	गेनस	—	—	जने
प्रियः	—	—	—	—	पिये

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि योरप के भाषा वैज्ञानिको ने अनेक स्थानो पर जिन्हे मूल स्वर और मूल व्यञ्जन मानकर मूल योरपीय भाषा की कल्पना की है, वे ही रूप हमे पालि और प्राकृत मे संस्कृत की मूल ध्वनियो के विकसित रूप मे प्राप्त होते है। जैसे अइ, आई, अऊ, आऊ आदि। इसी प्रकार संस्कृत की 'य' ध्वनि के स्थान पर समस्त योरपीय परिवार मे 'ज या ज़' पाया जाता है। अतः मूल ध्वनि 'ज' न होकर 'य' ही माननी पड़ेगी। यथा—

संस्कृत	ग्रीक	अवेस्ता	हिन्दी
द्यौस्	ज्यूस	—	—
द्यौमित्र	जूपीटर	—	—
यज्ञ	—	यजन्	जग्य
´यम	—	जम	जम

इस सम्पूर्ण आकलन से मेरा तात्पर्य यह है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से योरपीय परिवार की भाषाओ मे वै० सस्कृत यदि सब की जननी नही तो ज्येष्ठा अवश्य है और यदि मूल भाषा की कल्पना की ही जाये तो सस्कृत अन्य भाषाओ की अपेक्षा उसके समीपस्थ होगी। अतः इस दृष्टिकोण से आर्यो का मूल स्थान भारत ही सम्भव है, योरप नही। इसके लिए एक यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि पूर्व काल मे विशेषकर 'ऋग्वैदिक आर्य' भाषा की शुद्धता पर सबसे अधिक बल देते थे। भाषा की शुद्धता के प्रति इस प्रकार के मोह के उदाहरण योरपीय परिवार की अन्य भाषाओ मे उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों मे नही मिलते, जैसे कि वैदिक संस्कृत मे। वेदो के पद पाठ, स्वर पाठ तथा जटा पाठ, इत्यादि इसके ज्वलन्त प्रमाण है। साथ ही

'शतपथ' ब्राह्मण में भाषा के अशुद्ध उच्चारण करने वालों को असुर कहा गया है और उनके भाग जाने का उल्लेख भी मिलता है। यथा—

ते असुरा आत्तवचसो, हे अलवो ! हे अलव ! इति वदन्तः पराबभूवुः तस्मान्न ब्राह्मण म्लेच्छेत्। असुर्या हि एषा वाक्। (वे असुर, हे अलव ! हे अलव ! ऐसा कहते हुए हार गए। इसलिए ब्राह्मण म्लेच्छता न करे (अशुद्ध उच्चारण न करे) ऐसी वाणी आसुरी होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत के वे आर्य परिवार जो भाषा के शुद्ध उच्चारण करने मे असमर्थ थे, वे भारत छोडकर ईरान की ओर चले गए और वहाँ पर उन्होने विरोधी धर्म, असुर-धर्म की स्थापना की। जरथुष्ट्र उसका धार्मिक नेता और वृत्रासुर उस धर्म के पालक नेता बने। इन्द्र और वृत्रासुर के युद्धो के आख्यानो से ऋग्वेद भरा पडा है। ईरान से भारत मे आर्यों का आगमन (जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं) इसलिए युक्तिसंगत नही लगता कि वह युग भाषा की शुद्धता पर पूर्ण ध्यान देने वाला युग था तथा वे ही व्यक्ति सत्ताधारी हो सकते थे जो भाषा और धर्म की दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध होते थे। इससे यह निष्कर्ष निकला, क्योकि शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थान को कभी भी छोड़कर नही भागता, बल्कि दुर्बल और शक्तिहीन ही ऐसा करते हैं। इसलिए आर्यों का वह वर्ग जो भाषा के अशुद्ध उच्चारण के कारण बहुसख्यक जनता का सहयोग न पाकर निर्बलता अनुभव कर रहा था, भारत छोड़कर ईरान की ओर चला गया अथवा उसे सत्ताधारी वर्ग ने ईरान की ओर खदेड़ दिया, दूसरे, आर्यों ने जिन शब्दो को अशुद्ध शब्दो के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है वे ही शब्द या तो यो के यो या कुछ परिवर्तन के साथ अवेस्तन भाषा तथा ग्रीक, लैटिन आदि मे उपलब्ध होते है। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि आर्यों का जो वर्ग भाषा की सुरक्षा न कर सका, भारत छोड अन्य स्थानो की ओर फैलता चला गया। इतना होने पर भी जब आर्य-ऋषि भाषा के इस स्वाभाविक विकास को न रोक सके तो धीरे-धीरे इनकी कट्टरता भी कम होती चली गई और भगवान् बुद्ध ने तो अपने धर्म का उपदेश भी पालि (अशुद्ध भाषा, आर्यों के शब्दों मे) भाषा मे देकर इस कट्टरता की जडे हिला दी। अतः भाषा के दृष्टिकोण से भी यही सिद्ध होता है कि भारत और योरप के मूल जन चाहे साथ-साथ न रहे हो पर भारत और ईरान के आर्यो मे प्रेम और सघर्ष दोनों रहे है तथा मूल रूप में वे एक वश से ही सम्बद्ध थे। परन्तु भाषा की शुद्धता और अशुद्धता के क्रमश दो प्रतीक सुर और असुर इस परिवार के सघर्ष के कारण बने। उक्त विवेचन से यह तो सिद्ध हो ही गया कि ईरान ईराक आदि स्थानो मे बसे आर्य भारत से गए। साथ ही, ग्रीस का इतिहास पर्शिया और ग्रीस के जिन सघर्षो का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, कालक्रम के अनुसार वैदिक

युग के बाद के पड़ते है। अत· निश्चित है, ग्रीस और रोम मे फैले हुए आर्य भारत से नही, वल्कि उसकी ईरानी शाखा से निकल कर फैले है, क्योकि ग्रीस सभ्यता का भारतीय सभ्यता की अपेक्षा अवेस्तन सभ्यता से अधिक साम्य है।

तृतीय सिद्धान्त है प्राचीनतम उपलब्ध धर्म-ग्रन्थ और खुदाई इत्यादि मे प्राप्त उपादान सामग्री मे निहित संकेत, जिनके आधार पर आर्यो के मूल निवास स्थान का अनुमान लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त ग्रन्थो के अध्ययन के फल स्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय आर्य, भारत मे किसी अन्य स्थान से आए जो मध्य एशिया, एशिया माईनर या योरप में कोई भूखण्ड हो सकता है। उसके लिये मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ स्थापित की गईं।

(१) ऋग्वेद मे कुछ ऐसी नदियों और स्थलों के नाम आते हैं जिनका अस्तित्व वर्तमान भारत मे नही है। हाँ! कुछ नाम ईरान मे अवश्य प्राप्त होते है। अतः आर्य ईरान से भारत आए। इसी प्रकार अवेस्ता में अहूरमज्द ने आर्यों के निवास योग्य जिन-जिन प्रदेशों का वर्णन किया है उनमे सप्तसिन्धु का पन्द्रहवाँ स्थान है। अत यह सिद्ध होता है कि भारत मे आने से पूर्व आर्य अन्य चौदह प्रदेशो का भ्रमण कर चुके थे। अतः सप्तसिन्धु उनका मूल उद्‌गम स्थल नही हो सकता।

(२) ऋग्वेद दस्युराज शम्वर एवं उसके अनुयायियो तथा इन्द्र एव उसके प्रशंसको के पारस्परिक संघर्ष के वर्णनो से भरा पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यो के भारत प्रवेश करने से पूर्व यहाँ कोई अन्य जाति रहती थी, जिन्हें आर्यों ने दस्यु, दास एव शूद्र के नाम से अभिहित किया। इस प्रकार भारत मे शान्तिपूर्वक बसने के लिये आर्यो को इन आदि-वासियो के साथ कडा लोहा लेना पडा था। यह भी इनका कही वाहर से आना सिद्ध करता है।

(३) वेदों मे विशेषकर ऋग्वेद मे उषा के सौन्दर्य वर्णन तथा उषाकाल मे करणीय कृत्यों के विस्तृत विधान से यह ज्ञात होता है कि आर्य लोग स्मृति रूप में उस प्रदेश की उषा का वर्णन करते हैं जहाँ की रात्रियाँ लम्बी होती है। क्योंकि सप्तसिन्धु की न तो रात्रियाँ ही लम्बी होती है और न ही दीर्घ उषा-काल ही। अतः स्पष्ट ही आर्य कही वाहर से आए और साथ ही उस प्रदेश की लम्बी रात्रियो की स्मृति भी लाए।

उपर्युक्त मान्यताओं का यदि गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये मान्यताएं केवल अनुमान प्रसूत हैं। यह तो स्वय सिद्ध है कि अनुमान से प्रत्यक्ष अधिक सवल होता है। जव हमारे पास ऐसे कितने ही प्रत्यक्ष प्रमाण है जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्यो का मूल निवास स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश ही है, कोई अन्य स्थान नही; फिर हमे यह

अनुमान करने की क्या आवश्यकता है कि आर्यो का आदि देश क्या है ? यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई व्यक्ति अपने ही घर मे उपस्थित है और वहाँ पर भी यह अनुमान कोई विद्वान् लगाये कि यह अपने घर मे उपस्थित है भी अथवा नही । यह केवल बुद्धि का विलास एवं दूर की कौडी लाने का प्रयास मात्र है ।

अव हम उपरिकथित मान्यताओ में से प्रथम का अवलोकन करते है । यद्यपि ऋग्वेद मे कुछ ऐसी नदियो एव स्थानो का नामोल्लेख है जिनका अस्तित्व या तो भारत (वर्तमान) मे था ही नही और यदि था भी तो वह विस्मृति के गर्त मे लीन हो गया । यथा—कुभा, रसा आदि । परन्तु विद्वानो के अनुसन्धान-परक अध्ययन ने यह वताया है कि इन दोनो नदियो की स्थिति कावुल मे देखी जा सकती है, जो पजाव की ओर वहती है तथा यह भी सिद्ध हो गया है कि सप्तसिन्धु प्रदेश मे उस समय वर्तमान पजाव ही नही कावुल, पेशावर से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी मे बसे प्रदेश तथा कश्मीर भी सम्मिलित थे । ऋग्वेद मे इस प्रकार का सकेत मिलता है । यथा—'रोमशा गान्धारीणामिवाविका' यहाँ पर गान्धार की भेडो कीं भाँति रोएँ वाली उपमा देना, ऋग्वैदिक आर्यो के गान्धार प्रदेश के ज्ञान का सूचक है । अतः कुछ विद्वानो का कुभा, रसा आदि नदियो की स्थिति ईरान मे कही खोजना उचित नही । यदि इन नामो वाली नदियाँ वहाँ पर वर्तमान भी है तो इससे यह अर्थ नही निकलता कि ऋग्वैदिक आर्य यह नाम वहाँ से लेकर आए थे । वल्कि यो कहना चाहिये कि भारत से ईरान को जाने वाला आर्यो का असुर पूजक वर्ग अपने साथ यहाँ की भाषा ले गया और स्मृति रूप मे वहाँ की नदियो का नामकरण संस्कार इसी भाषा मे जाने पहचाने नामो के आधार पर कर लिया । यह मान्यता भारतीय आर्यो पर इसलिए भी लागू नही हो सकती कि 'ऋग्वेद', ईरान आदि प्रदेशो के सम्वन्ध मे सर्वथा मौन है, जब कि 'अवेस्ता' सप्तसिन्धु का स्पष्ट उल्लेख करता है । यथा—'जिस पन्द्रहवे देश को मैंने उत्पन्न किया है वह 'हप्तहिन्दु' था । ('अवेस्ता वेन्दिदाद प्रथम फर्गर्द, अनुवाद—श्री सम्पूर्णानन्द कृत 'आर्यो का आदि देश', पृष्ठ ४६) ।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का सम्वन्ध है, उसका उत्तर यही है कि आर्यो एव दस्युओ के सघर्ष का वर्णन तो वेदो मे मिलता है, पर यह उल्लेख कहाँ पर मिलता है कि आर्यो ने कही वाहर से आकर भारत मे प्रवेश किया और यहाँ उन्हें इस देश के आदिवासियो से लोहा लेना पड़ा । एक वड़े भूभाग मे दो आदिम जातियाँ भी बस सकती है । जव वे दोनो एक दूसरे के सम्पर्क मे आएँगी तो उनमे प्रेम और संघर्ष दोनो ही सम्भव है । इन दोनो जातियो मे प्रारम्भ मे संघर्ष और वाद मे कुछ प्रेम के लक्षण भी मिलते है । महर्षि

विश्वामित्र का शम्बर कन्या से परिणय ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। महर्षि विश्वामित्र वैदिक ऋषियों मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है तथा शाम्वरी और विश्वामित्र से उत्पन्न ऋषिवर 'शुन:-शेप' भी आदर के पात्र रहे है। अत: बिना किसी पुष्ट प्रमाण के केवल अनुमान के आधार पर हम यह कहें कि आर्यों का दस्युओं के साथ संघर्ष का उल्लेख वेदों में मिलता है, अत: आर्य बाहर से आए, कोई तर्क संगत नही। इस विचार का अध्ययन इस प्रकार भी समीचीन होगा कि आदिकाल मे आर्य सप्तसिन्धु मे निवास करते थे और दस्युजन भी सिन्धु नदी के इधर-उधर घने जगलो मे निवास करते थे, जैसा कि श्री के० एम० मुन्शी के 'लोपामुद्रा' उपन्यास मे ध्वनित होता है। अत: आर्यों का दस्युओं के साथ सघर्ष, विशेषकर शम्बरराज के साथ, नवागन्तुक जाति का जैसा संघर्ष नही लगता, वल्कि यह लगता है कि दोनो ही जातियाँ प्राय: अपने आपको भली प्रकार उस प्रदेश मे बसाये हुई है। इन जातियो का सघर्ष भी प्राय: भूमि या राज्य-स्थापन के लिए नही, बल्कि धार्मिक विरोध के परिणाम-स्वरूप होता रहा है। इसकी पुष्टि मे ऋग्वेद मे पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते है। यथा—"अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुष:। त्व तस्या मित्र-हन्वधर्दासस्य दम्भय"।[4] कुछ स्थल तो ऐसे आते है जिनसे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यो के अतिरिक्त सप्तसिन्धु मे बसने वाली जाति ही दस्यु नाम से अभिहित नही होती थी, बल्कि वे आर्य भी जो यज्ञादि कार्यों के प्रति उदासीन से थे, दस्यु कहलाते थे। यथा—'अयमेमि वचाकशद्वि-चिन्वन्दासमार्यम्' तथा 'न यो रर आर्यन्नामदस्यवे'। इसीलिए म्योर और राथ ने लिखा है—"दस्यु शब्द का प्रयोग स्यात् ही अनार्यो के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है"। इस विचार को शत प्रतिशत तो सत्य नही माना जा सकता है, किन्तु सशोधित रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'दस्यु-वर्ग' मे आर्येतर जातियाँ ही नही आती, वल्कि वे आर्यजन भी आते है जो आर्य-धर्म के प्रति उदासीन थे।

तृतीय सिद्धान्त का तृतीय मत अपना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी स्थापना महात्मा तिलक ने की थी। आपके अनुसार आर्य उत्तरी ध्रुव के पास निवास करते थे, जहाँ छ: महीने की राते होती थी। क्योकि उषा का वर्णन तथा उषाकालीन करणीय कृत्यो का वर्णन यह सिद्ध करता है कि भारत के अल्प सामयिक उषाकाल मे उन समस्त कृत्यो की यथाविधि सम्पन्नता नितान्त मुश्किल है। अत: निश्चय ही 'आर्य' प्रारम्भ मे किसी ऐसे स्थान पर रहते थे जहाँ का उषाकाल दीर्घ सामयिक हो। वह स्थान उत्तरी

---

4 ऋग्वेद, १०/२२,८।

ध्रुव के अतिरिक्त कोई अन्य स्थान नहीं हो सकता। इस मान्यता के विरोध मे श्री अविनाशचन्द्र दास तथा डॉ. संपूर्णानन्द ने बहुत कुछ लिखा है। उन सबकी पुनरावृत्ति यहाँ पर अपेक्षित नही है। मेरा इस मत के विरुद्ध केवल मात्र यह तर्क है कि आर्य लोग जब छः महीने की रात्रि वाले प्रदेश को छोड़कर १२ घटे की रात्रि वाले प्रदेश में आये होंगे तब निश्चित ही उनके शरीर और मन पर नवीन जलवायु एवं लघु रात्रि-दिवसों का दुष्प्रभाव पडा होगा और उन्हे अत्यधिक आश्चर्य हुआ होगा कि सूर्य इतना शीघ्र किस प्रकार उदित हो रहा है। किन्तु आर्यों के किसी भी प्रकार के दुःख एव आश्चर्य की स्पष्ट एवं अस्पष्ट अभिव्यंजना ऋग्वेद मे तथा तत्सामयिक किसी अन्य उपलब्ध ग्रन्थ में प्राप्त नही होती। यदि आज हम १२ घटे की रात्रि वाले प्रदेश के निवासी आर्यो की अनुमानित रात्रि की तुलना मे ४ मिनट की रात्रि वाले प्रदेश मे पहुँच जाएँ (यदि कही है तो) तो हमारी अर्धाधिक जनसंख्या पूर्णनिद्रा प्राप्ति के अभाव मे—जिसके हम आदी हो चुके है—मर जायेगी। शेप जनसंख्या की शिथिल एवं रुग्णप्राय हो जाने की सम्भावना की जा सकती है। यद्यपि यह निश्चित है कि लम्बी रात्रि वाले प्रदेश के निवासी भी अति दीर्घ समय तक शयन नही करते होंगे। यह भी सम्भव है कि रात्रि मे भी उनके कार्य यथा व्यवस्था चलते हो, परन्तु यह तो एक अकाट्य तथ्य है कि उनकी जीवनचर्या २४ घटे की रात्रि और दिवस वाले प्रदेश की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रही होगी। फिर भी आर्यो के तत्कालीन साहित्य मे इस परिवर्तित जीवन-चर्या का किसी भी प्रकार का कोई सकेत क्यो नही प्राप्त होता? रुग्ण एव शिथिल होने की अपेक्षा आर्यों का भारत प्रवेश करते ही (जैसा उक्त मता-नुयायी मानते है) दस्युओ एवं शूद्रो से सघर्ष, उनकी शारीरिक पुष्टता एव सुस्वस्थता की सूचना देता है। अत. इस प्रकार तो आरोग्यशास्त्र के सिद्धान्त भी फेल हो जाते है जो निद्रा एव आराम आदि पर अपना निर्णय देते है। दूसरे यह भी मान्य नही है कि आर्यों की स्मृति मे ही कोई त्रुटि थी कि वे प्राचीन वार्ताओ को तो स्मरण रखने मे समर्थ और सद्य. घटित घटनाओ को भूल जाते थे या उनका वर्णन करना आवश्यक नही समझते थे। जहाँ वे उषाकाल के विस्तृत रूप एव दीर्घकालीन स्थिति का निरूपण उत्तरी ध्रुव प्रदेश की स्मृति मे करते है तो इसी के समानान्तर छोटे दिनो एव रात्रियो के प्रति आश्चर्य प्रकट करने मे मौन क्यो है? अत स्व० तिलक जी के द्वारा इस सन्दर्भ मे उद्धृत ऋचाओ का एव प्रसगो का निश्चय ही कोई भिन्न अर्थ होना चाहिए, जो सप्तसिन्धु प्रदेश के अनुरूप हो, अन्यथा विधेयात्मक युक्ति के अभाव मे इसकी सिद्धि अपूर्ण एवं असफल सी ही रहेगी। यदि हम यह माने कि 'तिलक जी' द्वारा उद्धृत ऋचाओ की रचना तो उत्तरी-ध्रुव प्रदेश मे

हो चुकी थी और आर्यो के भारत मे प्रवेश करने में अनेक वर्ष लगे और रात्रियों के छोटे होने का क्रम एकदम नही, धीरे-धीरे आर्यो को अनुभव हुआ। अतः वे आश्चर्यचकित नही हुए, तो दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तरी-ध्रुव से लेकर भारत तक आने के बीच मे आर्यो ने जो अनुभव प्राप्त किए तथा जो अन्य घटनाएँ इस बीच मे घटित हुई, उनका किंचित् मात्र भी विवरण वेदो में क्यो नही मिलता है ? क्यों वे उत्तरी-ध्रुव की लम्बी रात्रियो के पश्चात् एकदम सप्तसिन्धु प्रदेश का ही गुणानुवाद करने लगते है ? स्पष्ट ही इनका कोई उत्तर अब तक उपलब्ध नही हुआ है। अत' जब तक ऋग्वेद या अन्य कोई समकालीन ग्रन्थ इस प्रकार के तर्कों का उत्तर नही दे देता, तब तक आर्यो का मूलस्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश नही माना जा सकता।

तृतीय सिद्धान्त का उत्तरार्द्ध है— खुदाई इत्यादि मे प्राप्त उपादान सामग्री, जिसमे सबसे प्राचीन 'बोगाजकूई' की खुदाई मे प्राप्त वे लेख है जो मिट्टी की पट्टिकाओं पर कीलाक्षरो मे लिखे हुए है। इनमे से एक लेख मे हत्तीराज सुपिलल्युमम तथा मितन्नीराज मतिराज की पुत्र-कन्या के विवाह का उल्लेख है। यह एक प्रकार का सधि-पत्र है। इसमे अनेक विशिष्ट वैदिक देवताओ के नामो का उल्लेख मिलता है, जैसे—शुरियश, मरुतश, ईन्दर, मित्तर, उरुवन, अरुन आदि। उक्त लेख से यह तो सिद्ध होता ही है कि ई० पूर्व १४००–१३०० वर्ष पूर्व आर्यो एवं आर्य भापा की उपस्थिति वहाँ पर थी, परन्तु समस्या यह है कि वे भारत से गए अथवा वहाँ से भारत आए। जहाँ तक हित्ती प्रदेश से आर्यो के भारत आगमन का प्रश्न है, वहाँ दो प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत होते है—प्रथम, यदि भारतीय आर्य हित्ती प्रदेश से भारत आए और उक्त सन्धिपत्र के पश्चात् आए तो निश्चय ही वे इस कीलाक्षर लिपि का प्रभाव अपने साथ लेकर आए होंगे, तब फिर भारत मे प्राप्त ब्राह्मी लिपि का उक्त लिपि के साथ सम्बन्ध क्यो नही है ? जैसा कि बहुत से योरपीय मनीपी मानते है कि भारत मे लिपि का विकास ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही हुआ है, तब 'बोगाजकूई' मे प्राप्त कीलाक्षर लिपि का क्या महत्त्व रह जाता है, जबकि वहाँ के निवासियो का एक समुदाय उससे अनभिज्ञ नही है। या यो कहिए कि उसी शाखा से बिछुड़कर या उसके आस-पास के किसी स्थान से जहाँ पर लिपि का विकास बहुत पहले हो चुका था—(जैसा कि ये लोग मानते हैं) आने वाले भारतीय आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश मे प्रवेश करते ही कुछ ऐसे विकृत मस्तिष्क हो गए कि लिपि का प्रयोग करना भी भूल गए और लगभग ७००–८०० वर्षो के पश्चात् यह विकृति दूर हुई, जबकि मनोविज्ञान के वंश परम्परागत संस्कार के सिद्धान्त के अधीन भारतीय आर्यों की सन्तानो के मस्तिष्क मे वह लिपि कुछ भिन्न स्वरूप मे अवतरित हो गई। अजब विचार-

विडम्बना है ! यदि 'बोगाजकूई' के शिलालेख आर्य राजाओं की रिकार्ड रखने की प्रवृत्ति के सूचक है, तो फिर उसी शाखा के राजा लोग भारत में आकर इस प्रकार के सन्धि-पत्र लिखने के प्रति क्यो विरक्त हो गए ? इसी सन्दर्भ मे एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि जिन राजाओ ने इस प्रकार की सन्धियों का अकन मिट्टी की ईंटो पर किया तो इस प्रकार की घटनाओं का आकलन आर्यो ने अपने साहित्य मे क्यो नही किया ? अत स्पष्ट है कि भारत मे हित्तियो की उपरि कथित शाखा से निकलकर अथवा इस दिशा एवं उसके आसपास के किसी अन्य स्थान से भारतीय आर्य नही आए।

दूसरे वैदिक देवताओ के नाम जो वहाँ पर प्राप्त हुए है और जिन शब्द-रूपों मे हिन्दी-विद्वानो ने उन्हे अपने ग्रन्थो मे उद्धृत किया है वे रूप वैदिक भाषागत शब्द रूपो से पूर्व के न होकर पश्चात् के ज्ञात होते है। यथा—वैदिक सस्कृत, एव लौकिक सस्कृत के सयुक्त व्यजनो मे से कभी 'अग्र' को और कभी 'पश्च' को द्वित्व कर उनमे स्वरागम लाकर उच्चारण करने की प्रवृत्ति उत्तरकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे बहुत अधिक मात्रा मे पाई जाती है। यथा—

संस्कृत	हित्ती	पालि	पंजाबी
मित्र	मित्तर	—	मित्तर
पुत्र	(इसी आधार पर)	—	पुत्तर
पितर्	—	—	पित्तर
चक्र	—	चक्क	चक्कर
लग्न	—	लग्ग	लग्ग
क्रय-विक्रय	—	कय विक्कय	—
परिव्यय	—	परिव्वय	—

उक्त उदाहरण मैने 'बोगाजकूई' के लेख मे प्राप्त 'मित्तर' शब्द के अनुरूप खोजे है जो उत्तरकालीन भाषाओ में प्राप्त होते है।

इसी प्रकार वहाँ से प्राप्त दूसरा शब्द है—'ईन्दर'। इस शब्द मे स्वरभक्ति के साथ-साथ पूर्व स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। जहाँ तक स्वर-भक्ति का सम्बन्ध है, भारतीय भाषाओ के विकास में भली प्रकार देखा जा सकता है। हाँ ! सम्भव है, आरम्भ के स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति वहाँ पर न मिले। यह आवश्यक भी नही है कि प्रभाव एव विकास सर्वथा समान ही हो। किन्तु मूल रूप मे ये शब्दरूप वैदिक शब्द रूपों से पूर्व के नही 'पश्च' के दृष्टिगत होते है। 'बोगाजकूई' के 'अरुन' शब्द को लीजिए जो संस्कृत के 'अरुण' शब्द का वाची है। यहाँ पर ण के स्थान पर न का प्रयोग मिलता है। पालि से लेकर वर्तमान पजाबी तक यह प्रवृत्ति

दृष्टिगत होती है, यथा—सस्कृत—गुण, पंजावी—गुन, इसी प्रकार सस्कृत—अरुण, हत्ती—अरुन पंजावी—अरुन, आदि । 'शुरियश' शव्द मे भी भारतीय 'श' ध्वनि अपना प्रभुत्व, जमाए हुए है । 'श' ऊष्म ध्वनि भारतीय आर्य भाषा की अपनी विशेषता है । आर्य परिवार की अन्य भाषाओ मे श के स्थान पर या तो 'स' मिलता है अथवा 'क' मिलता है । यथा—

सस्कृत	**अवेस्ता**	**ग्रीक**	**लैटिन**
शतम्	सतम्	कैन्ट	केन्टुम्

अत· यह कैसे माना जा सकता है कि भारतीय आर्य एशिया माईनर से आए और आते ही 'शुरियश' के स्थान पर 'सूर्य' 'ईन्दर' के स्थान पर 'इन्द्र' तथा मित्तर के स्थान पर मित्र का प्रयोग करने लगे । यदि भारतीय आर्यो की शाखा वहुत वड़ी शव्द सुधारक वन भी गई होगी तो भी यत्र-तत्र उनके साहित्य मे इन शव्द रूपो के भी कतिपय प्रयोग उपलब्ध होने चाहिए। लेकिन नही होते । मुख-सुख की दृष्टि से इन्दर, मित्तर आदि शव्दो का उच्चारण सहज और सरल है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन शव्दों के उत्तरकालीन भाषाओ मे पाया जाता है । इस प्रकार हम कह सकते है कि उक्त लेख का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन यही सिद्ध करता है कि भारतीय आर्यों की ही कोई शाखा भारत से एशिया माईनर की ओर गई न कि एशिया माईनर से भारत आई, और यह वह समय हो सकता है जव भाषा विकास की ओर अग्रसर थी ।

अन्त मे प्रजातिवाद, भाषावाद एव प्राचीन ग्रन्थो तथा खुदाई इत्यादि मे प्राप्त उपादान सामग्री के आलोडन से ज्ञात होता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल की सिद्धि भारतीय आर्यो के मूल उद्‌गम के लिए नही होती । अव तक की प्राप्त सामग्री मे सप्तसिन्धु के पक्ष मे प्रत्यक्ष प्रमाण है और अन्य स्थलो के पक्ष मे अनुमान प्रसूत । अनुमान से प्रत्यक्ष सर्वदा सवल होता है । अत: जव तक किसी अन्य प्रदेश के लिए प्रत्यक्ष कारण एव सवल सामग्री सप्तसिन्धु प्रदेश की तुलना मे प्राप्त नही हो जाती, तव तक हमे यह मानने मे किंचित् भी सकोच नही करना चाहिए कि आर्यों का या यो कहिए आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के मूल उत्स का प्रस्रवण सप्तसिन्धु प्रदेश की ही पावन भूमि से हुआ, जहाँ इन्द्र ने अवरोधक वृत्रासुर को मार कर इसका मार्ग प्रशस्त किया । इस सन्दर्भ मे यदि मे डा० वी० के० घोष के शव्दो को पुन. उद्‌धृत कर दूं तो अधिक उत्तम होगा .

"In spite of all the evidence to the contrary India was the origin home of the Aryans, for there is no definite proof of the existence of an Aryan Race or language outside India, previous to the age of the Mohon-Jo-daro culture."

संस्कृति से तात्पर्य—जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसकी वाह्य आकृति एव आन्तरिक गुणो से की जाती है, उसी प्रकार किसी जाति की पहचान उसकी सभ्यता एव सस्कृति से की जाती है। सस्कृति-अनुभव जन्य ज्ञान के और सभ्यता बुद्धि-जन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर होती है। संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ सस्कार किया हुआ, निखरा हुआ या निखारा हुआ होता है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती ने संस्कृति का अर्थ 'भूषणभूत सम्यक् कृतिः इति सस्कृति.' किया है। भूषणभूत सम्यक् कृति का विश्लेषण करते हुए स्वामी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि 'मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।'[5] वात वास्तव मे यह है कि वाह्य अथवा भौतिक उन्नति के वे अवशेष जो हमारे जीवन एव चिन्तन की स्थायी निधि वनते जाते है, वे ही समष्टि रूप मे सस्कृति के द्योतक होते है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। सस्कृति के लिए उनके यहाँ कल्चर (culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री 'हीवल' सस्कृति शब्द की व्याख्या लगभग भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल ही करते हैं। आपके अनुसार सस्कृति समाज के समाकलित विज्ञ व्यवहारो की समष्टि है जो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का लक्षण होता है तथा वह जीव-शास्त्रीय विरासत का परिणाम नही होता :

"Culture is the sum total of integrated learned behavior patterns which are characteristic of the members of a society and which are, therefore, not the result of Biological inheritance."[6]

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक समन्वय

यद्यपि इतने विवेचन के पश्चात् भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि आर्यजनो की सही निवास भूमि कहाँ पर थी तो भी इतना तो पूर्णत. निश्चित है कि ऋग्वेद एवं शेष वैदिक साहित्य भारत भूमि की अपनी निराली निधि है। इस साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यो का सम्पर्क कुछ अन्य सस्कृतियो के साथ भी हुआ है। उन संस्कृतियो से इन्होंने कुछ ग्रहण भी किया और वहुत कुछ दिया भी।

ऋग्वेद मे ऐसे शत्रुओं का वर्णन आता है जो 'कृष्ण' अर्थात् काले रग के थे। 'अनासा' चिपटी नाक वाले थे। 'शिश्नदेवा' लिङ्ग पूजक थे। 'अयज्वन्' यज्ञ न करने वाले थे। 'दास दस्यु' डाकू थे। 'शम्वर' दस्यु का उल्लेख अनेक

---

[5] कल्याण हिन्दू-संस्कृति विशेषाक, पृष्ठ १९४।
[6] Man in the primitive world—*Heebel*, page 7.

बार हुआ है जिसके दुर्गों का ध्वंस इन्द्र ने अनेक वार किया है। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों एवं वर्तमान समय मे प्राप्त अनेक आदिवासी कवीलो के आधार पर विद्वानो ने कुछ निष्कर्ष निकाले है, यथा—प्राचीन भारत में 'हब्शी' प्रजाति वर्तमान थी जो अफ्रीका से घूमती-घामती भारत मे आई। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार ये सर्वप्रथम मानव हो सकते हैं, जिन्होने भारत भूमि पर चरण रखे। आजकल इनके अवशेष अण्डमान-निकोवार प्राय-द्वीपों मे उपलब्ध होते है जहाँ ये अपनी अविकसित भाषा का ही प्रयोग करते हैं।[7] आर्य भाषा पर इनका प्रभाव नाम मात्र को ही मिलता है क्योंकि यह प्रजाति अधिकतर दक्षिण मे रही। दूसरे, वाद मे आने वाली प्रजातियों ने इनको अपने मे पूर्णत: आत्मसात् कर लिया। भारत के निम्न वर्णों के लोगों मे इनका यह मिश्रित रूप भली प्रकार चिह्नित किया जा सकता है।

द्वितीय, अनार्य जाति आस्ट्रिक परिवार की थी जिनके साथ आर्यों का सान्निध्य हुआ। यही प्रजाति आगे चलकर संस्कृत-साहित्य मे निषाद जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई। विद्वानो का मत है कि निपाद संस्कृति ने आर्य संस्कृति को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। इनके अवशेप भारत मे कोल और मुण्डा जातियाँ है।

तृतीय प्रजाति जिनका आर्य संस्कृति के अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह द्रविड़ प्रजाति थी, वेदों मे जिन्हे दास, दस्यु या शूद्र के नाम से अभिहित किया गया है। विद्वानों का मत है कि मोहन-जो-दडो और हड़प्पा में जिस संस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए है उसकी संस्थापक यही प्रजाति थी। कुछ विद्वान् इस मत को तव तक स्वीकार करने को तैयार नही है जव तक उसमें प्राप्त सामग्री एवं सिक्कों पर प्राप्त लेखों का पूर्ण विश्लेषण एवं अध्ययन सम्पन्न नही हो जाता। दक्षिण भारत में वोली जाने वाली तमिल, तैलगु आदि भाषाएँ उसी कवीले की भापा या वोलियों के विकसित रूप हैं। चाहे जो कुछ हो, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आर्यों के सम्पर्क मे आने वाली प्रजातियो मे से इस प्रजाति की संस्कृति अत्यधिक समृद्ध एवं सुदृढ़ थी और इन्हे जीतने के लिए आर्यों को सवमे अधिक कठिनाई का साम्मुख्य करना पडा था।

चतुर्थ प्रजाति जिसका आर्य संस्कृति के निर्माण मे कम योगदान नही रहा, वह है मगोल प्रजाति, जो वाद मे किरात जाति कहलाई। पौराणिक साहित्य मे अनेक स्थानो पर इन्हे अर्ध-देव या अलौकिक जनो के रूप मे वर्णित किया गया है। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक काल मे ही ये 'किरात' के नाम से

---

7 भारतीय आर्य भापा और हिन्दी, पृष्ठ ४६-४७।

जाने लगे थे ।[8] इस जाति का भारत के सास्कृतिक निर्माण [अर्चन पूजा] मे बहुत अधिक योगदान रहा है ।

सस्कृति के अन्य उपादानो को छोडकर हम यहाँ पर केवल भाषा की दृष्टि से ही इनके पारस्परिक आदान-प्रदान का अवलोकन करने का प्रयत्न करेगे । पिछले तीन चार सौ वर्षो के अनथक प्रयास के फलस्वरूप विद्वान् भाषा-विज्ञ एक सर्वसम्मत निष्कर्ष पर पहुँचे है कि योरप, रूस, ईरान, भारत आदि मे बोली जाने वाली भाषाओं का मूल उत्स कोई एक भाषा है जिससे छान्दस, ग्रीक, लैटिन, जर्मेनिक, केल्टिक, अवेस्तन आदि विश्व की समृद्ध भाषाएँ प्रस्फुटित हुई है । इनमे कौनसी भाषा प्राचीन है तथा आदि-भाषा के अधिक समीप है, इस उलझन मे न पडकर यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि उक्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, इस बात के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त कर सकता है कि हम एक मूल भाषा का अनुमान कर सकें तथा उसकी ध्वनियों एवं रूपो का निर्धारण कर सकें और यह कार्य पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक सम्पन्न करने का प्रयास कर चुके है, किन्तु उनका यह कार्य कहाँ तक वैज्ञानिक है, यह नही कहा जा सकता । इसके विरोध मे डॉ. राम-विलास शर्मा के तर्क अत्यन्त विचारणीय है, जैसा कि उन्होंने कैन्टुम् और शतम् के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कहा है 'एक समस्या और है' यदि आर्यो की पश्चिमी शाखा मूल कण्ठ्य ध्वनियो को सुरक्षित रखे हुए 'शत' के स्थान पर 'केन्तुम्' का व्यवहार करती थी, तो जर्मन और अंग्रेजी मे केण्टुम् की जगह हुण्डेर्ट और हण्ड्रेड का व्यवहार कैसे होने लगा ? जर्मन मे कैसर, कापिटाल, काल्ट, कार्टे, केनेन, केर्ले, केर्न, क्नावे, किंट आदि ढेरो शब्द है जो 'क' से आरम्भ होते है जिनके मध्य या अन्त मे 'क' हो उनका जिक्र नही। फिर जर्मन आर्यों ने केण्टुम् के 'क' से क्यो परहेज किया ? ।"[9] इसी प्रकार भारतीय आर्य-परिवार की ओर भी आपने संकेत किया है कि "विद्वानो के अनुसार आर्यो की पश्चिमी शाखा ने मूल कण्ठ्य ध्वनियों को सुरक्षित रखा है; भारत और रूस की शाखा ने उन्हे ऊष्म बना दिया है। लैटिन 'केन्तुम्' संस्कृत 'शत' इनमे लैटिन ने मूल ध्वनि को सुरक्षित रखा, सस्कृत आदि पूर्व की भाषाओ ने उस 'श' या स' का रूप दे दिया । प्रश्न यह है कि किम्, क., कुत., कुत्र आदि क-युक्त शब्दो का विशाल भण्डार रखने वाली भाषा ने 'केन्तुम्' के 'क' को ही क्यो अछूत समझा ?"[10]

---

[8] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६२ ।

[9] भाषा और समाज, पृष्ठ ३८ ।

[10] वही, पृष्ठ ३८ ।

उपर्युक्त सन्दर्भ इसका पर्याप्त प्रमाण है कि पाश्चात्य भाषा-विज्ञ इस सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नही कर पाये। आवश्यकता इस बात की है कि आर्य-परिवार की सभी भाषाओ के प्रकाण्ड पडित मिलकर सम्पूर्ण शब्द-कोष एवं ध्वनि सामग्री का विश्लेषण करे तथा बहुमान्य निर्णय पर पहुँचने का यत्न करें। कुछ शब्दो को चुन कर किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्त त्रुटिविहीन हो जाए, इसकी बहुत कम सम्भावना है। भाषा पाण्डित्य के साथ-साथ समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का ज्ञान भी उस मण्डली के लिए परम अपेक्षित है।

उपर्युक्त मूल भाषा की कल्पना का संकेत देने के पश्चात् हम अपने विषय पर आते है। भारतीय आर्य-परिवार जो अन्य आर्य-परिवारों से भिन्न दृष्टिगत होता है, उसमे सबसे महत्त्वपूर्ण 'मूर्धन्य' ध्वनियाँ है। ये ध्वनियाँ या तो भारतीय आर्य-परिवार मे प्राप्त होती है या जर्मनिक परिवार मे। कुछ मात्रा में विद्वानो का विचार है कि 'लैटिन' मे उनका प्रवेश हो चुका था। इस पर यदि हम गम्भीरता से विचार करे तो स्पष्ट हो जाएगा—पाश्चात्य रग मे रगे विद्वानो को यह-चाहे न रुचे—कि जर्मनिक शाखा भारतीय शाखा से मूर्धन्य ध्वनियो के विकास के बाद अलग हुई है, जिसने जाकर रोमन सस्कृत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ग्रीक और रोमन सस्कृति तथा परशियन संस्कृति के बाद जर्मन संस्कृति का अभ्युदय इसका प्रमाण है। यह निश्चित सा है और मान लेना चाहिए कि आर्य-परिवार मे मूर्धन्य ध्वनियाँ विजातीय तत्त्व है और बहुत सम्भव है कि भारत मे अनार्य संस्कृति का सम्पर्क ही इनका प्रदाता रहा हो। आस्ट्रिक प्रजाति की तथा द्रविडो की भाषाएँ मूर्धन्य ध्वनि-प्रधान होने के कारण इस मान्यता को और भी बल मिल जाता है। आर्य, क्योकि विजेता थे, अतः उन्होने अपनी भाषा की प्रकृति और प्रत्यय की सुरक्षा करते हुए विजितो द्वारा दिए गए शिथिल एव अशुद्ध उच्चारणों को न चाहते हुए भी स्वीकार कर लिया। अनेक स्थानों पर 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रवेश भी आर्येतर भारतीय कवीलो का ही प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि इस पर भी डॉ. रामविलास शर्मा के तर्क अकाट्य है तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण विजातीय प्रभाव है जिसके लिए पाणिनि को 'डलयो रलयो-रभेद.' कहना पडा। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द है जिनकी व्युत्पत्ति छान्दस के प्रकृति और प्रत्ययो के अनुरूप नही बैठती। डॉ. चाटुर्ज्या ने ऐसे अनेक शब्दों की सूची प्रस्तुत की है।

भाषा के अतिरिक्त अनेक अन्य सास्कृतिक उपादान भी आर्यो ने इन आर्येतर जातियो से ग्रहण किए। यथा:—लिङ्ग (शिव) पूजा, नाग पूजा, मातृका पूजन, शक्ति पूजन, वृक्ष पूजन, ग्राम के बाहर पत्थर पर सैन्दूर या लाल रंग से रगे

हुए पत्थर की पूजा, गान्धर्व विवाह, गौ पूजा, शिव पूजन, कृषि मे धान की खेती अनेक शाक-सब्जियों का उत्पादन तथा योगविद्या आदि।

उपर्युक्त विश्लेषण से मेरा तात्पर्य केवल यह बता देना है कि छान्दस युग मे ही भाषा ने अनेक विजातीय तत्त्वों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। यह स्वाभाविक था, क्योकि आज की भारतीय भाषाएँ अरबी, फारसी, पुर्तगीज़, आँग्ल आदि भाषाओ के प्रभाव से अपने को वंचित न कर सकी तो फिर उस समय की छान्दस उस भाषा के बोलने वालों के सम्पर्क मे आई, अन्य भाषाओं के प्रभाव से मुक्त रह सकी होगी, कुछ जँचता नही है। ये प्रभाव कौन-कौन से हो सकते है, किस प्रकार के है तथा कौन-सी भाषाओ के हैं, यह स्वतन्त्र रूप से विचार के विषय है और पृथक् ग्रन्थ की अपेक्षा रखते है। अतः मैं समझता हूँ यहाँ पर इतने सकेत ही पर्याप्त है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा पर विचार करने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार कर लेना असगत न होगा। विद्वानो का विचार है कि छान्दस और अवेस्ता की भाषा मे इतना साम्य है कि केवल कुछ ध्वनियों के परिवर्तन कर देने पर दोनो भाषाओ का स्वरूप समान हो जाता है। उनके निष्कर्ष है कि ध्वनियों का यह अन्तर 'भारत-ईरानी' शाखा से पृथक् होने पर छान्दस ने विकसित कर लिया और ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा का पश्चकालीन विकसित रूप है, किन्तु दोनों भाषाओ की तुलना के पश्चात् मन यह मान्यता स्वीकार करने को तैयार नही होता। यदि छान्दस से विकसित भाषाओ—पालि प्राकृत आदि—का मिलान अवेस्ता की भाषा से करे तो इन मे पर्याप्त मात्रा मे समानता दृष्टिगत होती है। कितने ही ध्वनि-परिवर्तनों के आधार वे ही तत्त्व है जो पालि या साहित्यिक प्राकृतो के भी है। संस्कृत/छान्दस, अवेस्ता/प्रा० फारसी, पालि/ प्राकृत आदि भाषाओ के कुछ चुने हुए उदाहरणों के द्वारा मैं अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न करूँगा :

१. संस्कृत/छान्दस के अन्त्य 'अ' के स्थान पर अवेस्ता मे 'ओ', प्राचीन फारसी मे 'अ, ओ', पालि मे 'ओ' तथा मागधी में 'ए' मिलता है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
जात·	जातो	जात	जातो	जातो/जाते
पुत्र.	पुथ्रो	पुथ्र	पुत्तो	पुत्तो/पुत्ते

२. छान्दस या सस्कृत के 'अ' के स्थान पर अवेस्ता में 'ए, ओ, इ' मिलते है। ठीक इसी प्रकार पालि तथा अन्य प्राकृतो मे भी 'ए, ओ, इ' मिलते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता[11]
अजति	अजेति
पति	पेतिस्
सन्तम्	हें॑न्तम्
यम	यिम
वसु	वोहु

छान्दस/संस्कृत	पालि/प्राकृत
अत्र	एत्थ
अधस्तात्	हेट्ठा
तमस्	तिमस
त्रिपु	तिपु
अन्तर्	अंतो
तिरस्क	तिरोक्ख

३ छान्दस/संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर अवेस्ता 'ऍर्' प्रा० फारसी 'र', पालि/प्राकृत 'इ, उ, अ तथा रि, ईर्' मिलते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी		पालि	प्राकृत
कृणोति	केरेनओइति	—	—	कीय्नोति
वृक्षम्	वरेशम्	—	रुक्ख	रुक्ख
मृगाङ्क	—	—	मयंक	मियंक

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी		पालि	प्राकृत
ऋषि	—	खइस्	इसि	रिसि
ऋणम्	—	—	इण	रिण

४ छान्दस/सस्कृत के ऐ/औ का अवेस्ता मे 'आइ तथा आउ' होते हैं परन्तु पालि/प्राकृत मे 'अइ तथा अउ' होते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता	पालि	प्राकृत
पौरः	—	पउरो	पउरो
गौड.	—	—	गउड
कस्मै	कह्माइ	—	—
चैत्यम्	—	चइत्तं	—

[11] अवेस्ता/प्रा० फारसी के नियम 'हिन्दी भापा का उद्‌भव और विकास', पृष्ठ २४–३८ से लिए गए है।

व्यञ्जन—

१. व्यञ्जन से अनुगमित संस्कृत 'क, त, प' अवेस्ता में 'ख, थ, फ' हो जाते है। ठीक यही नियम पालि एव प्राकृतादि (साहित्यिक) भाषाओ में लक्षित किया जा सकता है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
क्रतुः	ख्रतुस्	—	—
स्वप्नम्	ह्वफ्नेम	—	—
पलितम्	—	फलितम्	फलितम्
पनसः	—	—	फणसो
परिखा	—	—	फलिहा
परुष.	—	—	फरुसो
स्तन·	—	—	थणो
स्तम्भः	—	—	थम्भो
स्त्री	—	—	थी
क्षणः	—	—	खणो
कर्परम्	—	—	खप्पर
स्कन्द	—	—	खन्द

२. छान्दस/सस्कृत 'घ, ध, भ' अवेस्ता मे 'ग द, व' मे परिवर्तित हो जाते है। प्राकृतो मे भी इन महाप्राण ध्वनियो के महाप्राणत्व के स्थान पर अल्पप्राणत्व के दर्शन होते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
दीर्घम्	दरे॑गे॑म्	—	—
अघ	अदा	—	—
भ्राता	ब्राता	—	—
भगिनी	—	वहिणी	वहिणी
घासः	—	—	गस (नि० प्रा०)
सद्य	—	सद (नि० प्रा०)	
भूमि·	—	—	वूम (नि० प्रा०)

३. छान्दस/सस्कृत 'श' के स्थान पर 'स' और 'श, स' के स्थान पर 'ह' अवेस्ता/प्रा० फारसी की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है। पालि और अन्य प्राकृतो की यह सर्वप्रमुख विशेषताएँ मानी गई है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
सप्त	हप्त	—	—
शरद्	हरुद्	—	—
शाक	हाख	—	—
सोम	होमु	—	—
शत	हथ	—	—
द्वादश	—	—	वारह
दश	—	—	दह
कार्पापण.	—	—	काहावणो
असि	अहि	अहि	अहि
दशमुख:	—	—	दहमुखो
अस्माकम्	—	—	अम्हाणं
शाप:	—	—	सावो
शपथ:	—	—	सवहो

इनके अतिरिक्त अवेस्ता मे पाया जाने वाला 'ज' कश्मीरी मे अभी तक सुरक्षित है। कश्मीरी मे सस्कृत 'श' के स्थान पर 'छ' और मागधी में 'श्च' उपलब्ध होते है। यदि भारत की सम्पूर्ण आर्य-परिवार की भाषाओ का विश्लेषण कर उनका अवेस्ता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि कुछ परिस्थिति विशेष मे हुए ध्वन्यात्मक परिवर्तनो के अतिरिक्त अवेस्ता की भापा म. भा. आ. का ही अनुसरण करती है।

द्वितीय अध्याय

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

विकास शाश्वत होता है—बोली से भाषा का विकास—संस्कृत में ऐसे अन्तर पर विचार—बोलियों का लुप्त हो जाना—भाषा के अध्ययन में कठिनाइयों का साम्मुख्य—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का प्रारम्भ—ऋग्वेद प्राचीनतम कृति—आर्यों का आगमन—ऋग्वेद की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन—ईरानी से साम्य—तालव्य भाव के नियम का प्रभाव—वैदिक संस्कृत का ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—कोष पर विचार—वैदिक काल में भाषा में विकास के चिह्न—उस समय की भाषा एवं बोलियों की स्थिति—संस्कृत भाषा का प्रादुर्भाव—संस्कृत का चहुँमुखी विकास—ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—उपसर्ग एवं निपातों का विवेचन ।

अथवा निर्माण कर, जीवन के उदात्त एवं गम्भीर भावो, विचारो एवं तथ्यो की अभिव्यक्ति का साधन बनाया जाता है। इस अन्तर को भली प्रकार चिह्नित करने के लिए ही विद्वानो ने प्रथम रूप को बोली की और दूसरे रूप को भाषा की सज्ञा दी है। सस्कृत वैयाकरणों एव काव्य-शास्त्रियों ने इसे वाणी, भाषा और विभाषा जैसे वर्गो मे भी विभाजित करने का प्रयास किया है। अन्तर केवल इतना है कि ये वैयाकरण शुद्ध, शिष्ट, परिमार्जित किन्तु कृत्रिम भाषा को मूल मान कर जनसाधारण की भाषा की ओर प्रयाण करते है; जैसे भरत ने लिखा है—

> "मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यार्धमागधी ।
> वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता ।।"[2]

मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीका तथा दाक्षिणात्या ये सात भाषाएँ है। आगे ये लिखते है—

> "शकाराभीर-चाण्डाला शबर-द्रमिलान्ध्रजा ।
> हीना वनेचराणाञ्च विभाषा नाटके स्मृताः ।।"[3]

जगली लोगो द्वारा बोली जाने वाली शकारा, आभीर, चाण्डाला, शबर, द्रमिल, आन्ध्रजा आदि हीन बोलियाँ ही नाटक मे विभाषाएँ कही जाती है। 'भाषा' से लेखक का क्या तात्पर्य था तथा 'विभाषा' शब्द किस प्रकार की बोली के लिए प्रयुक्त होता था, इसे स्पष्ट करते हुए अपने भाष्य मे अभिनव गुप्तपादाचार्य लिखते है—

"भाषा सस्कृतापभ्रश', भाषापभ्रशस्तु विभाषा, सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनाम् च एता एव नाट्ये तु"।[4]

उपर्युक्त विवृति मे सस्कृत को वाणी अथवा देववाणी मान कर भाषा को सस्कृत का अपभ्रष्ट स्वरूप कहा है तथा भाषा के अपभ्रष्ट स्वरूप को विभाषा कहा है। इसीलिए भाषा के अन्तर्गत उपरिकथित सात प्राकृत भाषाओ को और विभाषा के अन्तर्गत जगली, गुफाओ मे रहने वाले हीन व्यक्तियो की बोलियो को, जो भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न तरीको से बोली जाती थी, किन्तु विकास की ओर अग्रसर थी, लिया गया है। इन विभाषाओ का प्रयोग नाटको मे हीन पात्रो के मुख से करवाना वैध माना जाता था। इस प्रकार हमारे सामने भाषा के तीन रूप आ जाते है। जहाँ तक भाषा के लिए 'वाणी' शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है, वह केवल अतिधार्मिक भावना का ही

---

2 भरत का नाट्य-शास्त्र, १७/४९।

3 वही, १७/५०।

4 भरत नाट्यशास्त्र की टीका, पृष्ठ ३७६।

परिणाम है। जहाँ तक विभाषा का सम्बन्ध है, वह बोली और भाषा के बीच की स्थिति है। इसमे थोडा बहुत साहित्य भी होता है। ग्राम्य प्रयोगो की अनुज्ञा के साथ-साथ व्याकरण के नियमो का बन्धन भी रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा की मुख्य स्थितियाँ बोली और भाषा ही है।

उपर्युक्त विवेचन से हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है कि लोक मे भाषा के दो रूपों की समानान्तर स्थिति प्रत्येक अवस्था मे बनी रहती है। हाँ ! यह अवश्य है कि एक बोली की अनेक भाषाएँ चाहे न हो, परन्तु एक भाषा की अनेक बोलियाँ अवश्य होती है; यथा—हिन्दी की—व्रज, कन्नौजी, बघेली, बुन्देली, छत्तीसगढी, अवधी, खड़ी बोली, बाँगरू आदि। बोली का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप भाषा बनता है, साथ ही भाषा का अपभ्रष्ट रूप भी बोली के कोष को समृद्ध करता है। डॉ. रामविलास शर्मा का यह मत कि परिनिष्ठित भाषाओ से बोलियाँ उत्पन्न ही नही होती,[5] मान्य नही है। यदि यह मत मान भी लिया जाए तो आज भारत मे आर्य-परिवार की भाषाओ के अधीन बोली जाने वाली तीन चार सौ बोलियो का अस्तित्व 'छान्दस-युग' मे भी मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नही है। जैसा कि डॉ राम-विलास स्वीकार करते है कि सामाजिक उत्थान-पतन एव उसकी स्थिति का भाषा के साथ प्रगाढ सम्बन्ध होता है, तो उन्हे यह स्वीकार करने मे नही हिचकिचाना चाहिए कि प्रारम्भ मे आर्य लोग एक कबीले के ही रूप मे थे। समाजशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल का वह समुदाय जो एक सास्कृतिक इकाई मे आबद्ध था, कबीला कहलाता था। कबीले के सभी लोग उस समय निश्चय ही किसी एक बोली का प्रयोग करते रहे होंगे। जैसे-जैसे उनमे विस्तार हुआ होगा, त्यो-यो समय और परिस्थिति के अनुसार उनकी बोलियो मे भी अन्तर आया होगा और इस प्रकार एक बोली अनेक में परिवर्तित हुई होगी, पर मूल आधार उसके कबीले की भाषा ही रही होगी। सभवतः डॉ० रामविलास के साथ मूल कठिनाई यह रही है कि इन्होने आर्यो के 'जन' अथवा गोत्र को कबीला मान लिया है और हिन्दी का सम्बन्ध भी छान्दस के समय की किसी भिन्न बोली के साथ जोडने का प्रयास किया है। मजेदार बात तो यह है कि डॉक्टर साहब इसी अध्याय मे भोजपुरी सम्बन्धी वर्गो को ग्रियर्सन के मत से ही काटते नजर आते है। बोली के विकास का मूलाधार बोली ही नही, अन्य कारण भी होते है। यथा—उसी से परिष्कृत परिनिष्ठित रूप, अन्य परिवारो की भाषाएँ, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि। बात वास्तव मे यह है कि बोली का रूप जब परिष्कृत होकर भाषा का बाना

---

5 भाषा और समाज, पृष्ठ ३६७।

धारण कर लेता है, तो वह रूप अधिक से अधिक समृद्ध होने में तल्लीन हो जाता है, विद्वान् लोग नवीन ध्वनियो, नवीन शब्दो एवं नवीन प्रयोगों द्वारा उसे अधिक से अधिक सशक्त एवं अभिव्यञ्जिका वनाने में दत्तचित्त हो जाते है और वही बोली विशेष, दिन दूनी रात चौगुनी फलने फूलने लगती है। उसमे अन्य भाषाओ के शब्द एवं प्रयोग भी ग्रहण किये जाने लगते हैं। ऐसी स्थिति मे जन सामान्य दो सिद्धान्तो के अधीन—१. अनुकरण व २. मुखसुख—नवीन वोली को धीरे-धीरे पनपाने लगता है। अनुकरण के सिद्धान्त के अनुसार वह विद्वानो के शब्दो और ध्वनियो का उच्चारण करने का प्रयत्न करता है और 'मुख-सुख' के अधीन उसे अशुद्ध वना देता है तथा उसके समकक्षी अपने प्राचीन शब्द का त्याग करने लगता है। धीरे-धीरे ज्यों भापा का प्रभुत्व वढता जाता है, वोली भी जाने-अनजाने मे परिवर्तित होती रहती है और इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आती है कि वोली एकदम नये रूप में आ उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए, आज से ५०–६० वर्ष पूर्व गाँव के लोग, विद्यार्थी के लिए 'चट्टा' और विद्यालय के लिए 'चटसाल' का प्रयोग करते थे। अव इन दोनो शब्दो का स्थान विद्यार्थी और विद्यालय (स्कूल) ने ले लिया है। इसी तरह अहीरवाटी मे गेहूँ की रोटी के लिए 'माण्डो' शब्द का प्रयोग होता था, पर अव अधिकाश ग्रामीण भी 'माण्डो' कहने से लजाने लगे है और उसके स्थान पर शिष्ट शब्द 'फुलके' का प्रयोग करते है। 'सहायक' क्रिया 'स' का स्थान हिन्दी सहायक क्रिया 'है' ने ले लिया है। व्रजभापा भाषी ग्रामीण जन भी अव 'हौं' कहना उचित नही समझते, वल्कि 'मैं' का प्रयोग करते है। 'हिन्दी' के प्रभाव के कारण अहीरवाटी का प्रवाह 'आकारान्त' होता जा रहा है। अव 'काकोजी' के स्थान पर 'काकाजी' कहना अधिक शिष्ट समझा जाता है। 'थो' सहायक क्रिया (भूतकाल) का भी यही हाल है। ऐसी स्थिति मे यह कहना कि परिनिष्ठित भापा से वोली का विकास हो ही नही सकता, उचित नही है। अत सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि एक वोली के पश्चात् जो दूसरी वोली का प्रचलन लोक मे देखा जाता है, वह उस पूर्ववर्ती वोली का विकसित रूप ही नही होता, वल्कि शिष्टजनों द्वारा व्यवहृत परिनिष्ठित भापा के अनुभूत क्लिष्ट उच्चारणो एव रूप प्रयोगो का सरलीकृत स्वरूप भी होता है। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि पूर्ववर्ती वोली का उसके परिमार्जित स्वरूप के प्रकाश मे आने पर पूर्णतया देहान्त हो जाता है, परन्तु इतना आवश्यक है कि वह वोली परिनिष्ठित भापा के कोष से अपना भण्डार भरती रहती है तथा उसके प्रकाश मे अपने कुछ प्रयोगो का त्याग करती हुई नवीन वोली का आवरण धारण कर लेती है। इस प्रकार नवीन वोली पुरानी बोली और परिनिष्ठित भापा का सम्मिलित परिणाम होती है।

किसी भी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के समय एक बड़ी कठिनाई जो आती है, वह यह कि साहित्य मे उसकी पूर्ववर्ती बोली का रूप प्राय. अलक्षित हो जाता है। कितने ही ग्राम्य प्रयोगों एवं रूपो पर वैयाकरण प्रतिबन्ध लगा देते है और हमारे सामने केवल उसका परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप, जो ग्रन्थो मे प्रयुक्त हुआ होता है, उपस्थित होता है, तब यह जानना कठिन हो जाता है कि अमुक भाषा जिसका अध्ययन किया जा रहा है, किसी बोली से समुत्पन्न है अथवा शिष्ट एव साहित्यिक भाषा का विकृत रूप है। इसी प्रश्न को लेकर भारतीय आर्य परिवार की भाषाओ के विकास के सम्बन्ध मे विद्वानों मे अत्यधिक विवाद चल रहा है, विशेषकर सस्कृत एव प्राकृतो के विषय मे। डॉ चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "प्राच्य बोली छान्दस एव ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत से इतनी अधिक दूर जा चुकी थी कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति को प्राच्यो की भाषा समझने मे कुछ कठिनाई का अनुभव होता था।"[6] उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग मूलत: अर्थात् जब सप्तसिन्धु प्रदेश मे थे, छान्दस अथवा ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा बोलते थे, परन्तु धीरे-धीरे जब वे पूर्व की ओर अग्रसर होते गए, उनका उच्चारण शिथिल होता गया। इस शिथिलता के कारण जो अन्तर आया, वही अन्तर नवीन बोली का उत्पादक सिद्ध हुआ। यदि डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार यह माने कि वे भिन्न बोली पहले से ही बोलते थे तो बोली को समझना बाद मे कठिन क्यो हुआ ? तथा प्राचीन ग्रन्थो मे बाद के ब्राह्मणो मे ही इसका उल्लेख क्यो हुआ ? अत. स्पष्ट है कि छान्दस का अशुद्ध उच्चारण, 'छान्दस' की बोली के अवशेष (जिसे वे पहले बोलते रहे होगे) तथा अनार्यो के सम्पर्क ने प्राच्या को जन्म दिया, जिसमें छान्दस के अपभ्रष्ट रूप का योग सर्वाधिक था।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

बोली और भाषा का अन्तर स्पष्ट हो जाने पर अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार छान्दस तथा उसकी बोलियो ने क्रमश विकसित होकर प्राकृतो एव अपभ्रशो के रास्ते से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ को जन्म दिया। यद्यपि यह चाहे विवादास्पद विषय है कि आर्यो का मूल निवास स्थान भारत है अथवा ये लोग कही बाहर से यहाँ आए, पर यह सर्वमान्य मत है कि ऋग्वेद आर्यो का छान्दस भाषा मे लिखित आर्य परिवार की भाषाओ का प्राचीनतम लिपिबद्ध ग्रन्थ है। छान्दस को यदि भारतीय आर्य परिवार की भाषाओ का मूल उत्स मान कर चले तो भारतीय आर्य परिवार की भाषाओ

---

6 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७५।

का विकास क्रम की दृष्टि से काल-विभाजन एवं वर्ग-विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—[7]

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ (प्रा० भा० आ० भा०)—'छान्दस एव सस्कृत ।

समय—१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक ।

(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ (म० भा० आ० भा०)—(अ) पालि, अशोक के शिलालेखो की भाषा, (ब) साहित्यिक प्राकृते, (स) अपभ्रंश ।

समय—५०० ई० पूर्व से १०००–१२०० ई० तक ।

(३) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ (आ० भा० आ० भा०)—हिन्दी गुजराती, मराठी आदि ।

समय—१०००–१२०० ई० से आज तक ।

उपर्युक्त वर्गीकरण का नामकरण सस्कार विद्वानो ने भिन्न-भिन्न रूपों में किया है; यथा—डॉ. चाटुर्ज्या प्रथम को आ० भा० आ० की भाषाएँ, द्वितीय को म० भा० आ० की भाषाएँ तथा तृतीय को न० भा० आ० की भाषाएँ कहते है, तो डॉ उदयनारायण तिवारी तृतीय को आधुनिक भारतीय आर्य भाषा परिवार की सज्ञा देते है, पर इससे मूल विपय मे कोई अन्तर नही आता ।

छान्दस भाषा के वैज्ञानिक विवेचन का मूल आधार मुख्यतः ऋग्वेद और गौणत वैदिक साहित्य हो सकता है । यद्यपि इस समय छान्दस भाषा की बोली का कोई भी रूप हमारे सामने नही है तो भी विद्वानो ने अनुमानतः उसके रूप-निर्धारण का प्रयत्न किया है । डॉ चाटुर्ज्या का मत है कि वेदों के सकलन काल और लेखन काल की भाषा मे अवश्य अन्तर रहा होगा, क्योकि लेखन के हजारो वर्ष पश्चात् वेदो का सकलन किया गया है । अतः मूल रूप में जो ऋचाएँ लिखी गई होगी, वे सम्भवत वर्तमान स्वरूप से कुछ अशो मे भिन्न रही होगी । आपके अनुमान का आधार स्वय ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल और दसवे मण्डल की भाषा का अन्य मण्डलों की भाषा से भिन्न होना है । आपने इस आधार पर दो ऋचाओ के अनुमानित रूप इस प्रकार दिये है—[8]

---

[7] उक्त विभाजन का आधार डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा दिया गया विभाजन है, जो भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १५-१६ पर अंकित है । अभी तक विद्वान् किञ्चित् मत-भेद के वाद भी इसे ही मान कर चलते है ।

भारतीय आर्य भापा और हिन्दी, पृष्ठ ७० ।

सहिता रूप— "अग्निम् ईळे (ईडे) पुरोहितम्
यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्
होतारम् रत्न-धातमम् ॥" (ऋग्वेद १/१)

मूल अथवा अनुमानित रूप—
अग्निम् इज्दइ पुरज्-धितम्
यजनस्य दइवम् ऋत्विजम्
ज्ह्' उतारम् रत्न-धा-तमम्

इसी प्रकार लोक प्रचलित प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का भी अनुमानित रूप डॉ० चाटुर्ज्या ने प्रस्तुत किया है[9]—

संहिता रूप— "तत् सवितुर् वरेणियम्
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।"

मूल या अनुमानित रूप—
"तत् सवितृस् वरइ निअम्
भर्गज् दइवस्य धीमधि ।
धियज् यज् नस् प्र क' उदयात्" ॥

यह मानते हुए कि भापा विकासशील है और ऋग्वैदिक ऋषियो ने प्रारम्भ मे भापा के जिस रूप मे ऋचाएँ लिखी होगी, उस समय की भाषा मे और ऋचाओ के संकलन काल तक की भापा मे अवश्य अन्तर आया होगा, परन्तु उपर्युक्त जो सम्भावित रूप डॉ. चाटुर्ज्या ने दिए है, उनमे ऐसा लगता है कि पाश्चात्य विद्वानो द्वारा ही आविष्कृत 'तालव्य-भाव का नियम' तथा अवेस्ता की भापा को छान्दस से प्राचीन मानने की भावना ही काम कर रही है। कण्ठ्य स्थानीय क वर्ग का 'अ इ ई' स्वर के कारण तालव्य स्थानीय च वर्ग में परिवर्तित हो जाना 'तालव्य-भाव' का एक नियम है। इसीलिए डॉ. साहव को 'चोदयात्' का प्राचीन रूप 'क' उदयात्' खोजना पडा। साथ ही पाश्चात्यो ने समान ध्वनि और समान शब्द का सिद्धान्त भी वनाया। इस आधार पर कुछ समान शब्दो एवं ध्वनियो को प्राचीन मान कर मूल भापा का अनुमान लगाया गया। इसके अधीन विद्वान् 'ज' की अपेक्षा 'ज' ध्वनि को प्राचीन मानते है। क्योकि यह अवेस्ता और ग्रीक मे भी मिलती है। इसीलिए इन्हे भर्गो > भर्ग > भर्गस् के स्थान पर भर्गज करना पड़ा। इस सिद्धान्त की कठोर आलोचना डॉ रामविलास शर्मा ने की है, जो अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं

---

[9] भारतीय आर्य भापा और हिन्दी, पृष्ठ ७१।

प्रशंसनीय है ।[10] अवेस्ता में 'द ध तथा ह्' की पूर्ववर्ती ध्वनि 'ए' के स्थान पर 'अज' प्राप्त होता है तथा 'सुप्' प्रत्ययो के 'स्' के स्थान पर भी वहाँ 'ज' प्राप्त होता है तथा साथ ही 'य, व, ह्' के पूर्ववर्ती 'ओ' को 'अज' का स्थानी स्वीकार कर उक्त ऋचाओ का अनुमानित रूप प्रस्तुत किया गया है । यदि छान्दस 'एधि' के स्थान पर अवेस्ता मे 'अजधि' मिलता है तो इस का यह तात्पर्य नही कि 'ए' सर्वत्र 'अज' ही बन जाए, जैसा कि इन्होने उपस्थित किया है ।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यदि हम छान्दस के पश्चकालीन विकास का विश्लेपण करे तो ज्ञात होगा कि पाश्चात्य विद्वान् जिन विकास सूत्रो का अवलोकन मूल भाषा से ग्रीक और उससे सस्कृत तक करते है, वे सूत्र संस्कृत से उत्तरोत्तर विकसित हुई भाषाओ में उपलब्ध होते है । इसका विस्तृत विवेचन हम पूर्व पृष्ठो मे कर चुके है ।

अस्तु, हम इस विवाद मे न उलझ कर कि संकलन की भाषा मूल छान्दस है अथवा लेखन समय की भाषा का विकसित रूप है, यह देखने का प्रयास करेगे कि इस समय जो भाषा का प्राचीनतम प्रमाणित रूप ऋग्वेद सहिता मे उपलब्ध है, उसकी क्या-क्या प्रवृत्तियाँ है और उसका उत्तरोत्तर विकास किस प्रकार हुआ है ? भाषा के वैज्ञानिक विश्लेपण में उसकी ध्वनियो, पद-विन्यासों, कोष तथा वाक्य गठन आदि पर विचार किया जाता है । अत. हम सर्वप्रथम छान्दस की ध्वनियो का विवेचन प्रस्तुत करते है—

ध्वनितत्त्व—

छान्दस भाषा मे निम्नलिखित ध्वनियाँ विद्वानो ने चिह्नित की हैं—

(१) **स्वर ध्वनियाँ**—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ तथा अनुस्वार ।

स्वरो की मुख्य प्रवृत्ति है, उनका 'बलाघात' । यह तीन प्रकार का होता है—(१) उदात्त, (२) अनुदात्त, (३) स्वरित । इस बलाघात से शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन आ जाता है । छान्दस मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जहाँ एक ही शब्द बलाघात के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगता है; यथा—'इन्द्र शत्रु:' मे 'न्द्र' का उच्चारण यदि स्वरित किया जायेगा तो इसका अर्थ होगा 'इन्द्र है शत्रु जिसका' और यदि अन्त्य स्वर को उदात्त और प्रारम्भिक स्वरो को अनुदात्त उच्चारण करे तो 'इन्द्रशत्रु' का अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु । प्रथम मे बहुव्रीहि समास हो जाता है और द्वितीय मे तत्पुरुष समास । अपश्रुति

---

[10] भाषा और समाज पृष्ठ, ११६–१४० ।

का नियम भी उपलब्ध होता है पर इसकी पुष्टि अभी भी पूर्व कथित "अवेस्ता की भाषा प्राचीन है" सिद्धान्त के आधार पर की जाती है।

(२) **व्यञ्जन ध्वनियाँ**—क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग आदि स्पर्श ध्वनियाँ य, र, ल, व, श, ष, स, ह, . विसर्ग, जिह्वा मूलीय,[11] उपध्मानीय[12] तथा ट वर्ग के अन्तर्गत ळ, ळ्ह ध्वनियाँ जो 'ड और ढ' की स्थानी कही जा सकती है, मिलती है।

प्रवृत्तियाँ—वर्गान्त पाँच अनुनासिक ध्वनियो मे से केवल 'न और म' का अन्य व्यञ्जनो के समान स्वतन्त्र प्रयोग मिलता है। पदान्त मे कही-कही 'ङ्' ध्वनि भी उपलब्ध होती है, यथा—प्रत्यङ्, कीदृङ् आदि। संस्कृत (छान्दस) मे 'भ्' को 'ह्' का आदेश हो जाता है तथा 'ध्' के स्थान पर 'ह्' के उदाहरण मिलते है। ऋग्वेद के 'ष' का यजुर्वेद मे 'ख' उच्चारण किया जाता है। पदादि 'य' का उच्चारण भी 'ज' होता है; यज्ञस्य > जज्ञस्य। ऋग्वेद के 'र्' का उच्चारण यजुर्वेद मे 'ए' युत होता है; यथा—सहस्रशीर्षा > सहस्रशीरेषा, आदि 'श, स, ह' से पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण एक विशेष प्रकार का होता है जिसका लिपि चिह्न 'ᳱ' पाया जाता है।

रूप तत्व—

वैदिक शब्द रूपो को चार भागों मे बाँटा जा सकता है—१. नाम २. आख्यात, ३ उपसर्ग, ४. निपात। महर्षि यास्क ने 'नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्च' के द्वारा ऐसा ही वर्गीकरण किया है। 'नाम और आख्यात' स्वतन्त्र चलते है और उपसर्ग तथा निपात' उनके साथ जुड़ कर अर्थ देते हैं।

(१) **नाम**—(क) इसके अन्तर्गत छान्दस के स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त समस्त सज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण शब्द आते है।

(ख) इसमे तीन वचन—१. एक वचन, २. द्विवचन, ३. बहुवचन; तीन लिङ्ग—१ स्त्रीलिङ्ग, २. पुल्लिग, ३. नपुसक लिङ्ग; आठ कारक—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन—पाए जाते है। प्रत्येक शब्द का प्रयोग लिङ्गानुसार तीनो वचनों एव आठो कारको मे सुबन्त प्रत्यय लगाकर किया जाता है।

विशेषण शब्दो—सख्यावाचक शब्दो सहित—का प्रयोग भी सुबन्त प्रत्यय लगा कर ही किया जाता है।

सर्वनाम शब्दो की रूप निष्पत्ति सज्ञा शब्दो से कुछ भिन्न रूप मे होती है।

---

[11] क तथा ख से पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ≍ चिह्न।

[12] प तथा फ के पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ≍ चिह्न।

नाम के अन्तर्गत महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि की वैदिक प्रक्रिया के अनुसार अनेक व्यत्ययो का उल्लेख किया है। 'सुपां व्यत्यय' के अन्तर्गत चतुर्थी के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग, सप्तमी के स्थान पर प्रथमा और षष्ठी का प्रयोग, निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[13] निर्विभक्तिक प्रयोग—परमे व्योमन् (व्योमनि के स्थान पर) शब्द रूपों मे विकल्प की अधिकता, प्रथमा बहुवचन मे देवाः तथा देवासः, तृतीया बहुवचन मे अर्कैः, पदेभिः, षष्ठी बहुवचन में 'गो' शब्द का 'गोनाम्, गवाम्' आदि प्राप्त होते हैं। समास प्रक्रिया में भी स्वच्छन्दता बरती जाती थी।

(२) आख्यात—समस्त धातुओ को विकरण की दृष्टि से दस गणों मे विभाजित किया गया है; यथा—भ्वादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, चुरादि आदि।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने वैदिक धातुओं की तीन प्रवृत्तियो की ओर संकेत किया है[14]—

१. धातु से पूर्व 'अ' के आगम का प्रयोग।

२ धातु का द्वित्व।

३. धातु एवं तिङ् प्रत्यय के मध्य विकरण का सन्निवेश। पाणिनि ने वैदिक प्रक्रिया में क्रिया के काल एवं भावों के दस प्रकारो को वर्णित किया है; यथा—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्। आंग्ल भाषा में इनके समानार्थी शब्द निम्न प्रकार से हैं—

लट् (Present); लिट् (Perfect Past); लुट् (Periphrastic Future); लृट् (Simple Future), लेट् (Subjunctive); लोट् (Imperative); लङ् (Imperfect Past); लिङ् (Potential); लुङ् (Aorist); लृङ् (Conditional)।

धातुओ को 'स्व और पर' की दृष्टि से तीन भागो में विभाजित किया गया है—१. आत्मनेपदी, २. परस्मैपदी, ३. उभयपदी।

वैदिक भाषा की मुख्य प्रवृत्ति-स्वच्छन्दता-तिङन्तों के प्रयोग और धातु पदो मे देखने को मिलती है—

१. संस्कृत की परस्मैपदी धातुओ का प्रयोग आत्मनेपद मे भी प्रयुक्त हुआ है, यथा इच्छते, इच्छति।

---

[13] षष्ठी युक्तश्छन्दसि वा, चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या, यजेश्च करणे, आदि—वैदिक व्याकरण, पृष्ठ १९।

[14] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६।

२. बहुवचन के लिए कही-कही एक वचन सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है—चपालं ये अश्व यूपाय तक्षति ('तक्षन्ति' के स्थान पर)।

३ 'तिङ्' प्रत्यय जोडते समय सार्वधातुक और आर्धधातुक का ध्यान नही रखा जाता। इसलिए 'वर्धन्तु और वर्धयन्तु' दोनो रूपो का प्रयोग वेद मे मिलता है।

४. विकरण का व्यत्यय भी मिलता है; यथा—'भिद् धातु के साथ कही विकरण मिलता है और कही नही मिलता है। इसलिए वेद मे 'भेदति' जैसा रूप भी मिलता है और भिन्दति, भिनत्ति जैसे रूप भी मिलते है।

५ कृदन्त प्रत्ययो के प्रयोग में भी नियमो की परवाह नही की गई है। 'त्वा और ल्यप्' का प्रायोगिक जो अन्तर सस्कृत मे मिलता है, वह छान्दस मे नही। 'त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' का प्रयोग धातु से पूर्व उपसर्ग जोड़ने पर ही किया जाता है, किन्तु छान्दस मे उपसर्ग युक्त धातु के साथ भी 'त्वा' का प्रयोग कर दिया जाता है, जवकि संस्कृत मे वहाँ पर त्वा का प्रयोग निपिद्ध है; यथा—परिधापयित्वा, आगत्वा आदि।

३-४ उपसर्ग और निपात—छान्दस मे उपसर्गो तथा निपातो का प्रयोग वहुतायत से पाया जाता है। हाँ! कही-कही उपसर्ग को मूल शव्द से पृथक् लिखने की शैली भी दृष्टिगत होती है। कितने ही उपसर्ग तो ऐसे है कि जिनकी व्युत्पत्ति भी सन्दिग्ध है। निपातो मे अकेले 'तुमुन्' अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले १८ प्रत्ययो का (निपात) विधान छान्दस मे उपलव्ध होता है।

कोष शव्द भण्डार के सम्वन्ध मे विद्वानो का मत है कि छान्दस के साहित्यिक भापा होने पर भी तत्कालीन वोलियो का प्रभाव उस पर देखा जा सकता है। अतः अनेक ग्राम्य शव्द वैदिक साहित्य मे खोजे जा सकते है। तैत्तिरीय सहिता मे प्रयुक्त सुवर्ग (स्वर्ग) शव्द का प्रयोग सामयिक वोली का ही लगता है।[15] न केवल छान्दस् की वोलियो के ही शव्द, वलिक तत्कालीन प्रचलित अनार्य भाषाओ के शव्दो को भी छान्दस मे ग्रहण किया गया है। 'कदली, नाग, कुण्डतूल, नीर' आदि शव्द द्रविड भापा परिवार और 'आस्ट्रिक भापा परिवार' के अधिक समीप है। इसी प्रकार 'लिङ्ग और लगुड' शव्दो की व्युत्पत्ति भी डॉ० चाटुर्ज्या ने आस्ट्रिक भापा के शव्द के आधार पर की है—'लक्' मूल शव्द लग्>लङ्ग्>लिङ्ग।[16]

---

[15] डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत भापा विज्ञान, पृष्ठ १६९।

[16] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ५०।

अर्थात् पश्चिमोत्तरी प्रदेश के उदीच्य जनों की। ब्राह्मण ग्रन्थों मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष केवल इन दो बोलियो का ही उल्लेख मिलता है किन्तु डॉ० चाटुर्ज्या का मत है कि इन दोनो के बीच एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी जो न तो पश्चिमोत्तर उदीच्य की भाँति रूढ़िबद्ध ही रही होगी और न पूर्व की प्राच्या की तरह शिथिल और स्खलित ही। अर्थात् वह दोनो के बीच के मार्ग का अनुसरण करती रही होगी।[21] उक्त दोनो प्रदेशों के बीच मे बोली जाने वाली बोली की कल्पना विद्वानो ने मध्य देशीय बोली के नाम से की है, जिससे आगे चल कर अनेक प्राकृतों, अपभ्रंशो एवं आधुनिक भाषाओ का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार हम कह सकते है कि ब्राह्मण ग्रन्थो के काल मे निम्नलिखित तीन बोलियाँ जन साधारण मे प्रचलित थी—

(१) **उदीच्या**—इसके क्षेत्र मे आधुनिक पंजाब एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् अफगानिस्तान तक का भू-भाग समाविष्ट किया जा सकता है।

(२) **मध्यदेशीया**—इसमे वर्तमान उत्तर प्रदेश आ जाता है।

(३) **प्राच्या**—प्राच्य देश के अन्तर्गत वर्तमान बिहार और बगाल आते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि छान्दस भाषा के साथ-साथ उपर्युक्त तीनो बोलियाँ धीरे-धीरे पनपती जा रही थी। इसके अतिरिक्त यदि हम समस्त वैदिक साहित्य का सूक्ष्म भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि ऋग्वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा परस्पर पूर्ण साम्य को व्यक्त करने मे सक्षम नही है। विशेषकर, रूप की दृष्टि से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि यह रूप छान्दस से अपेक्षाकृत कुछ सरल है। अतः बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन ऋषियो ने परस्पर की बोलचाल एव शिक्षण कार्य के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा मे किया हो। डॉ० चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति दो प्रकार से दिखाई है, या तो उस भाषा का नवीन रूप जो प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा का साहित्यिक रूप था और ब्राह्मण लोग पाठशालाओ मे अध्ययन करते थे, अथवा मध्यदेशीय और प्राच्या के उपादानो से युक्त उदीच्या का एक पुराना रूप।[22]

वास्तविक बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के रगमञ्च पर उपस्थित होने से पूर्व भारतीय आर्य भाषा अति तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर थी। इसका रूप अनेक शाखाओ और प्रशाखाओ मे बढ़ता जा रहा था। अनार्य जातियाँ इस विकास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही थी; एक तो

---

[21] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७३।

[22] वही, पृष्ठ ७५।

अशुद्ध उच्चारणो एवं प्रयोगो द्वारा आर्य भाषा की शब्दावली को नवीन रूप देकर—भर्तृ का भत्त या भट्ट उच्चारण करके—द्वितीय जाने और अनजाने में 'नारिकेल और हरिद्रा' जैसे अपने शब्दो का प्रवेश करवा कर। उधर भाषा की विकासशील प्रवृत्ति भी कार्य निरत थी।

उपर्युक्त प्रत्यालोचन के पश्चात् छान्दस युग की भाषागत स्थिति पूर्णत. स्पष्ट हो जाती है। इस समय भाषा तीन रूपो मे विकसित हुई सी दृष्टिगत होती है। इस विकास को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) 'छान्दस' की तीन बोलियाँ—(क) प्राच्या, (ख) मध्यदेशीया, (ग) उदीच्या—पूर्णतः प्रकाश मे आ चुकी थी।

(२) ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा, जिसे पाठशालाओं मे पढ़ाया जाता था।

(३) परस्पर बातचीत की विद्वानो की भाषा, जो छान्दस को पढ़ाने का माध्यम थी तथा जिसमे ब्राह्मण ग्रन्थो का सर्जन हुआ था।

यह तो सिद्ध हो गया कि बुद्ध से पूर्व उत्तर-भारत में तीन बोलियो का उद्भव हो चुका था, किन्तु यह सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लिखित सन्दर्भो पर ही आधारित है। आज हमारे समक्ष उन बोलियो का कोई भी रूप नही है जिससे उसका सूक्ष्म विश्लेषण कर नवीन तथ्यो को खोज निकाला जाए। अधिक से अधिक इन प्रदेशो की बाद की साहित्यिक भाषाओ के आधार पर उन बोलियों के रूपो एवं ध्वनियो का अनुमान लगाया जा सकता है। प्राचीन आधारो मे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्वनि-परिवर्तन का सकेत दिया है, जो डॉ. चाटुर्ज्या की दृष्टि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्याकरण अध्ययन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इन्होने लिखा है—

"तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्त· परावभूवु·। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एव यदपशब्दः।"[23]

वे असुर हेअलय! हेअलय! कहते हुए हार गए। अत. ब्राह्मण लोग अशुद्ध उच्चारण से म्लेच्छ भाषा बोलने वाले न बनें। इससे ज्ञात होता है कि अनार्य जन छान्दस 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण करते थे, द्वितीय

[23] गद्य परिजात—स० डॉ० सूर्यकान्त, पृष्ठ १६। टीका मे शतपथ को उल्लिखित किया है—'माध्यदिनाना शतपथब्राह्मणे तु "हेलवो हेवल इति वदन्तः"। वही, पृष्ठ २०। आर्यो की मूल जन्म भूमि मे यह पाठ इस प्रकार है—ते असुरा अत्त वचसो, हे अलयो! हे अलय। इति वदन्तः परावभूवुः तस्मान्न ब्राह्मण म्लेछेत्।

शतपथ ब्राह्मण मे पाठ भेद से 'हेलय' के स्थान पर 'हेलव' भी मिलता है।[24] इससे निष्कर्ष निकलता है कि वे 'य' के स्थान पर 'व' का उच्चारण करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख तत्कालीन बोली की प्रवृत्तियों का नही मिलता। इन आधारो पर जब बाद की साहित्यिक भाषाओ का अध्ययन करते है, तो मागधी प्राकृत मे सर्वत्र 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है; यथा—

राजा>लाजा, क्षोर>खोल, भर्ता>भल्ता, क्षुद्र>खुल्ल।

अब यदि मागधी को प्राच्या का साहित्यिक रूप इस आधार पर मान ले तो कुछ ऐसी प्रवृत्तियो को भी स्वीकार किया जा सकता है जिनका प्रयोग प्राच्या मे होता रहा होगा; यथा—'र त' के सयोग पर दोनो का मूर्धन्यीकरण हो गया है—वि>कृत>विकट, भर्तृ>भट्ट, कर्तृ>कट्ट, कृत>कट, नि>कृत>निकट—मध्य-देशीय मे ये रूप क्रमश· भत्त, कत्त आदि हुए होंगे।

डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत है कि प्राच्या की यह प्रकृति इतनी बलवती हो गई थी कि परवर्ती भाषा का द्योतक दशम मण्डल उसे अपनाए हुए है।[25] यथा —रम्>लम्, रोमन्>लोमन्, म्रुच्>म्लुच्। आपके अनुसार अन्य मण्डलो मे क्रमशः 'रम्, रोमन्, म्रुच्' का प्रयोग हुआ है।

इन सब मे उदीच्या मे ये ध्वन्यात्मक परिवर्तन नही हुए होगे। उदीच्या की यह मुख्य प्रकृति लक्षित की गई है कि वह परिवर्तन के प्रति विशेष रुचि नही रखती। अतः वह रूढिवादी एवं कट्टरतावादी है। डॉ. चाटुर्ज्या भी तिवारी जी के उपरिकथित मत से सहमत हैं।[26] आपने अनेक उदाहरणो द्वारा इस मत की पुष्टि की है।

भाषागत यह स्थिति अधिक से अधिक उलझनदार होती जा रही थी। ब्राह्मण ऋषि भाषागत शुद्धता के हामी होते हुए भी दिन प्रति-दिन छान्दस मे प्रवेश पा रहे, ग्राम्य बोलियों के शब्दो एव निपातो को रोक नही पा रहे थे। बहुत सम्भव है कि वेदो की ऋचाओ के रचयिता ऋषि उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशो के निवासी रहे हो तथा उनमे से कुछ भाषा-नीति मे उदार भी रहे हो और प्रान्तीय बोलियो के शब्दो को अपनाने मे हिचकचाहट न करते हो। परिणाम स्वरूप छान्दस् में विकल्पो की भरमार होती जा रही थी और

---

[24] वैयाकरण महाभाष्य, पृष्ठ २२—शाखान्तरे हेलव हेलवो· इति।

[25] हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ५५।

[26] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०७–११०।

व्याकरण के नियम शिथिल होते जा रहे थे ।[27] उधर प्राच्य लोग वैदिक कर्म-काण्ड के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करने लगे थे । फलतः छान्दस् को स्वीकार करने को तत्पर न थे । गौतम बुद्ध और उनके दो शिष्यों का छान्दस् के सम्बन्ध में संवाद ही इसका प्रमाण है । उस समय इस वढती हुई भाषा की रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक अव्यवस्था को अवरुद्ध कर देने के लिए तथा समस्त उत्तर भारत के समस्त जनों के लिए मान्य, उदीच्या बोली को आधार बना कर शालातुरीय विद्वान् पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रणयन किया और लगभग ई० पू० ५०० मे संस्कृत नाम की नवीन भाषा अस्तित्व मे आई ।

पाणिनि ने छान्दस् के रूप वैविध्य के प्रशमन हेतु अपने व्याकरण का सर्जन किया तथा इसी भाषा-संस्कार के कारण इसे "सस्कृत" कहा जाने लगा । इस संस्कृत भाषा मे कुछ ऐसी विशेषताएँ थी कि तुरन्त ही अफगानिस्तान से लेकर बगाल तक के ब्राह्मणो द्वारा अपना ली गई । अपनाने के पीछे स्पष्ट ही दो कारण थे, एक तो संस्कृत छान्दस की स्वछन्दता पर अकुश का काम करने के लिए प्रकाश मे आई थी और ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदो के प्रणेता ऋषि भाषा की इस अनेक रूपता से परेशान थे । अत· संस्कृत से उन्हे एक प्रकार का सुख मिला । दूसरे, सस्कार-कर्ता ब्राह्मण उस प्रदेश से सम्बन्ध रखता था जहाँ की बोली समस्त आर्यजन एक आदर्श बोली के रूप मे स्वीकार करते थे । संस्कृत की सब से बड़ी महत्ता यह है कि छान्दस के कट्टर विरोधी बौद्धो ने भी अपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन इस भाषा मे किया । इस प्रकार छान्दस के पश्चात् भारतीय आर्य भाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रूप संस्कृत के नाम से रंगमञ्च पर जम गया और आज तक न्यूनाधिक रूप मे भारतीय हिन्दू समाज

---

[27] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस अव्यवस्था का अच्छा निदर्शन किया है—विभिन्न स्थानो के आर्य, भाषा मे विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम मे लाते थे । 'तुम दोनों के लिए' कोई 'युवाम्' वोलता था, कोई 'युवम्' और कोई केवल 'वाम्' से ही काम चला लेता था । इसके अतिरिक्त 'पश्चात् और 'पश्चा', 'युष्मासु और युष्मे', 'देवा और देवास.', 'श्रवण और श्रोणा', 'अवद्योतयति और अवज्योतयति', देवैं और देवेभिः आदि दोहरे प्रयोग चलते थे । कुछ लोग विभक्ति न लगा कर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे (यथा—परमे व्योमन्), तो कुछ शब्द का अंग भंग करने पर सन्नद्ध थे । 'आत्मना—त्मना' इसका अच्छा उदाहरण है । कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप मे बोलता था तो दूसरा दूसरे रूप मे । एक 'ड' कही 'ल, ल्' कही 'ढ' तथा कही 'ल्ह' वोला जाता था । (हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ६) ।

के हृदयों पर जमी हुई है। हिन्दुओं के समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रम इसी भाषा के माध्यम से सम्पन्न होते है। संस्कृत पढ़ना एक पुण्य कार्य समझा जाता है। डॉ० चाटुर्ज्या ने सस्कृत के उद्भव के सम्बन्ध मे लिखा है—"उसके तथा उसकी भाषा के सौभाग्य से इसी समय एक महान् वैयाकरण का पश्चिमोत्तर प्रदेश मे उदय हुआ, जहाँ के जनसाधारण की बोलियाँ अब तक भी छान्दस और ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा के रूप तत्त्व, ध्वनि विज्ञान तथा व्याकरण की दृष्टि से इतनी निकट थी कि उनसे भिन्न प्रतीत न होकर केवल उसका एक लौकिक या प्रचलित रूप बनी हुई थी। इस लौकिक रूप पर स्थानीय जन भाषाओ की शब्दावली और मुहावरो का प्रभाव पड चुका था, तब भी पाणिनि ने अपने व्याकरण से हमेशा के लिए साहित्यिक सस्कृत के रूप मे नियम बद्ध कर दिया। इस प्रकार वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थो की साहित्यिक भाषा के पश्चात् भारतीय आर्य भाषा का तीसरा रूप साहित्यिक संस्कृत प्रतिष्ठित हुआ। मूलत यह उदीच्य बोलियो पर आधारित था और मध्य देश, पूर्व तथा दक्षिण के भी अखिल ब्राह्मण जगत् ने इसे सहर्ष स्वीकर कर लिया।"[26]

पूर्व कथित तीन बोलियो मे से उदीच्या ने साहित्यिक बाना पहन कर बोली से भाषा के पद पर अपने को अधिष्ठित कर अपनी पदवृद्धि का शंखनाद किया। यद्यपि इन दिनो गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी अपने प्रवचनो की अभिव्यक्ति छान्दस के माध्यम से न कर उनका प्रचार एव प्रसार तत्कालीन लोक-भाषाओ मे कर रहे थे तो भी वे सस्कृत के चतुर्मुखी विकास को रोक न सके और भाषागत इस सघर्ष मे बौद्धो एव जैनियो को पराजय का मुखावलोकन करना पडा।

सस्कृत का भाषा-तात्त्विक विवेचन

ध्वनि तत्त्व :

छान्दस की अति समीपी बोली उदीच्या पर आधारित होने पर भी सस्कृत मे ध्वन्यात्मक दृष्टि से अनेक स्थानो पर भिन्नता दृष्टिगत होती है। अनेक ध्वनियो को छोड दिया गया, अनेको के उच्चारण मे अन्तर आ गया।

स्वर—सस्कृत मे छान्दस के प्राय. समस्त स्वर मिलते है। केवल दीर्घ 'ॠ' और 'ॡ' का त्याग कर दिया गया। ह्रस्व 'ऌ' केवल 'क्लृप्' धातु मे ही प्रयुक्त हुई है। अइ (ऐ) अउ (औ) के उच्चारण शिथिल हो गए। डॉ० सरनामसिह ने स्वरों, व्यञ्जनो के उच्चारण मे हुए परिवर्तनो की भी

---

[26] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७७।

सूचना दी है।[27] 'श, स, ह्' से पूर्व मे अनुस्वार के विशेष उच्चारण को भी छोड़ दिया गया।

व्यञ्जन—१. 'ळ् और ळ्ह्' ध्वनियाँ सस्कृत मे नही मिलती।

२. उपध्मानीय और जिह्वामूलीय विसर्गो का प्रयोग और उच्चारण समाप्त हो गया।

३ मूर्धन्य ध्वनियो का विकास वढ गया।

४. अघोष अल्प प्राण ध्वनियाँ सघोष अल्प प्राण ध्वनियो मे धडल्ले से परिवर्तित होने लगी।

५ बलाघात की प्रवृत्ति समाप्त हो गई, पर उच्चारण के प्रति सतर्कता अधिक बढ गई। शेष समस्त छान्दस व्यञ्जन उपलब्ध होते है।

रूपतत्त्व :

सस्कृत मे छान्दस की भाँति ही तीन वचन, तीन लिङ्ग तथा आठ कारको का विधान मिलता है। छान्दस मे जहाँ कारको मे शब्दो के अनेक रूपो का विधान था उनमे से प्राय. एक को स्वीकार कर शेप रूपो को छोड़ दिया गया। 'देवा: और देवास.' मे से प्रथमा बहुवचन मे केवल 'देवा.' को ही स्वीकार किया गया। इसी प्रकार 'देवै और देवेभि·' मे से केवल 'देवै·', 'पतिना और पत्या' मे से केवल 'पत्या' को रख लिया गया। प्रथमा के द्विवचन मे 'अश्विन् और देवी' के सस्कृत मे 'अश्विनौ और देव्यौ' रूप ही उपलब्ध होते है। 'गुह्या और गुह्यानि' में से केवल 'गुह्यानि' प्रयोग ही स्थिर किया गया। कारक व्यत्यय और निर्विभक्तिक प्रयोगो को पूर्ण रूप से नही रोका जा सका।

आख्यात—छान्दस के आधार पर ही संस्कृत मे भी सभी धातुओ को दस गणो मे विभाजित किया गया है। धातुओं की तीनो वैदिक विशेपताएँ सस्कृत मे सुरक्षित है।

संस्कृत मे भी धातुओ का प्रयोग तीनो पदों—१ आत्मनेपद, २. परस्मैपद, ३. उभयपद—में किया जाता है। छान्दस की अव्यवस्था को यहाँ पर रोक दिया गया; यथा—'इच्छ्' छान्दस मे आत्मनेपद मे भी प्रयुक्त होती है और परस्मैपद मे भी, पर सस्कृत मे इसे परस्मैपद के लिए ही स्थिर कर दिया गया। इस प्रकार अनेक धातु-रूपों का स्थिरीकरण हमे सस्कृत मे मिलता है।

सस्कृत मे 'लेट्' लकार को छोड कर छान्दस के शेष नौ लकारो का प्रयोग उपलब्ध होता है; पर डॉ. उदयनारायण तिवारी का मत है कि शेप

---

[27] डॉ सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत पालि साहित्य और समीक्षा।

लकार भी छान्दस भाषा में जिन-जिन भावों की अभिव्यक्ति करते थे उनकी संस्कृत में नहीं करते । आपने अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"वैदिक तथा संस्कृत मे सब से अधिक भिन्नता धातु रूपों में दिखाई देती है । संस्कृत मे 'अभिप्राय' (लेट् Subjunctive तथा निर्बन्ध Injunctive) भावो के रूप लुप्त हो गए हैं । 'अभिप्राय' के उत्तम पुरुष के रूप संस्कृत मे अनुज्ञा (लोट् Imparetive) मे मिला लिए गए और निर्बन्ध भाव का प्रयोग केवल निषेधार्थक 'मा' अव्यय के साथ ही रह गया है । संस्कृत मे केवल वर्तमान काल मे ही धातु के विभिन्न भावो के रूप उपलब्ध होते हैं तथा सामान्य अतीत के 'विधि' (आशीर्लिङ्) के रूप मे मिलते हैं । वैदिक भाषा के वर्तमान सम्पन्न तथा सामान्य भविष्यत् के भी कुछ-कुछ भावों के रूप मिलते है ।"[28]

संस्कृति मे अनेक नवीन धातुओं की सृष्टि हुई है ।

सस्कृत में कृदन्तो के प्रयोग के प्रति तो अभिरुचि अधिक है, किन्तु अनेक रूप प्रतिबद्ध है; यथा—छान्दस में 'त्वा और ल्यप्' के प्रयोग मे कोई नियम नही, जबकि सस्कृत मे उपसर्ग रहित धातु के साथ 'त्वा' और उपसर्ग सहित धातु के साथ 'ल्यप्' का प्रयोग मिलता है ।

सस्कृत मे क्रियाजात विशेषणों तथा असमापक पदों का उतना प्राचुर्य नही है, जितना छान्दस भाषा मे है ।

उपसर्ग और निपात—छान्दस मे उपसर्गों को शब्द से पृथक् लिखने की जो प्रथा थी वह प्राय. समाप्त हो गई । निपातों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई, साथ ही वैदिक सस्कृत के ते, तवै, तात्, ताति, त्वन् आदि कृदन्त तथा तद्धित प्रत्यय लुप्त हो गए । छान्दस मे समास पद्धति तो पाई जाती है, पर संस्कृत मे विशेषकर उत्तर काल मे जितनी जटिल है, वैसी नही । छान्दस मे द्वन्द्व समास मे दो प्रणालियाँ काम मे लाई जाती हैं—पहली प्रणाली मे दोनो पद विशेषण होते है; यथा—नील-लोहित, ताम्र-धूम्र आदि । द्वितीय प्रणाली मे दोनो पद द्विवचन मे होते है, यथा—मित्रा वरुणौ, सूर्या चन्द्रमसौ, इन्द्रवायू. पर सस्कृत मे इन सब के स्थान पर द्वन्द्व समास मे केवल अन्त्य पद के लिए द्विवचन का विधान कर उसका रूप स्थिर कर दिया गया; यथा—रामलक्ष्मणौ, मातापितरौ ।

कोष—सस्कृत के शब्द भण्डार को सर्वाधिक मात्रा मे प्राकृत भाषाओं ने प्रभावित किया । वट, निकट, विकट, नापित जैसे शब्द प्राकृत है । तदुपरान्त

---

[28] हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ५८ ।

द्रविड़ भापाओ के शब्दो को भी सस्कृत मे विद्वानों ने चिह्नित किया है; यथा—नारिकेल, कदली, तन्दुल, ताम्बूल, हरिद्रा आदि ।

साहित्य—सस्कृत साहित्य विश्व की किसी भी भापा के साहित्य के साथ तुलना के लिए रखा जा सकता है । वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ, दण्डी जैसे महाकाव्यकार, कालिदास, भवभूति जैसे नाटककार तथा भरत, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे काव्यमर्मज्ञ आचार्य पाणिनि, पतञ्जलि, वररुचि जैसे वैयाकरण और चरक तथा सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचार्य सस्कृत भाषा ने पैदा किए । दर्शनो का सूक्ष्म विश्लेषण संस्कृत भापा की अपनी निधि है । गीता जैसी कर्म सिद्धान्त की पुस्तिका और वेदान्त जैसा अध्यात्म सिद्धान्त विश्व मे वेजोड़ है । इनके अतिरिक्त संस्कृत भाषा में ज्योतिष, गणित, बीजगणित, रेखागणित जैसे विषयो का भी सूक्ष्म निदर्शन है । कहने का तात्पर्य यह है कि वाङ्मय के सभी रूपो का विवेचन संस्कृत मे उपलब्ध होता है और वह भी उच्चकोटि का ।

तृतीय अध्याय

मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

प्राच्या बोली का विकास—गौतम बुद्ध का अपनी मातृ-भाषा में ही उपदेश देना—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का काल-विभाजन—प्राकृत भाषाओं की प्रकृति पर विचार-विमर्श—चण्ड, हेमचन्द्र, दण्डी, वाग्भट्ट, मार्कण्डेय, षड्भाषा-चन्द्रिका, धनिक, प्राकृत-चन्द्रिका, पाश्चात्य एवं आधुनिक भाषा वैज्ञानिक—वैदिक संस्कृत और प्राकृतो का सम्बन्ध—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—छान्दस से अथवा संस्कृत से—प्राकृतों की महत्ता का दिग्दर्शन—प्राकृतों की संख्या—कुवलयमाल कथा तथा अन्य वैयाकरण एवं डॉ. चटर्जी का मत।

संस्कृत को यद्यपि समस्त उत्तर भारत ने एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के रूप मे अपना लिया था, फिर भी भाषा का यह संघर्ष गौतम बुद्ध के कार्य क्षेत्र मे अवतरित होने तक गम्भीर रूप धारण कर चुका था। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि अनार्यों के सम्पर्क मे आने से छान्दस भाषा अपना स्वरूप सुरक्षित नही रख सकी थी और प्राच्य-प्रदेश की भाषा छान्दस से इतनी दूर जा चुकी थी कि उदीच्य निवासी को उसे समझने में कठिनाई होती थी। अत: भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों के प्रसार एवं प्रचार के लिये अपनी मातृ-भाषा को ही साधन बनाया और परिणाम स्वरूप प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ। अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सस्कृत के समान प्राकृत भी कोई एक साहित्यिक भाषा थी जो समस्त भू-खण्ड पर अपना एकछत्र प्रभुत्व जमाए हुए थी; अथवा भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे भिन्न-भिन्न नाम वाली प्राकृते अपने साहित्य-सर्जन में लीन थी। यदि साहित्य की प्राचीनता की दृष्टि से उपर्युक्त बोलियो के अभ्युत्थान के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो ऐसा लगता है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा को तीन मुख्य वर्गों मे पर्वों अथवा अवस्थाओ मे विभाजित करना पड़ेगा, क्योकि ये तीनो वर्ग अपनी विशेषताओं एवं प्रवृत्तियो की दृष्टि अपने आप मे आदिकालीन भारतीय आर्य भाषा के तीन वर्गो की अपेक्षा अधिक अन्तर एव गहन विकास के चिह्नों को धारण किए हुए है।

इस विभाजन को डॉ. चाटुर्ज्या ने अपनी पुस्तक, 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी (पृष्ठ १०८ पर)', मे चार अवस्थाओ मे प्रदर्शित किया है—म. भा. आ. की विभिन्न अवस्थाओं—प्राथमिक म. भा. आ. परिवर्तन कालीन म. भा. आ. द्वितीय या माध्यमिक म. भा. आ. तथा अन्त्य म. भा. आ. या अपभ्रंश—किन्तु कुछ आगे चलकर आपने केवल उसे तीन तक ही सीमित कर दिया है—एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न आद्य, मध्य तथा अन्त्य म. भा. आ. की विभिन्न बोलियो के प्रादेशिक सम्बन्धो का निरूपण करना है।[1] डॉ. उदय-नारायण तिवारी ने इसे पर्वों की संज्ञा दी है, किन्तु अवस्थाये तीन ही निरूपित की है—जनपदीय भाषाओं का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित-परिवर्धित होता रहा। ६०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के १६०० वर्षों तक भारतीय आर्य भापा विभिन्न प्राकृतो तथा तत्पश्चात् अपभ्रश के रूप मे विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी बनी। आर्य भाषा के मध्य-

---

[1] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०८-१०९।

कालीन स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिये १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों में बाँटा जा सकता है—

१. प्रथम पर्व, जिसमे लगभग २०० ई० पू. तक प्रारम्भिक परिवर्तन तथा २०० ई० पूर्व से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

२. २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।

३. ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व।

कुछ विद्वान् इन्हे—१. प्रथम प्राकृत, २. द्वितीय प्राकृत व ३. तृतीय प्राकृत कहकर भी अपना कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। हम इन्हे इन सभी अप्रत्यक्ष नामो से अभिव्यक्त न कर प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप मे—१. पालि तथा अशोक के शिला-लेखो की भाषा, २. साहित्यिक प्राकृते, तथा ३. अपभ्रंश—अभिहित करना ही उचित समझते है। वस्तुतः विद्वानो ने मध्य भारतीय आर्य भाषा काल की समस्त भाषाओं को ही प्राकृत माना है और देश-भेद के अनुसार ही वे इनका वर्गीकरण करते है, जो उचित नही है। इससे पूर्व कि हम मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की तीन अवस्थाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करें, यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'प्राकृत' शब्द के स्वरूप को समझ ले कि मध्यकालीन भाषा का नाम "प्राकृत" क्यो पडा ? 'प्राकृत' शब्द पर विचार करते हुए प्राकृत वैयाकरणो ने इसकी व्युत्पत्ति 'प्रकृति' शब्द से सम्पन्न की है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि किसी न किसी भाषा की प्रकृति होती है तथा उस प्रकृति से उत्पन्न रूप ही 'प्राकृत' कहलाता है। प्रकृति शब्द का निर्वचन है—'प्रक्रियते उत्पद्यते यया सा प्रकृतिः'। सर्वप्रथम 'प्राकृत-सर्वस्व' के रचियता 'चण्ड' ने प्राकृत के लक्षण मे बताया है कि प्राकृत वह भाषा-विशेष है जिसकी योनि (उद्भूयते यस्या सा योनिः) संस्कृत है। 'संस्कृत-योनि' इति प्राकृतस्य प्रकारं लक्षितवान्।[2] प्राकृत भाषा के महान् वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'प्राकृत शब्दानुशासन' मे 'अथ प्राकृतम्' (८.१-१) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृति संस्कृत है, उससे उत्पन्न अथवा विकसित भाषा ही प्राकृत है।" (अथ प्राकृतम्, ८.१-१) प्रकृतिः सस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है। आपके अनुसार महर्षियो ने सस्कृत को देववाणी कहकर उसकी व्याख्या की है। इसी देववाणी से विकसित अथवा इसी के समान शब्दो वाली अनेक प्राकृतो

---

[2] अपभ्रंश काव्य त्रयी, भूमिका, पृष्ठ ८२।

का क्रम है ('संस्कृतं नाम दैवी—वागन्वाख्याता महर्षिभिः । तद् भवस्तत्समो-देशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः) ।'[3]

वाग्भट्ट ने भी लगभग दण्डी से मिलते-जुलते विचारो की ही, इस विषय पर अभिव्यक्ति की है। आपके अनुसार भी सस्कृत देवताओ की भाषा है तथा शब्द-शास्त्र मे उसका स्वरूप भी स्थिर कर दिया गया है। प्राकृत तो संस्कृत से विकसित तथा उन्ही के समान देशी शब्दो से युक्त अनेक प्रकार की है।

यथा—'सस्कृत स्वर्गिणा भाषा शब्द-शास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृतं तज्ज-तत्तुल्य-देश्यादिकमनेकधा' ।[4] कथारूपकपरिभाषा मे भी प्राकृत को संस्कृत की **विकृति** ही माना है। ('प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता। तद्भवा सस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा।')। (षड्भाषा चन्द्रिकायाम्)

'प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।' (मार्कण्डेय—पृष्ठ १)

'प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः सस्कृतम्'। (धनिक दशरूपक—वृत्ति २/६०)

'प्रकृतिः सस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्'। (प्राकृत चन्द्रिका)

'प्राकृतस्य सर्वमेव सस्कृतम् योनिः। (वासुदेव-कर्पूरमञ्जरी टीका)

उपर्युक्त उद्धरणो के अध्ययन के पश्चात् हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते है—

१. क्या मध्यकालीन प्राकृत भाषाएँ संस्कृत भाषा का विकृत रूप है ?

२. क्या प्राकृतो की अपनी कोई लोक बोली थी ? यदि हाँ, तो उस बोली का उद्भव क्या है ?

हम इससे पूर्व यह देख चुके है कि अनार्यो के सम्पर्क मे आने से छान्दस भाषा मे विकार उत्पन्न होते जा रहे थे, इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। 'र' और 'ल' का अभेद जिसकी ओर 'शतपथ-ब्राह्मण' मे 'हे अरय.' के स्थान पर 'हे अलय' का उदाहरण देकर निर्देशित किया है। वह प्राच्य भाषाओ की विशेषता मागधी प्राकृत मे भी उपलब्ध होती है। दूसरे प्राकृत भाषा मे प्राप्त अनेक तद्भव शब्दो की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा से सिद्ध नही होती। विद्वानो का मत है कि उक्त शब्द छान्दस भाषा के उन शब्दो के तद्भव रूप है जिनका प्रयोग सस्कृत मे बन्द हो गया था। ऋग्वेद मे अकारान्त शब्दो के प्रथमा एवं तृतीया के बहुवचन मे 'देवा. और देवै' रूपो के साथ साथ 'देवास और देवेभिः' रूप भी उपलब्ध होते हैं। सस्कृत मे अकारान्त शब्दो के क्रमश प्रथमा बहुवचन एव तृतीया बहुवचन के

---

[3] काव्यादर्श, १/३३।

[4] वाग्भटालङ्कार, २/२।

'आसः और एभिः' वाले रूपों का प्रयोग प्राप्त नही होता है। पालि में प्रथमा बहुवचन 'आ और आसे'[5] अन्त वाले रूप (दोनों) उपलब्ध होते है; यथाः—देवा और देवासे'। तृतीया बहुवचन में संस्कृत में स्वीकृत 'देवैः' रूप का अनुकरण न कर छान्दस के 'देवेभिः' के आधार पर 'बुद्धेहि और बुद्धेभि' रूपो के प्रयोग का प्रचलन दृष्टिगत होता है। आगे चलकर अन्य प्राकृतों ने भी छान्दस के 'एभिः' वाले रूप को ही अपनाया है; यथा—देवेहि, देवेहिँ, देवेहिं। इन रूपो को देखते हुए लगता है कि मध्यकालीन आर्य भाषाओं का विकास संस्कृत की सरणि पर न होकर स्वतन्त्र रूप से हुआ है। अतः संस्कृत को इन भाषाओं की योनि कहना औचित्य की सीमा में नहीं आता।

यदि हम यह बात मान लें कि छान्दस भाषा से ही अनेक प्रादेशिक बोलियों का विकास हुआ और इन्ही बोलियों का विकसित एवं परिमार्जित रूप साहित्यिक प्राकृतें है तो हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर तत्कालीन प्राकृत-वैयाकरणो ने (जो इन भाषाओं को बोलते भी थे तथा इनके पण्डित भी थे) प्राकृतों का उद्‌भव संस्कृत से क्यों माना है? क्या वे गलती पर थे? प्राकृत के इन महान् पण्डितो को गलत कहना ऐसा ही होगा जैसा कि पाणिनि जैसे विद्वान् को संस्कृत का अल्प ज्ञाता कहना। क्योकि जो स्थान सस्कृत मे पाणिनि का है, वही स्थान प्राकृतों मे हेमचन्द्र, चण्ड तथा मार्कण्डेय आदि का भी है। तो फिर हमे मान लेना चाहिए कि प्राकृतो का उद्‌भव संस्कृत से ही हुआ है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है। यदि हम इसे स्वीकार करते हैं तो हमारे सामने यह समस्या आती है कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे जिसे भ्रष्ट-भाषा कहा गया है उसका क्या हुआ? या तो वे अपनी मौत स्वय मर गई या फिर उनका लिखित साहित्य उपलब्ध नही है। परन्तु बात ऐसी नही है। प्राकृत-व्याकरणकारों ने जो कुछ कहा है, उसको यदि हम गहराई से विचारे तो हमारी समस्या का समाधान हो जाता है। बात यह है कि व्याकरण तब लिखा जाता है जब कोई भाषा पूर्ण प्रकाश मे आ जाती है तथा कवि और साहित्यकार उसे अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए अपना लेते हैं। लक्षण ग्रन्थों की रचना हमेशा लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर होती है। जब 'चण्ड' अपना 'प्राकृत-सर्वस्व' और हेमचन्द्र 'प्राकृत-शब्दानुशासन' लिख रहे थे, संस्कृत उस समय सर्वोच्च वर्ग की एक समृद्ध भाषा थी, जिसके सभी रूप स्थिर एवं सिद्ध थे। भाषा का

---

5 "प्रथमा के बहुवचन मे कभी-कभी 'आसे' प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप 'देवासः' की छाया पर ज्ञात होता है।"

आद्यादत्त ठाकुर कृत पालि-प्रबोध, पृष्ठ ३१।

एक अपना नियम और सिद्धान्त था। पठन और पाठन की वह भाषा थी तथा समाज की सर्वाधिक जनसंख्या का वह सांस्कृतिक निरूपण करती थी। अतः ये विद्वान् भी सस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात् ही देशी भाषाओं की ओर अग्रसर हुए होगे और उन सिद्ध शब्दों के साथ ही देशी भाषा मे प्राप्त शब्दो की सगति बैठाने में अपने कर्तव्य की 'इति-श्री' समझते रहे होगे। क्योकि इन वैयाकरणो द्वारा अपनाई गई शैली ठीक वैसी ही है, जैसी कि संस्कृत-वैयाकरणों की थी। उसी प्रकार से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान इन लोगों ने अपनी व्याकरणो मे किया है। अत. हो सकता है इस प्रकार से इन्होने प्रत्येक शब्द की सगति संस्कृत शब्दो के साथ बिठा कर इन्हे 'संस्कृतजा' कह कर छुट्टी ले ली हो। फिर एक बात यह भी है कि संस्कृत अधिकाशतः छान्दस् जैसी ही है। केवल छान्दस् में जो अनेक-रूपता पाई जाती थी उस पर ही विशेष प्रतिबन्ध सस्कृत मे दृष्टिगोचर होता है। अतः उन अनेक रूपी शब्दो को छोड़कर प्राकृत के अन्य रूपो एवं ध्वनियो की सिद्धि सस्कृत के आधार पर सरलता से की जा सकती है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि प्राकृत वैयाकरणो ने उन रूपो की ओर ध्यान न देकर केवल शेष रूपों की सिद्धि संस्कृत से सम्भव देखकर उन्हे 'संस्कृतजा' कह दिया हो।

यद्यपि कतिपय स्थानो पर इस बात का विरोध भी प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है, किन्तु जहाँ कही इस बात का विरोध भी हुआ है तो वह भाषा-वैज्ञानिक न होकर पूर्णत. धार्मिक रहा है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से प्राकृत के अधिकांश वैयाकरण जैन विद्वान् हुए हैं। इन्होने प्राकृतो को 'सस्कृतजा' मान कर भी, अर्धमागधी को आदिम भाषा सिद्ध करने का खोखला प्रयास किया है। उसे पशु एवं पक्षियो द्वारा समझी जाने वाली भाषा कह कर शायद इन्होने अधिक गौरवान्वित करना चाहा है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से कही पर भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया गया कि अर्धमागधी संस्कृत या छान्दस की पूर्वजा किस प्रकार से सम्भव है? वाक्पतिराज ने प्राकृत को एक महासमुद्र कहा है, जिससे सभी भाषाएँ उत्पन्न होती है[6]—

'सकलाश्चेमा वाच. प्राकृत-महार्णवाद् निर्यान्ति तत्रैव च प्रविशन्ति।'

राजशेखर ने इसे संस्कृत की योनि कहा है—'तद् योनिः किल सस्कृतस्य'।[7] अतः जैन विद्वानो या अन्य प्राकृत वैयाकरणो या काव्य-शास्त्रज्ञो ने कहने को तो कह दिया कि प्राकृत अर्धमागधी सस्कृत की योनि है, पर क्यो? और कैसे? यह बताने का कष्ट नही किया। अत इन विद्वानो के उक्त भाषाओ के

---

[6] 'गउड़ वहो' (गौड़वधः) सयलाओ इमं वाया विसंत्ति एत्तो य णेंति वायाओ।

[7] काव्य-मीमांसा—भूमिका, पृष्ठ १६।

लिए जो प्रशस्ति-वाक्य उपलब्ध होते हैं, वे केवल मात्र धार्मिक कट्टरता के ही सूचक हैं, शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक तथ्य नही। अतः उन्हे सिद्धान्त सूत्र नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त उन प्राकृत वैयाकरणों की मान्यता कि प्राकृतो का उद्भव संस्कृत से हुआ है, सही नही प्रतीत होती, क्योकि भाषा-वैज्ञानिक तथ्य एवं पुरातन सकेत यह द्योतित करते हैं कि मध्यदेशीय एव प्राच्य बोलियाँ संस्कृत के अस्तित्व मे आने से पहले ही प्रकाश मे आ चुकी थी। उक्त बोलियाँ ही वस्तुत मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ के विकास का आधार हैं। अतः समझ में नही आता कि संस्कृत प्राकृत भाषाओ की योनि कैसे कही गई? डॉ. श्यामसुन्दर ने साहित्यिक प्राकृतो से अनेक ऐसे शब्दों को उद्धृत किया है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण से सिद्ध नहीं की जा सकती। इनके मत से ऐसे शब्दो का उद्भव सस्कृत से नही, छान्दस् से हुआ है।[8] किसी भाषा मे प्राचीन भाषा के तद्भव रूपों की प्राप्ति भी इस बात की पुष्टि नही करती कि वह उसकी जन्मदात्री है और इसका तात्पर्य यह भी नही निकाल लेना चाहिए कि उस भाषा-विशेष का उद्भव उसकी पूर्ववर्ती भाषा से न होकर पूर्ववर्ती भाषा की पूर्ववर्ती भाषा से हुआ है। यदि इसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेंगे तो कम से कम हिन्दी और बगला का उद्भव तो सीधे संस्कृत से स्वीकार करना पड़ेगा।

सिद्धान्ततः जिस भाषा के सुबन्त एवं तिङन्त रूप अपनी पूर्ववर्ती भाषा के सुबन्तो एव तिङन्तो के तद्भव रूप हो तथा जिस भाषा की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ उस भाषा की अन्तिम प्रवृत्तियो—ध्वन्यात्मक, रूपात्मक आदि—के साथ साम्य प्रकट करती हो, तभी कहा जा सकता है कि अमुक भाषा का विकसित रूप अमुक भाषा है। संक्षेप मे कह सकते हैं कि दोनों के प्रकृति और प्रत्ययो मे सगति होनी चाहिए, जो विकास के सूत्र से सवलित हो।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर यदि हम प्राकृत भाषाओ का परीक्षण करें तो परिणाम स्पष्ट है कि संस्कृत, व्याकरण के नियमो मे इतनी निबद्ध कर दी गई थी कि उसका तुरन्त विकास होना सम्भव नहीं था। यद्यपि विकास के इस प्रवाह को पाणिनि की अष्टाध्यायी भी पूर्णतया अवरुद्ध करने मे सफल न हो सकी, क्योकि पूर्ववर्ती संस्कृत और परवर्ती संस्कृत की प्रकृति मे एक सूक्ष्म विकास का सूत्र देखा जा सकता है और पतञ्जलि का महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रो की व्याख्या ही नही है, वल्कि संस्कृत के विकसित नवीन रूपो की सिद्धि का प्रस्तुतीकरण भी है। दूसरे यदि हम डॉ. चाटुर्ज्या को प्रमाण माने तो संस्कृत का उदय ई० से ५०० वर्ष पूर्व स्वीकार करना

---

[8] हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ११-१२।

पड़ेगा । इन्होने डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा प्रदत्त पाणिनि के जन्म-काल की तिथि ही अधिकृत एव सही रूप मे स्वीकार की है ।[9] ठीक इसी तिथि के आस-पास तथा कुछ इससे भी पहले आर्यों मे प्राकृतों की आधारभूत बोलियाँ प्रकाश मे आ चुकी थी। अतः वे प्राकृते, जो संस्कृत के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र मे अवतरित हो चुकी थीं, कभी भी सस्कृत से विकसित भाषाएँ नही कही जा सकती । जब हम यह मान्यता स्वीकार कर लेते है तो हमारे समक्ष एक प्रश्न और उपस्थित होता है जिसका उत्तर अवश्यम्भावी है और वह यह कि फिर प्राकृत वैयाकरणो ने संस्कृत को प्राकृत भाषाओ की प्रकृति, योनि अथवा उत्पादिका आदि क्यो कहा है ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि संस्कृत और छान्दस का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है और वह अन्तर यह है कि छान्दस के कतिपय प्रयोगो और शब्द रूपो का सस्कृत मे लोप हो गया । शेष प्रयोगो और शब्द रूपों मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगत नही होता, जिससे कि प्राकृत शब्दो की तरह सस्कृत शब्दो को भी तद्भवादि शब्दो की कोटि मे रखा जा सके । सक्षेप मे इसे यो भी स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृत छान्दस का ही वह व्यवस्थित रूप है जिसमे व्यक्तिगत स्वच्छन्दता के लिए कोई स्थान नही रहा । दूसरे इस तथ्य से भी हम दूर नही जा सकते कि प्राकृत व्याकरणो के निर्माण काल के समय सस्कृत का प्रभाव उल्लेखनीय था । वह न केवल भारत के एक बहुत बडे शिक्षित और अशिक्षित समुदाय की ही समादृत भाषा थी, बल्कि प्रायः समस्त एशिया मे इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था । डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे "सस्कृत की दिग्विजय" घोषित किया है—'सस्कृत की भारत और भारत से बाहर दिग्विजय की उपरिलिखित कुछ अप्रासङि्गक चर्चा का उद्देश्य चार सस्कृतियो—एक आर्य और तीन अनार्य (द्रविड़, निषाद एव किरात) के भारत मे हुए एकीकरण का महत्त्व दिखलाना था।[10] अत. ऐसी स्थिति मे प्राकृत वैयाकरण भी सस्कृत की इस चकाचौध मे छान्दस भापा के स्वरूप को न पहचान सके हो तो कोई आश्चर्य नही तथा दूसरे प्राकृत के अधिकांश शब्द-रूप इस प्रकार के है, जो सस्कृत शब्दो के तद्भव रूप कहे जा सकते है, क्योकि सस्कृत मे वे शब्द छान्दस् भाषा से तत्सम रूप मे आ गए थे और उन्हे ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया गया था। अतः प्राकृत शब्दावली समान रूप से छान्दस भाषा की शब्दावली और सस्कृत भाषा की शब्दावली का तद्भव रूप कही जा सकती है । यदि ऐसी बात है तो फिर प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत भापाओं का सम्बन्ध छान्दस भाषा से क्यो नही

---

[9] भारतीय आर्यभापा और हिन्दी, पृष्ठ ७७ ।

[10] वही, पृष्ठ ६५ ।

स्थापित किया, संस्कृत से ही क्यों किया ? उत्तर स्पष्ट है कि बौद्धों एवं जैनो का, जिनके धर्म का अभ्युदय ही वैदिक ऋषियों एव ब्राह्मणो की यज्ञ-प्रधान सस्कृति के विरोध मे हुआ था तथा इन भाषाओ पर जिनका पूर्ण आधिपत्य था, छान्दस भाषा के प्रति आन्तरिक वैमनस्य हो सकता है। भगवान् तथागत का अपने शिष्यो को उनके उपदेशों को छान्दस मे अनूदित करने की अनुमति न देना ही इसका प्रमाण है। "जब प्राच्या बोली छान्दस् तथा ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा से इतनी दूर चली गई कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति के लिए प्राच्यो की भाषा को समझने में कठिनाई होने लगी, तो बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यो ने यह प्रस्ताव रखा था कि तथागत के आदेशो को प्राचीन भाषा छान्दस अर्थात् सुशिक्षितों की साधुभाषा मे अनूदित कर लिया जाए; परन्तु बुद्ध ने इसे अस्वीकृत कर दिया और साधारण मानवो की बोली को ही अपने प्रवचन-प्रसार का माध्यम रखा। उनका यह अनुरोध रहा कि समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करे।[11] इससे सिद्ध होता है कि वे लोग छान्दस को किसी भी तरह का महत्त्व देने के लिए तत्पर न थे। एक यह भी कारण हो सकता है कि बौद्ध और जैन विद्वान् संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत के लिए उनके हृदय में भी आदर की भावना थी। इसीलिए इन्होने संस्कृत भाषा को प्राकृतों का मूल माना, जो कि वास्तव मे नहीं है।

अन्त मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा से प्राकृतो का उद्भव किसी रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। प्राकृतो का उद्भव छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी तो) के ही विकसित रूप का परिणाम है। ये प्राकृतें देश-भेद के अनुसार अर्थात् भिन्न प्रदेशो मे कुछ अन्तर से बोली जाने के कारण अनेक थी। "कुवलयमाल कहा"[12] "राज प्रश्नीय सूत्र",[13]

---

[11] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी ('संकाय निरुत्तिया' से उद्धृत अवतरण के अनुसार), पृष्ठ ७६।

[12] जाव थो अन्तरे दिट्ठ इमिणा आवेयय। (व) णि अपसारया बुद्धकय विक्कय पयत्त वट्टमाण कलयरव हट्टमग्ग ति। तत्थय पवि समाणेठ दिठ्ठ अणेय देस भासा लक्खिए देस वणिए ·····इअ अट्ठारस देसी भासाउ पुलहऊण सिरि अत्तो। अण्णाइं अ पुल एई खस पारस वव्वरादीए। (कुवलयमाल कहा—अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृष्ठ ९१ तथा ९४ से उद्धृत)

[13] तए ण से दढ पतिण्णे दारए उम्मुक बाल भावे विण्णाय परिणयमित्ते जोव्वण गमणुपत्ते बावत्तरि कला पडिए अट्ठारस विह देसिप्पगार भासा विसारिए णवग सुत्त पडि व्रोहए गीय रई गंधव्व नट्ट कुसले सिंगारागार चारू वेसे। (राज-प्रश्नीय सूत्रे—आ० समिति० प्र०, पृष्ठ १४८)

औपपातिक सूत्र,[14] विपाक सूत्र,[15] ज्ञात सूत्र,[16] जैन सिद्धान्त, जिनदास महत्तरेण[17] आदि मे अठारह प्राकृतो का वर्णन आता है, जिन्हे देशी भाषा के नाम से व्यवहृत किया गया है। 'कुवलयमाल' ग्रन्थ मे एक वृत्तान्त आता है कि श्रीदत्त ने थोड़े से अन्तर पर अनेक व्यापारियो से आपूरित पण्य-वीथि को देखा, जहाँ पर व्यापारी लोग अपनी-अपनी भाषा मे वार्तालाप कर रहे थे। इस प्रकार श्रीदत्त ने अठारह देशी-भाषाओ के बोलने वालो को वहाँ पर देखा। इसके अतिरिक्त पारस, खस, बब्बरी आदि भाषा-भाषी जनों को भी देखा। कुछ ऐसी ही कथाएँ जैन सूत्र ग्रन्थो में भी मिलती है।

जैन सूत्र ग्रन्थों मे जो अधिकाशतः अर्धमागधी भाषा में लिखे गए है, ऐसे अनेक वृत्त आते है, जिनमे अठारह देशीय भाषाओ का प्रसङ्ग आता है। कही किसी राजकुमार को अठारह भाषाओं का पडित बताया गया है, तो कही गणिकाओं को अष्टादश-भाषा-विशारदा कह कर सम्बोधित किया गया है। सूत्र ग्रन्थो की अर्धमागधी, साहित्यिक अर्धमागधी, जिसकी गणना महाराष्ट्री आदि के साथ की जाती है, से अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए डॉ. सक्सेना ने इसे प्राचीन अर्धमागधी नाम से अभिहित किया है। इस तरह हम कह सकते है कि पालि के समय में ही समानान्तर रूप से उक्त अर्धमागधी भी विकसित हो चुकी थी और उसमें सूत्र ग्रन्थ लिखे जाने प्रारम्भ हो गए थे। इन ग्रन्थों मे अठारह देश्य-भाषाओं का वर्णन यह सिद्ध करता है कि उस समय मे (चाहे भाषाओ के रूप मे नही) ये बोलियाँ निश्चय ही प्रकाश मे आ चुकी होंगी।

---

[14] तए णं से दढ पइण्णो दारए बावत्तरि कला पडिए नवग सुत्त पडि बोहिए अट्ठारस देसि भासा विसारिए गीय रत्ती गधव्वणट्ट कुसले।
(औपपातिक सूत्र—आ० समिति प्र०, पृष्ठ ९८)

[15] तत्थ णं वाणिय गामे कामज्झया नाम गणिया होत्था। बावत्तरि कला पडिया चउसट्ठी द्विगणिया गुणोववेया एगूणतीस विसेसे, रमयणि एक्कवीस रति गुणप्पहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला णवंग सुत्त पडिबोहिया अट्ठारस देसि भासा विसारिया सिंगारागार चारु वेसा गीय रई गंधव्व नट्ट कुसला।
(विपाक सूत्रे—अ० २, सू० ८ आ० समिति० प्र०, पृष्ठ ४५)

[16] त तेणं से ये हे कुमारे बावत्तरि कला पंडिए णव गंध सुयत्त पडि बोहिए, अट्ठारस विहिप्पयार देसि भासा विसारिए गीय रई गधव्व नट्ट कुसले।
(ओ० इ० ता० प० २५ आ० समिति प्र०, पृष्ठ ३८)

[17] तत्थ णं चपाए णयरीए देवदत्ता णाम गणिया परिवसइ चउसट्ठि कला पडिया चउसट्ठि गणिया गुणोववेया अउणतीस विसेस रममाणी एक्कवीस रइगुण प्पाहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला, णवग सुत्त पडिबोहिगा अट्ठारस देसि भासा विसारया सिंगारागार चारु वेसा। (ओ० इ० ता० प० ७१ आ० समिति प्र०, पृष्ठ ९२)

इस प्रकार हम कह सकते है कि देशी भाषाएँ छान्दस युग से ही पनप रही थीं जिनमें सर्वप्रथम उदीच्य वालों ने अपनी बोली के आधार पर संस्कृत का स्वरूप निर्धारण कर उसे साहित्यिक रगमञ्च पर प्रतिष्ठित किया। इसके पश्चात् मध्यदेशीय बोली से विकसित पालि भाषा ने साहित्यिक वेश-भूषा धारण की और इसके साथ ही साथ प्राच्या बोली ने मागधी के नाम से साहित्य-संसार मे प्रवेश किया। इन दोनों प्रदेशों के मध्य जन-साधारण मे एक अन्य बोली भी प्रचलित थी जिसमें मध्यदेशीया एव प्राच्या के तत्त्व मिश्रित थे। इस बोली के विकसित साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने अर्धमागधी भाषा के नाम से अभिहित किया। जैन धर्म के प्रचारको ने इसे ही अपनी धार्मिक भाषा स्वीकार कर इसके माध्यम से अपने धर्म का प्रचार किया। जब मागधी और अर्धमागधी लगभग साहित्यिक स्वरूप या परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर चुकी थी, उस समय अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मध्यदेश मे एक अन्य भाषा पनप रही थी जिसका प्राचीन रूप पालि कहा जा सकता है (यद्यपि अभी सभी विद्वान् इस पर एक मत नही हैं), उसे विद्वानो ने शौरसेनी प्राकृत के नाम से अभिहित किया। उपर्युक्त प्राकृतो के साथ-साथ प्राकृत वैयाकरणो ने एक अन्य प्राकृत भाषा का नाम गिनाया है, जिसे महाराष्ट्री कहा जाता है। महाराष्ट्री जैसा कि इसके नाम से भी व्यञ्जित होता है, तथा प्राकृत वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है कि यह महाराष्ट्र प्रदेश की बोली का विकसित साहित्यिक रूप है, परन्तु आधुनिक भाषा-विज्ञ इससे सहमत नही हैं। ये इसे शौरसेनी प्राकृत का पश्चकालीन विकसित रूप मान कर चलते हैं। यह भाषा अपने समय की सर्वाधिक लोक-प्रिय भाषा रही है। प्राकृत वैयाकरणों ने तो 'प्राकृत' शब्द को महाराष्ट्री का पर्यायवाची ही बना दिया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्यकाल मे प्राकृत भाषाएँ, जिनका न्यूनाधिक साहित्य आज भी उपलब्ध है, देश-भेद के अनुसार सात रूपो मे प्रचलित थी—(१) पालि, (२) शौरसेनी, (३) मागधी, (४) अर्धमागधी, (५) महाराष्ट्री, (६) पैशाची तथा (७) अपभ्रंश।

इन सभी भाषाओ को संस्कृत की छोटी बहनें कहा जा सकता है, क्योंकि इनका विकास भी सस्कृत के समानान्तर छान्दस भाषा से सम्भूत लगता है। डॉ० चाटुर्ज्या के मत से भी यही बात सिद्ध होती है कि 'संस्कृत के पश्चात् वे भाषाएँ आईं, जिन्हे हम वैज्ञानिक दृष्टि से उसी के कनीयस रूप कह सकते है।'[18] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि

---

[18] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६५।

प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई है, अर्वाचीन संस्कृत से नही।[19] डॉ. बाबूराम सक्सेना ने भी पालि भाषा के विकास पर विचार करते हुए यही मान्यता स्थापित की है कि 'पालि में कुछ लक्षण ऐसे मिलते है जिनसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इसका विकास उत्तरकालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियो से मानना अधिक उचित है। तृतीया बहुवचन मे अकारान्त सज्ञाओं का 'एभि' प्रत्यय और प्रथमा बहुवचन मे आस् के विकल्प मे 'आसः', धातु (यथा गम्) और धात्वादेश (यथा अच्छ्) के प्रयोग मे भेद का अभाव, अडागम (हसीत्=अहसीत्) का प्रायः अभाव, आदि बाते उदाहरण है। संस्कृत के 'इह' के स्थान मे पालि 'इध' पाया जाता है, जो वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।[20]

---

[19] हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ११-१२।

[20] सामान्य भाषा-विज्ञान, पृष्ठ २६३।

चतुर्थ अध्याय

पालि एवं अशोक के शिला-लेखों की भाषाएँ

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति एवं इतिहास—पालि किस क्षेत्र की भाषा थी—विद्वानों के मतों की समीक्षा एवं निष्कर्ष—पालि का ध्वन्यात्मक विवेचन—पालि की रूपात्मक स्थिति—पालि का शब्द-कोष—अशोकी शिला-लेखो की भाषा—पालि से छान्दस का साम्य और वैषम्य—ध्वनि और रूप ।

'पालि' शब्द का निर्वचन और उसका भाषा के अर्थ में प्रयोग

संस्कृत भाषा को छोड़ कर प्राय अन्य समस्त भारतीय भाषाओ का नाम किसी न किसी प्रदेश-विशेष के नाम पर पाया जाता है। अत पालि के नामकरण के रहस्य को जानने की अभिरुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। 'अभिधानप्पदीपिका' मे पालि शब्द की निरुक्ति, तन्ति बुद्ध वचन तथा पंक्ति अर्थ देते हुए पा-रक्षणे धातु से की गई है—'पा पालेति रक्खतीति पालि'। कुछ विद्वान् इसी को आधार मान कर इसे भाषा रूप मे स्वीकार कर लेते है; किन्तु 'भिक्षु जगदीश काश्यप' इससे सहमत नही है। उनका कहना है कि यह निरुक्ति उस समय की गई है जब पलियाय और पालि का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के लिए तीन विद्वानों के मत विचारणीय हैं—

(१) **भिक्षु जगदीश काश्यप का मत**—पालि शब्द का विकास 'परियाय' 'पलियाय' शब्द से हुआ है। इसके लिए आपने दो तर्क दिए है। एक तो यह कि परियाय शब्द का अर्थ बुद्ध वचन होता है और इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'दीघनिकाय' 'अगुत्तर निकाय' तथा 'भब्रु शिला-लेख' मे बुद्ध देसना के अर्थ में प्रयोग किया गया है। मुझे इस विचार के लिए यही कहना है कि 'र' के स्थान पर 'ल' का आदेश मागधी भाषा की विशेषता है, अतः 'पालि' मागधी भाषा का शब्द ठहरता है, पालि भाषा में इसके स्थान पर 'पारि' शब्द का प्रयोग मिलता है; यथा—'अय धम्म परियायेति'—('अगुत्तर निकाय')। 'इम धम्म परियायं अत्थ'—(दीघनिकाय—ब्रह्मजाल सुत्त)। अतः यह बात समझ मे नही आतीकि पालि के अनुयायियो ने इसके लिए 'पारि 'शब्द को न अपनाकर 'पालि' मागधी शब्द को क्यों अपनाया ?

(२) **भिक्षु सिद्धार्थ का मत**—आपका कथन है कि 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'पाठ' शब्द से हुई है। आपके अनुसार बहुत से वेदपाठी ब्राह्मण भी बौद्ध धर्म मे दीक्षित हुए और अपने साथ अनेक वैदिक शब्दो को भी लेकर आए। बौद्ध धर्म ने उन्हे स्वीकार भी कर लिया। अतः पाठ शब्द वेदो के पाठ-स्वाध्याय के लिए प्रयुक्त होता था और इसी अर्थ मे यह यहाँ भी अर्थात् बुद्ध वचनो के पाठ के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा और धीरे-धीरे भाषावाची हो गया। आपके अनुसार संस्कृत मूर्धन्य ध्वनियाँ पालि भाषा मे 'ल' मे बदल जाती है। अतः पाठ का पालि मे हुआ 'पाल' और मिथ्या सादृश्य के आधार पर 'पाल' का हो गया 'पालि'। मै समझता हूँ कि एक शब्द को केवल सिद्धान्त

रुप में सिद्ध करने हेतु भिक्षु सिद्धार्थ को इतनी क्लिष्ट कल्पना करने की क्या आवश्यकता पड गई थी ? कुछ विद्वानों के मस्तिष्क मे अनेक भाषा-वैज्ञानिक भ्रम है; जिनका निराकरण परम वाञ्च्छनीय है । पहला तो यह कि भाषाओ का विकास किसी सिद्धान्त-विशेष को सम्मुख रख कर नहीं किया जाता, बल्कि विकास (इस अर्थ मे) किया नही जाता है, हो जाता है । जनसाधारण अपनी गति से चलता रहता है और भाषा का विकास भी होता रहता है । अतः विकास के किसी एक नियम को, विशेष कर ध्वन्यात्मक परिर्वतन के क्षेत्र मे, सर्वत्र लागू कर, देखना उचित नही है । उदाहरण के लिए कुछ नव्य भारतीय आर्य भाषाओ में 'स' के स्थान पर 'ह' पाया जाता है । पर यह आदेश सर्वत्र नही देखा जाता; यथा—'दसले' को हिन्दी मे 'दहला' तो हो जाता है पर 'दस' का 'दह' नही होता । सिन्धी मे 'डह' हो जाता है । इसी प्रकार 'मुख' का 'मुँह' हो जाता है पर सुख का 'सुह' या दुःख का 'दुह' नही होता । अतः 'ठ' का 'ल' और फिर 'लि' और पुनः 'लि' हो जाए, इतना विकास भाषा में हुआ हो ऐसा लगता नही । दूसरे इन विकास के स्तरो का प्रयोग भाषा मे उपलब्ध तो होना ही चाहिए या घर बैठे ही विकास होता रहता है । मै समझता हूँ नियम बाद मे बनता है और विकास पहले हो जाता है । सिद्धार्थ महोदय ने विकास-सूत्र की कडियों का ऐतिहासिक विवरण कही पर भी प्रकट नही किया ।

(३) **पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत**—आपके कथनानुसार पालि शब्द का एक अर्थ 'अभिधानप्पदीपिका' में पक्ति भी दिया है—'तन्ति बुद्धवचन पन्ति पालि' । अतः पहले पालि शब्द पंक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता था, बाद मे ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा । बुद्धघोष ने पालि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है । श्री भिक्षु जगदीश काश्यप ने इसका खण्डन किया है तथा इसमे तीन दोष बताए है—

(१) पक्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है । त्रिपिटक प्रथम शतक ई० पूर्व से पहले लिखा नही गया था । अत॰ उस समय के लिए त्रिपिटक के उद्धरण के लिए पालि या पक्ति शब्द का व्यवहार करना जँचता नही है ।

(२) पालि साहित्य मे कही भी 'पालि' शब्द का ग्रन्थ की पक्ति के अर्थ मे प्रयोग नही किया गया । मूल त्रिपिटक के ग्रन्थो के अन्दर कही भी पालि शब्द का प्रयोग नही देखा जाता । हाँ, ग्रन्थ के नाम के साथ अवश्य ही 'पालि' शब्द जोड़ दिया जाता है । ऐसी स्थिति मे 'पालि' शब्द का अर्थ पक्ति ले, तो "उदान पालि" से "उदान पक्ति" शब्द का कोई अर्थ नही निकलता ।

(३) 'पालि' शब्द का प्रयोग पक्ति के अर्थ मे है तो उसे सर्वत्र बहुवचन मे प्रयुक्त होना चाहिये था जबकि इस शब्द का सर्वत्र एक वचन मे प्रयोग हुआ है ।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह मत विचारणीय है। यदि पालि का अर्थ एक 'जमायत' की अथवा संघ की भाषा लिया जाए तो इस शब्द का उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ 'पंक्ति' शब्द के साथ असंगत न होगा। इन तीन मतों के अतिरिक्त एक अन्य मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ किया जाता है—'पाटलिपुत्र की भाषा'। ये 'पाटलि' शब्द के मध्यस्थ 'ट' लोप कर पालि शब्द निष्पन्न करते हैं। दूसरा एक मत और प्रचलित है जिसके अनुसार 'पल्लि' (ग्राम) शब्द से "पालि' की व्युत्पत्ति हुई मानी जाती है। उक्त दोनों मत पुष्ट भाषा-वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव से ग्रस्त होने के कारण विशेष महत्त्व नही रखते।

फिर 'पालि' से क्या तात्पर्य है? प्रश्न विचारणीय ही रहता है। बात वास्तव में यह है कि प्रारम्भिक समय मे मूल त्रिपिटक ग्रन्थों के लिए 'पालि' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार वेदों के लिए 'संहिता' शब्द का। अमुक बात ऋग्वेद संहिता में है, अमुक यजुर्वेद संहिता में, इसी प्रकार बौद्ध साहित्य मे 'पालि' शब्द का प्रयोग हुआ है—'पालि मत्त इध आनीतं, नत्थि अट्ठकथा इध'—यहाँ केवल पालि लाई गई है, यहाँ अर्थ कथा नही है—उक्त पद में 'पालि' शब्द का प्रयोग 'मूल त्रिपिटको' के लिए किया गया है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग देखिये—'नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति, इमिस्सा पन पालिया एवमत्थो वेदितव्यो।' इस वाक्य में 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल ग्रन्थो के लिए ही हुआ है। कालान्तर में 'मूल ग्रन्थों की भाषा के लिए' भी 'पालि की भाषा'—इस प्रकार का प्रयोग भी अवश्य चलता रहा होगा और बाद में केवल भाषा का द्योतक बनकर रह गया होगा। अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या फिर 'पालि' से तात्पर्य मागधी भाषा होगा? क्योंकि मूल त्रिपिटको की भाषा मागधी थी। अब इसमे किसी भ्रम के लिए स्थान नही है कि त्रिपिटकों मे जो प्रवचन लिपिबद्ध है, उनकी मूल अभिव्यक्ति गौतम बुद्ध ने अपनी मातृ-भाषा में की थी। वह मातृ-भाषा कोई और नही, मागधी ही थी। साथ ही गौतम बुद्ध के शिष्यों की इस भावना को, कि भगवान् तथागत के प्रवचनो को छन्द में लिपि-बद्ध कर दिया जाए, यो ही टाला नही जा सकता। मध्यदेश के प्रति उस समय के लोगो का जो लगाव था, वह असाधारण नही था। अपनी प्राथमिक पुण्य भूमि के प्रति जो लगाव होता है, वह असाधारण नही होता। अत. मै ऐसा अनुमान करता हूँ कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् जब इन प्रवचनो को, जो पहले मौखिक थे, लिपि-बद्ध करने का प्रश्न आया होगा, तो निश्चय जनमत मध्यदेश की भाषा के पक्ष मे रहा होगा। कारण स्पष्ट है कि उस बोली के बोलने वालों की संख्या अधिक रही होगी। साथ ही कुछ लोगो के मन मे मध्यदेश की भाषा के प्रति विद्वेष की भावना भी रही होगी।

परिणामतः इसका नाम मध्य देश की बोली का जो कुछ नाम, उस समय रहा होगा—जो अब काल-कवलित हो गया—के स्थान पर 'पालि' अर्थात् पंक्ति या 'जमायत' की भाषा रख दिया गया होगा। पालि मध्यदेश की भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने मे असमर्थ है, अर्थात् यों कहिए, उस समय की भाषाओ की खिचड़ी है। इस समस्या का समाधान नीचे किया गया है।

पालि भाषा और उसका क्षेत्र

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के विवेचन मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विकास की दृष्टि से इस युग की भाषाओ को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे सर्वप्रथम पालि भाषा ने परिनिष्ठित स्वरूप धारण किया। बौद्ध धर्म के प्राय. समस्त प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ इसी भाषा में निबद्ध है। गौतम बुद्ध मागध थे। अत. बौद्ध मतानुयायी इस भाषा का उद्भव-स्थल मगध प्रदेश को मान कर चलते हैं, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक-निष्कर्ष इसके विरुद्ध पड़ता है। वस्तुतः पालि भाषा का, जो बौद्ध ग्रन्थो में मिलती है, गठन कुछ इस प्रकार का है कि उसे किसी निश्चित प्रदेश की भाषा घोषित कर देना सरल कार्य नही है। यही कारण है कि विद्वानो की इस विषय पर भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। डॉ. सरनामसिंह ने इन सब विद्वानों को, मत की दृष्टि से छः वर्गों मे विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—[1]

प्रथम वर्ग—इस वर्ग मे वे विद्वान् आते है, जो पालि भाषा का सम्बन्ध मागधी भाषा से स्थापित करते हैं तथा इसे मगध प्रदेश की बोली पर आधारित बताते है। इन विद्वानो मे मैक्सवेलेजर, चाइल्ड्स, जेम्स, आलविस, ई. जार्ज ग्रियर्सन, श्रीमती डेविड्स, विंटरनित्ज आदि का नाम उल्लेखनीय है।

द्वितीय वर्ग—ये लोग पालि भाषा को पूर्व की बोली के अनुवाद की साहित्यिक भाषा मानते है जो मध्यदेश की बोलियों पर आधारित थी। इसे ये लोग पश्चिमी हिन्दी की पूर्वजा मानते है। इनमे सर्वश्री लूडर्स, सिलवाँ लेवी, डॉ. कीथ, प्रो० टर्नर, डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

तृतीय वर्ग—ये वर्ग पालि को कलिंग बोली के आधार पर विकसित भाषा मानते हैं। इनमे सर्वश्री ओल्डनबर्ग और डॉ. मूलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

चतुर्थ वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि को विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा मान कर चलते है। इनमे डॉ. स्टेनकोनो तथा आर० ओ० फ्रैंक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

---

[1] डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत पालि साहित्य और समीक्षा।

पंचम वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि का मूल उद्‌गम कौशल प्रदेश की बोली से मानते है। इस मत के एक मात्र पोषक प्रो० रायस डेविस ही हैं।

षष्ठ वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि का उद्‌गम-स्थल उज्जैन प्रदेश बतलाते है। इस मत को मानने वाले श्री वेंस्टरगार्ड और ई० कुट्टन हैं।

उपर्युक्त सभी विद्वानो की मान्यताओ का कोई न कोई निश्चित आधार अवश्य रहा है। यह बात इतर है कि इनमे से किसी की मान्यता मे कल्पना और अनुमान को अधिक प्रश्रय दिया हो और किसी की आधार भूमि ठोस भाषा-वैज्ञानिक होते हुए भी अतिव्याप्ति दोष या अव्याप्ति दोष से ग्रस्त रही हो। बात वास्तव मे यह है कि पालि भाषा एक इतने बड़े धर्म-सम्प्रदाय की भाषा थी जो समस्त एशिया भूखण्ड का धर्म बन गया था। अतः उसमे विकृति एवं मिश्रण आना अवश्यम्भावी था। ऐसी स्थिति मे उस पर किसी निश्चित मान्यता की स्थापना करना खतरे से खाली नही है। यद्यपि यह आवश्यक तो नही है कि पालि भाषा का सम्बन्ध किसी प्रदेश-विशेष के साथ जोड़ा जाए, क्योकि स्वयं बौद्ध धर्म जिसकी यह धर्म-भाषा थी, किसी प्रदेश-विशेष के लिए सीमित नही था, फिर भी यह शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक माँग है कि हम यह देखने का प्रयास करे कि पालि भाषा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ भारत के किस प्रदेश का प्रतिनिधित्व करने मे सक्षम है, जिससे बाद मे विकसित भाषाओ का सम्बन्ध-सूत्र खोजा जा सके। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को सुलझाने के लिए हमें दो महत्त्वपूर्ण बातो पर दृष्टि रखनी होगी कि—(१) बौद्ध धर्म जनभाषा के प्रयोग का समर्थक था (प्रारम्भ मे), परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करना स्वय गौतम बुद्ध की भावनाओ के विरुद्ध पडता था।[2] (२) दूसरे, क्या बौद्ध धर्म मे प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य, सभी लोग दीक्षित थे? ये सभी लोग भगवान् बुद्ध की अमृतमयी वाणी का रसपान उनकी भाषा मे करते रहे होगे। इसके लिए निश्चय ही उन्हे गौतम बुद्ध की मातृभाषा मागधी पढनी पडती होगी और स्वय भगवान् तथागत ने भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे उनकी मातृ-भाषा मे ही प्रवचन करने हेतु उन प्रादेशिक भाषाओ का अध्ययन किया होगा। ऐसी स्थिति मे उपासको के मन मे निश्चय ही दो प्रकार की भावनाएँ काम करती रही होगी। एक तो यह कि भगवान् बुद्ध की वाणी की अभिव्यक्ति वे अपनी मातृभाषा मे करे। द्वितीय, भगवान् बुद्ध के कुछ मुख्य-मुख्य शब्दो को वे ज्यो के त्यो ग्रहण कर ले। अपनी बोली को भी पावन करने हेतु किसी भी धर्मगुरु की वाणी के प्रति उसके अनुयायियो की अमित-श्रद्धा होती है। ऐसी परिस्थिति मे भगवान् तथागत के

---

2 सकाय निरुत्तिया—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७६।

उपदेश भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के पास उनकी भिन्न-भिन्न बोलियों में सुरक्षित रहे होगे। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि गौतम बुद्ध के जीवन-काल मे ही विशाल बौद्ध विहारो का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इनमे हजारो की संख्या मे एक-एक बौद्ध विहार में भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। बौद्ध धर्म-ग्रन्थो से इस प्रकार का कोई भी उल्लेखनीय सकेत नही मिलता कि तीसरी संगति से पूर्व बौद्ध धर्म की कोई सामान्य सम्पर्क भाषा थी। अतः निश्चित है कि बुद्ध-उपदेश जो उस समय मौखिक रूप मे ही सुरक्षित रखे जाते थे, मिश्रित भाषाओ मे पृथक्-पृथक् रूप से ही सुरक्षित थे। एक भाषा मे ही इन प्रवचनों को रखा जाए, यह बात साधारण रूप मे तो तथागत के जीवनकाल मे ही उठाई जा चुकी थी, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर रूप में उपासको के समक्ष आया होगा। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक यह कि बौद्ध धर्म का प्रचार एव प्रसार भारत के बाहर करने के लिए एक ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। दूसरे, सस्कृत की लोकप्रियता अतितीव्र गति से बढ रही थी, उसकी टक्कर मे कोई एक निश्चित भाषा परिनिष्ठित रूप धारण कर ही ठहर सकती थी। अभी तक सम्भवतः उदीच्यो के प्रति जो आक्रोश था, वह शान्त नही हुआ था। अत. बौद्ध धर्म की तीसरी संगति मे यह प्रश्न गम्भीर रूप से उठाया गया कि अब समय आ गया है कि भगवान् बुद्ध के प्रवचनो को लिपिबद्ध किया जाए। ऐसे समय मे मैं अनुमान करता हूँ कि बौद्ध भिक्षुओ ने अपनी-अपनी भाषाओं को इस पुण्य कार्य के लिए प्रस्तुत किया होगा और समस्या आज की राष्ट्रभाषा-समस्या के समान गम्भीर हो गई होगी। मैं जहाँ तक विचार सका हूँ, वह यह है कि गौतम बुद्ध के प्रवचनो को मूल मागधी भाषा मे सुरक्षित मानना उचित नही है। ऐसा मानने से दो कठिनाइयाँ आती है जिनका उचित समाधान नही मिलता। प्रथम तो यह कि जब मूल प्रवचन मागधी भाषा मे सुरक्षित थे तो उन्हे मध्यदेशीय भाषा मे अनुवाद करने की क्या आवश्यकता हो गई थी ? जहाँ तक जन-प्रियता का सम्बन्ध है, उस समय पूर्वी बोलियाँ मध्यदेश की बोली से अधिक लोक-प्रिय रही होगी, क्योकि मध्यदेश एव उदीच्य मे ब्राह्मणो का बोलबाला था जो बोलियो की अपेक्षा परिनिष्ठित सस्कृत को अधिक सम्मान देता था। अतः उस समय उन बोलियो का अधिक व्यापक या समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित नही होता। दूसरे, इसका कोई ठोस प्रमाण नही मिलता कि बुद्ध-वचन मागधी भाषा मे ही व्यक्त किए गये थे और सुरक्षित थे। यह केवल मात्र अनुमान है, क्योकि गौतम बुद्ध मागध थे, इसलिए उन्होने मागधी मे ही प्रवचन दिया होगा और उसी मे वे सुरक्षित रहे होगे। यदि हम महात्मा

गाँधी का उदाहरण लें तो इस बात में कोई सार नही रह जाता; क्योकि गाँधीजी गुजराती थे पर उनके प्रवचन अधिकांशतः हिन्दी मे और आग्ल भाषा मे है। इसलिए यह मानना उचित प्रतीत नही होता कि पालि साहित्य अनूदित साहित्य है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर पालि से क्या तात्पर्य ले। क्या बुद्ध-वचन मूलत ही पालि मे थे? उत्तर है—नही। फिर पालि मे ये ग्रन्थ क्यो मिलते है तथा पालि किस प्रदेश की बोली है? आदि प्रश्न खड़े के खड़े रह जाते है। जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ कि भगवान् बुद्ध ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रादेशिक बोलियों मे ही अपनी वाणी का उत्स प्रवाहित किया होगा और वे प्रवचन भिन्न-भिन्न विद्वानो के पास उनकी ही बोली मे सुरक्षित रहे होगे। इसके कारण हैं, एक तो वेदो को सुरक्षित रखने की यह प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी, वेदी, द्विवेदी, त्रिवेदी आदि शब्द इसके प्रमाण है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एक परिनिष्ठित भाषा मे लिखे गए थे तथा उन्हे उसी भाषा मे सुरक्षित रखना था, जबकि बौद्ध-प्रवचन भिन्न-भिन्न बोलियो मे थे और उन्ही मे सुरक्षित रखने थे। स्वयं गौतम बुद्ध का आदेश इसका प्रमाण है, उन्होने कहा है—समस्त जन उनके उपदेश को 'अपनी' मातृ-भाषा मे ही ग्रहण करे। यहाँ 'अपनी' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। भिन्न-भिन्न बोलियो मे इनका होना ही एक कारण है कि तीसरी संगति मे उन्हे किसी एक सर्वसम्मत भाषा मे ले आने का प्रश्न उपस्थित हुआ।

बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक विश्लेषण यह स्पष्ट कर देगा कि बौद्ध भिक्षुओ पर विद्वत्ता की दृष्टि से मध्यदेश के निवासियो का प्रभुत्व था। बौद्ध भिक्षु प्राय. सस्कृत के पण्डित भी होते थे। जैसा कि मैंने पहले सकेत दिया है—भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी भिक्षु एक ही स्थान पर बौद्ध विहारो मे रहते थे। इन सब से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच सकते है कि मध्यदेश की भाषा की प्रधानता के साथ विहारों मे एक मिश्रित भाषा पनप रही थी, जिसकी ओर विद्वानो का ध्यान अभी तक सम्भवतः नही गया था। जब प्रादेशिक बोलियो के स्वार्थ ने उग्र रूप धारण किया होगा, उस समय निश्चय ही इस नवीन पनपती बौद्ध-विहारो की भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान अवश्य गया होगा और समस्त अन्तर-विरोधो से बचने के लिए इसी भाषा को धर्मग्रन्थो के सर्वथा उपयुक्त समझा गया होगा। पर इस नन्ही-मुन्नी, किन्तु तेज तर्राक बोली को नाम क्या दिया जाए, यह प्रश्न भी बौद्ध स्थविरो के समक्ष आया होगा, पर उन्होने इस पर क्या निर्णय लिया, इसका कोई उल्लेख हमे नही मिलता। बाद मे विद्वान् इस भाषा के लिए 'पालि' शब्द का प्रयोग धड़ल्ले

से करने लगे। इसका क्या कारण है ? मैं सोचता हूँ, जब बाद के विद्वानों को इसका कोई प्रादेशिक नाम (शुद्ध प्रादेशिकता न होने के कारण) न मिला होगा तो उन्होने 'पालि' अर्थात् एक ही पंक्ति मे आरूढ होकर 'शास्ता' के अनुशासनो का अनुगमन करने वालो की भाषा—नाम दे दिया होगा और इस प्रकार बौद्ध विहारो की इस मिश्र-भाषा के लिए 'पालि' शब्द लोकप्रसिद्ध हो गया होगा। 'पालि' का अर्थ पिटक आदि ले तो भी पिटको की भाषा को पालि कहना अनुचित न होगा।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि को किसी प्रदेश-विशेष के साथ सम्बद्ध करने के लिए दूर की कौडी लाने मे कोई बुद्धिमत्ता नही है। पालि एक मिश्र-भाषा है, जिसमे प्रधानता मध्यदेश की बोलियों की प्रवृत्तियो की है और कुछ अश अन्य प्रादेशिक बोलियों के है अवश्य, चाहे वे कम मात्रा मे ही क्यो न हो। अतः मेरा विश्वास है कि पालि भाषा का उद्गम किसी एक बोली विशेष से नही हुआ है।

पालिभाषा की प्रवृत्तियाँ

ध्वनि तत्त्व :

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ तथा ह्रस्व एँ, ओँ

व्यञ्जन—'कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य र, ल, व, स, ह' मिलते है। इनके अतिरिक्त वैदिक ध्वनियाँ 'ळ, ळ्ह' भी मिलती है।

प्रवृत्तियाँ—स्वरों मे 'ऋ, ॠ, ऌ, ॡ' स्वर पूर्णतः लुप्त हो गए। 'ऋ, ॠ' के स्थान पर प्राय. 'अ, इ या उ' मिलते है; यथा—ऋणम्>इण, ऋषि>इसि, ऋतु>उतु, ऋषभ>उसभ, गृहम्>गह, नृत्यम्>नच्चं, आदि।

'ऌ, ॡ' के स्थान पर 'ल' हो गया। 'ऐ' के स्थान पर 'ए', यथा—ऐरावण>एरावण, वैमानिक>वेमानिक तथा वैयाकरण>वेय्याकरण। कही-कही 'ए' के स्थान पर 'इ' और 'ई' भी उपलब्ध होता है। यथा—ग्रैवेय>गीवेय, सैन्धव>सिन्धव। 'औ' के स्थान पर 'ओ' और कही-कही 'उ' मिलते है, यथा—औदरिक>ओदरिक, दौवारिक>दोवारिक, (उ) मौक्तिकं>मुत्तिक, औद्धत्य>उदच्च, आदि।

उपर्युक्त ध्वनियो के लोप के साथ-साथ नवीन ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ध्वनियो का उच्चारण पालि मे प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि पालि वैयाकरणो ने इसका कोई सकेत नही दिया तथा न ही इस प्रकार का कोई लिपि-चिह्न पालि मे था, फिर भी बाद के आधुनिक भाषा-विज्ञो के अनुसन्धानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि पालि मे उक्त दोनो ध्वनियाँ प्रकाश मे आ गईं थी। बहुत वर्षों के पश्चात् हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के प्रसङ्ग मे फिर

इसका संकेत दिया है ।[3] दो स्वरो के साथ-साथ आने पर एक स्वर के लोप हो जाने के उदाहरण मिलते हैं ।

जहाँ तक व्यञ्जनो का सम्बन्ध है, प्राय समस्त संस्कृत व्यञ्जन इसमे मिलते हैं । अनुनासिको मे 'ण' ध्वनि, पद के आदि मे भी मिलती है और इस प्रकार 'न और म' की समकक्षी बन गई है । छान्दस 'ल़' और 'ल़्ह' ध्वनियाँ पालि मे सुरक्षित है जब कि सस्कृत मे ये लुप्त हो गई है । स्वर मध्यस्थ 'ड़' के स्थान पर 'ल' और 'ढ' के स्थान पर 'ल़्ह' ध्वनियाँ मिलती हैं; यथा—षोड़श>सोल़स, क्रीड़ाम्>कील, (ढ>ल़्ह) दृढ़स्य>दल़्हस्स, आरूढ़> आरूल़्ह, आदि । कही-कही 'ल' के स्थान पर भी 'ल़' मिथ्या सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त हुआ मिलता है; यथा—मणिगुलसदृशे>मणिगुल़सदिसानि ।

'म्' सर्वत्र अनुस्वार हो गया है । 'पदान्त 'न्' 'म्' मे बदल जाता है । ऊष्म ध्वनियों मे 'श, ष, स' के स्थान पर 'स' मिलता है । इस प्रकार सस्कृत 'श, ष' का प्राय लोप हो गया । कुछ पालि ग्रन्थो मे 'श' भी मिलता है । कह नही सकते, यह लिपिकारो के प्रमाद का परिणाम है, अथवा यह ध्वनि भाषा मे थी । 'ह' ध्वनि का उच्चारण पालि मे दो रूपो मे मिलता है । जब यह स्वतन्त्र रूप मे प्रयुक्त होता है तब इसका उच्चारण स्वतन्त्र प्राण ध्वनि के रूप मे होता है, किन्तु जब यह अन्तस्थो या अनुनासिको से सयुक्त होकर आता है, तब इसका उच्चारण भिन्न रूप मे होता है । पालि वैयाकरणों ने इसे ओरस या हृदय से उत्पन्न ध्वनि कहा है । विसर्ग ध्वनि का पूर्णतया लोप हो गया । डॉ उदयनारायण तिवारी के अनुसार पदान्त क्, ट्, न्, प् तथा र् का प्रायः लोप हो गया है ।[4] इसे यो भी कहा जा सकता है कि व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक स्वरान्त हो गए । यह क्रिया दो प्रकार से सम्पन्न हुई है, या तो स्वर का आगम कर अथवा पदान्त व्यञ्जन का लोप कर । बलाघात के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता । कुछ विद्वानो के मत से पालि मे बलाघात था और कुछ के मत से नही था ।

रूप तत्त्व :

(१) कारक रूपो को निष्पन्न करने के लिए पालि भाषा ने छान्दस और संस्कृत रूपो जैसी विविधता का परित्याग कर दिया । पालि भाषा मे मिथ्या सादृश्य के आधार पर अधिकतर अकारान्त पुंल्लिग प्रातिपदिक के रूपो और कुछ रूपों मे जैसे अपादान और अधिकरण मे सर्वनाम के रूपो को अपना लिया गया; यथा—बुद्धस्मा, बुद्धम्हा [अस्मात् के आधार पर], 'बुद्धम्हि,

---

[3] अपभ्रंश का व्याकरण—केशवराम काव्यशास्त्री द्वारा सम्पादित ।

[4] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ६८ ।

बुद्धस्मि [अस्मिन् के आधार पर] मुनिस्स, बुद्धस्स (चतुर्थी, षष्ठी) 'देवस्य' के आधार पर। इसी प्रकार दण्डिस्स, भिक्खुस्स, पितुस्स, गवस्स, आदि। इस प्रकार समस्त स्वरान्त प्रातिपदिकों के रूप कुछ भिन्नताओं को छोड़ कर समान रूप से सम्पन्न होने लगे। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे 'क्षय' का नियम कहा है—'रूप तत्त्व की दृष्टि से 'म. भा. आ.' का इतिहास एक क्रम-वर्धमान क्षय का ही इतिहास है।'[5]

(२) कारकों और लिङ्गो मे छान्दस की भांति पालि भाषा मे पर्याप्त मात्रा मे व्यत्यय देखा जाता है; यथा—चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग—ब्राह्मस्स (ब्राह्मणाय) धनं ददाति। तृतीया के स्थान पर पञ्चमी का प्रयोग, बल्कि यो कहना चाहिए कि ये दोनो मिलकर एकरूपा हो गईं। यथा—मुनिया—तृतीया एवं पञ्चमी। परन्तु अकारान्त शब्दों के रूपों मे यह एक-रूपता नही पाई जाती। सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग पाया जाता है; यथा—एक दिवसे—एकस्मिन् दिवसे।

(३) लिङ्ग के क्षेत्र मे क्षय के चिह्न प्रत्यक्ष रूप मे नही मिलते, किन्तु नपुसक लिङ्ग के रूपो के स्थान पर पुल्लिङ्ग रूपो का प्रयोग देखने को मिलता है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है—'इसी प्रकार नपुंसक लिङ्ग के रूप पुल्लिङ्ग के समान बनने लगे। यथा—'मे निरतो मनो'; होना चाहिए था 'मे निरत मनो'। इसी प्रकार 'तवो सुखो' मे 'सुख' रूप होना चाहिए।'[6]

(४) वचनो मे द्विवचन का लोप हो गया। पालि मे द्विवचन का काम बहुवचन रूपो से लिया जाने लगा। हाँ, कुछ शब्दो, यथा—द्वे, दुवे, उभे आदि मे अभी भी द्विवचन के अवशेष मिलते हैं।

(५) व्यञ्जनान्त प्रातिपदिको को समाप्त कर दिया गया। सभी प्राति-पदिक स्वरान्त हो गए। इनमें कही-कही अन्त्य व्यञ्जन का लोप हो गया; यथा—सुमेधस्>सुमेध, आपद्>आपा, कही-कही अन्त मे 'अ' ध्वनि का विशेषत: और 'आ' ध्वनि का गौण रूप मे आगम करके स्वरान्त प्रातिपादिक बनाये गये। यथा—आपद्>आपद, सुमेधस्>सुमेधस, शरत्>शरद, (आ) विद्युत्>विज्जुता। इस प्रक्रिया मे स्वरभक्ति के भी दर्शन होते है; यथा—र्बहिष्>बरिहिस।

धातु रूप—(१) धातुओ का विभाजन छान्दस एवं सस्कृत की तरह गणो मे किया गया है, किन्तु इन गणो की संख्या दस से घटकर सात रह गई। डॉ सरनामसिंह के अनुसार पालि मे केवल (१) भ्वादिगण, (२) रुधा-

---

[5] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[6] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ८१।

दिगण, (३) दिवादिगण, (४) स्वादिगण, (५) क्रयादिगण, (६) तनादिगण, (७) चुरादिगण ही उपलब्ध होते है।[7]

(२) यद्यपि धातुओ का प्रयोग दो पदो मे ही किया गया है, किन्तु आत्मनेपद के प्रयोग अत्यल्प मात्रा में मिलते है। अनेक ऐसे स्थल है जहाँ पर आत्मनेपदी धातुओं का परस्मैपद मे प्रयोग किया गया है और परस्मैपद की धातुओ को आत्मनेपद मे प्रयुक्त किया गया है।[8] कहने का तात्पर्य यह है कि पालि भाषा में पद-सम्बन्धी अव्यवस्था ही दृष्टिगत होती है।

(३) पालि मे लकारो की संख्या दस से घटकर आठ रह गई। पालि मे लकारो के नाम छान्दस या सस्कृत के आधार पर न होकर कुछ भिन्न प्रकार से है; यथा—(१) वत्तमाना, (२) पंचमी, (३) सत्तमी, (४) परोक्खा, (५) हीयत्तनी, (६) अज्जतनी, (७) भविस्सन्ति, (८) कालत्तिपन्ति।

(४) धातुओं के रूप तीन पुरुषों और दो वचनो मे मिलते है। इस प्रकार इन रूपो की सख्या नौ से घटकर केवल छः रह गई।

(५) पालि में सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त तथा णिजन्त रूपो के प्रयोग भी हुए है।

(६) पालि मे कृदन्त रूप भी उपलब्ध होते है। पूर्वकालिक क्रिया के रूपो मे छान्दस का अनुकरण किया गया है, क्योंकि 'ल्यप् और क्त्वा' का प्रयोग नियम-विहीन अपनी इच्छा के अनुकूल किया गया है। निमित्तार्थक प्रत्ययो में तुमन् के साथ-साथ 'तवै का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। छान्दस के 'त्वाय' के स्थान पर त्वान मिलता है, जिसे संस्कृत मे छोड़ दिया गया था; यथा—गत्वान, दस्वान आदि।

(७) नामधातु के रूप भी पालि मे उपलब्ध होते है; यथा—अत्तनो पत्तं इच्छति=पत्तीयति, दलहं करोति=दलयति, पब्बतायति आदि।

(८) उपसर्गों और निपातो के प्रयोग भी पालि मे उपलब्ध होते है। प, पटि, पति, परा, वि, स, आदि अनेक उपसर्ग पालि मे प्रयुक्त हुए है। निपातों मे च, न, व, वा, मा, हि आदि प्रयुक्त हुए है।

कोष—देशी शब्दो का प्रयोग बहुतायत से किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त तत्सम एव तद्भव शब्द भी पालि की निधि है। अनार्य भाषाओ के शब्द भी पालि मे मिलते है।

साहित्य—पालि मे भगवान् बुद्ध के वचनो का सग्रह तिपिटक (त्रिपिटक) के नाम से प्रसिद्ध है। इनमे सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक

---

7 पालि साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ ८२-८३।

8 उदाहरण आगे पालि और छान्दस शीर्षक मे दिए हैं।

आते है। इनके पश्चात् इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओ का साहित्य आता है, जिन्हे अनुपालि या अनुपिटक कहते है। इसके अतिरिक्त इन पिटकों के पृथक् अग आते है; यथा—विनय-पिटक मे तीन प्रकार के ग्रन्थ है—सुत्त विभग, खंधक, परिवार पाठ। सुत्त पिटक के पाँच निकाय है—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, सयुत्त निकाय, अगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय का 'धम्मपद' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जातक-साहित्य भी पालि भाषा की महत्त्वपूर्ण निधि है। अभिधम्म पिटक मे धम्म सगणी, विभंग, कथा वत्थु, पुग्गल पचत्ति, धातु कहा, यमक, पट्ठानप्यकरण आदि सात ग्रन्थ आते है, जिनमे बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन मिलता है। अनुपिटक का अधिकाश भाग सिंहली विद्वानो ने लिखा है। इन ग्रन्थो में भी संवाद या कथा रूप मे धर्म की दार्शनिक विवेचना की गई है अथवा कोई शिक्षा या उपदेश दिया गया है।

इन सब के अतिरिक्त पालि मे छन्द. शास्त्र, व्याकरण, तथा कोष ग्रन्थ भी लिखे गए है। 'कच्चान व्याकरण' पालि का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण व्याकरण है।

अशोक के शिलालेखों की भाषा

अशोक के शिलालेख भारत के प्रत्येक भाग मे उपलब्ध होते है। विद्वानो का मत है कि अशोक के शिलालेखो की सामग्री मूलतः मागधी भाषा मे निबद्ध की गई है और पुनः जिस स्थान पर उस लेख को भेजना होता था, उसमे उसे अनूदित कर दिया जाता था। अतः अनेक मुख्य शब्द उनमे ज्यो के त्यो रख दिए गये है। यदि इन प्रभावो को या प्रादेशिक रूपान्तर को हटा कर देखे तो लगता है कि अशोक के शिलालेखो की भाषा भी मागधी की अपेक्षा पालि के अधिक समीप है। ध्वन्यात्मक अन्तर को तथा दिशाओ को ध्यान मे रख कर अशोक के शिलालेखो को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। शाहबाज गढी और मानसेरा वाले लेख उत्तर पश्चिमी भाषा के रूप को व्यक्त करते है। गिरनार का शिलालेख दक्षिण-पश्चिम की जन-भाषा मे लिखे गए प्रतीत होते है। धौली, जौगा, रामपुरवा, सारनाथ के शिलालेखो की भाषा प्राच्य भाषा के अधिक समीप जान पड़ती है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी स्थान के शिलालेखो की भाषा किसी निश्चित भाषा के तत्त्वो से परिपूर्ण नही है। कुछ एक तत्त्व दूसरी भाषा के भी उपलब्ध हो ही जाते है। इसीलिए केवल कुछ तत्त्वो की प्रधानता एवं स्थान-विशेषो के आधार पर ही यह विभाजन किया गया है। डॉ० भोला-शकर व्यास ने इनमे चार विभाषाओं की प्रवृत्तियों का अवलोकन किया है—'इन लेखो मे प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है—उत्तर-

पश्चिमी प्राकृत (या उदीच्य प्राकृत), पश्चिमी प्राकृत, मध्य-पूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत ।'[१]

यदि इन सभी शिलालेखो की भापाओ का सम्मिलित रूप मे अवलोकन कर उनकी प्रवृत्तियो का विवेचन करे, तो अगले पृष्ठो मे विवेचन की जाने वाली प्राकृतो की सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जायेगी, परन्तु पालि की तुलना मे शब्द रूपो की क्रम-वर्धमान क्षय-प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे विकास के चिह्नो से संवलित है। प्रातिपदिको की संख्या भी वढी हुई है। आत्मनेपद के प्रयोग विरल ही मिलते हैं। शेष पालि की विशेपताएँ ही अधिकतर पायी जाती हैं।

जैसा कि विवेचन से स्पष्ट है—प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत भाषाओं का उद्भव सस्कृत से माना है, जब कि पाश्चात्य विद्वानों का मत इसके विपरीत है। विचारणीय बाते इसमें ये हैं कि उन प्राकृत वैयाकरणो ने कही पर भी पालि को इसमे समाविप्ट नही किया है, तो क्या पालि का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है? क्या पालि का परवर्ती मध्यदेशीय प्राकृत-शौरसेनी से कोई सम्वन्ध है? यदि है तो शौरसेनी और पालि के वीच संस्कृत कैसे आ खडी हुई? उपर्युक्त सभी प्रश्नो पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही अपेक्षित है। यहाँ पर हम केवल पालि और वैदिक संस्कृत अथवा छान्दस का परस्पर क्या सम्वन्ध है तथा पालि सस्कृत के अधिक समीप है अथवा छान्दस के, इस विपय पर ही विचार करेगे।

यदि हम वेदों की भापा का विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि वेदो मे प्रयोगों की अत्यधिक स्वतन्त्रता थी। एक ही शब्द का अनेक रूपो मे प्रयोग मिलता है। एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक प्रत्ययो का विधान पाठक को हतप्रभ कर देता है। सम्भवतः इन्ही आधारो पर भापा-विज्ञ यह अनुमान लगाते हैं कि वेदो का निर्माण जनसाधारण की भाषा मे हुआ है। कारण स्पष्ट है—जिस प्रकार जनसाधारण व्याकरण के नियमो की परवाह किए विना भाषा का प्रयोग करता चला जाता है, उसी प्रकार वेदो मे भी किसी व्याकरण के निश्चित नियमो का वन्धन दृष्टिगोचर नही होता। अर्थज्ञान करवा देना मात्र शायद ऋषियो को अभीष्ट था। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि शिक्षा, व्याकरण और प्रातिशाख्य आदि उस समय क्या थे? 'कौपीतकी ब्राह्मण' मे व्रात्यो के अशुद्ध उच्चारण का उल्लेख क्या सिद्ध करता है? इन प्रश्नो पर विचार-विमर्श गम्भीरता से अभीष्ट है। अतः अब तो हमे केवल इतना ही देखना है कि ऐसे कौनसे प्रयोग है जो सस्कृत मे तो हैं नही, किन्तु पालि मे उपलब्ध होते है, जिससे वह संस्कृत की पुत्री न

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, खण्ड २, अध्याय २, पृष्ठ २७३।

वन कर उसकी छोटी या बड़ी वहन का स्थान ग्रहण करने की अधिकारिणी हो जाती है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने छान्दस के व्यत्ययों के सम्बन्ध में लिखा है—'व्यत्ययो बहुलम्। ३/१/८५ योग-विभागः कर्तव्यः। छन्दसि विपये सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपा व्यत्ययः। तिङा व्यत्ययः। वर्ण व्यत्ययः। लिङ्ग व्यत्ययः। पुरुप व्यत्यय.। काल व्यत्ययः। आत्मनेपद व्यत्ययः। परस्मैपद व्यत्ययः इति।'

उपर्युक्त उद्धरण से तो यही प्रतीत होता है कि छान्दस में कोई नियम नही था। ऐसी कोई वस्तु नही, जिसमे उलट फेर न हुआ हो। इसके साथ जब सस्कृत का मिलान करते है तो ज्ञात होता है कि छान्दस मे जितनी स्वच्छन्दता थी, संस्कृत मे उतना ही अंकुश। सम्भवतः पाणिनि ने इसी स्वच्छन्दता के नियमन हेतु कठोर परिश्रम से लोक विश्रुत अप्टाध्यायी का प्रणयन किया होगा और जो कुछ कमियाँ रह भी गई होंगी, उनकी पूर्ति महाभाष्यकार ने कर डाली होगी।

महाभाष्य और 'सिद्धान्त कौमुदी' में कुछ व्यत्ययों के उदाहरण दिए गये हैं, जिनके आधार पर हम देखते है कि कितने प्रयोग संस्कृत मे मिलते है तथा कितने पालि मे और कितने केवल छान्दस तक ही सीमित रह गए हैं। इनमें सर्वप्रथम 'नाम व्यत्यय' आता है। 'नाम व्यत्यय' से तात्पर्य है शब्दों की अनेक रूपता अर्थात् इसके अन्तर्गत एक ही शब्द के किसी विभक्तिविशेप के वचन विशेप मे एक से अधिक रूप वनते हैं। इन रूपो मे से संस्कृत ने कौन-से रूपों को अपनाया और पालि ने कौन-से, यह दर्शनीय है। प्रथमा वहुवचन मे अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दो के 'देवाः और देवासः' दो रूपों का प्रयोग वेद में मिलता है—

देवास—ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि।
देवाः—अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरहस पिपृता निरवद्यात्।

(ऋ० सू० सं०, ३ व ३२)

संस्कृत मे इसके स्थान पर केवल 'देवाः' शब्द का ही प्रयोग होता है; परन्तु पालि मे दोनो रूपो का विधान किया गया है—'प्रथमा के वहुवचन में कभी-कभी आसे प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप 'देवास.' की छाया पर ज्ञात होता है। देवासे, धम्मासे, वुद्धासे'।[10]

इसी प्रकार छान्दस में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दो के तृतीया बहुवचन में दो रूप उपलब्ध होते है. (१) देवैः, (२) देवेभिः। इनमे से संस्कृत ने केवल 'देवैः' रूप चुना, जवकि पालि मे देवेभि और देवेहि रूप मिलते हैं—

---

[10] पालि महाव्याकरण, पृष्ठ २५।

(१) **पदेभिः**—य इदं दीर्घं प्रयत सधस्थ एको विममे त्रिभिरित्पदेभि· ।
(ऋ० सग्रह, पृष्ठ ४८)

(२) **अर्कैः**—ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात् ।
(ऋ० संग्रह, पृष्ठ ८०) ।

पालि—

(१) **कम्मेहि**—सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो व तप्पति ।
(धम्मपद, पृष्ठ ६२)

'भिः' प्रत्यय का विधान तृतीया बहुवचन में पालि वैयाकरणों ने किया है, किन्तु साहित्य मे इसके प्रयोग सामान्यतया प्राप्त नही होते । मोग्गलान ने पालि महाव्याकरण मे 'स्माहि, स्मिन्न महाभिम्हि—२/६६ सूत्र दिया है, जिसके अनुसार तृतीया में 'भि' भी विकल्प से हो जाता है ।

संस्कृत में 'गो' शब्द की षष्ठी के बहुवचन का 'गवाम्' रूप बनता है, जबकि छान्दस मे 'गोनाम्' रूप भी उपलब्ध होता है। पालि मे इसके तीन रूप मिलते है—गवं, गुन्नं, गोनं ।[11] यहाँ पर पुनः पालि के रूपो मे छान्दस रूपों की छाया उसे वैदिक भाषा के समीप ले जाकर बिठा देती है ।

गोनाम्—शतं कक्षीवा असुरस्य **गोनां** दिविश्रवोऽजामाततान ।
(ऋ० १/१२६/२)

गवाम्—गवामप व्रज वृधि कृणुष्व राधो अद्रिव. । (ऋ० १.१०.७)

इसी प्रकार वेदो में 'पति' शब्द के तृतीया एकवचन में 'पतिना और पत्या' दो रूप मिलते है, जबकि संस्कृत मे केवल 'पत्या' रूप ही बनता है । 'पतिना' केवल अन्य शब्द के साथ समस्त होने पर ही बनता है; यथा—भूपतिना, श्रीपतिना ।

पतिना—वेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि । (ऋ० ४ ५७ १)

पत्या—ऋतस्य योनी सुकृतस्य लोकेऽरिष्टाँ त्वा सह पत्या दधामि ।
(ऋ० १०.८५.२२)

पालि मे पति शब्द के लिए तृतीया एकवचन मे सस्कृत के अनुसार पत्या' को स्वीकार न कर 'पतिना' को ही ग्रहण किया है ।

सस्कृत मे 'इष्' (इच्छ्) धातु केवल परस्मैपदी है जबकि छान्दस मे यह उभयपदी धातु के रूप मे प्रयुक्त हुई है । इसी प्रकार पालि मे 'लभ्' धातु का प्रयोग दोनो पदो मे उपलब्ध होता है । इस प्रकार महाभाष्यकार के 'तिङा व्यत्यय.' को पालि मे स्वीकार कर लिया गया है—

---

[11] गुन्न च नं ना. २/७२ मोग्गल्लान व्याकरण ।

(१) इच्छसे अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि युधेदापि त्वमिच्छसे । (ऋ० ८.२१.२)

(२) इच्छन्ति—अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा । मन्दान इन्द्रो: अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छन्त्यर्चन्नु नु स्वराज्यम् ।
(ऋग्वेद, १.८०.६)

पालि—

(१) लब्भति—समुद्द देवता तुम्ह येव लब्भति । (सीला निसंस जातकम्)

(२) लब्भते—अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो न लब्भते सुखम् ।
(ध. प. द. व. ३)

इसी प्रकार वेद मे सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनो नियमों से ही प्रत्यय जोडे जाते है। अतः लोट् मे वर्धन्तु और वर्धयन्तु' (वृध्) दोनो ही रूप बन जाते है। सस्कृत मे इस प्रकार के प्रयोगों का परित्याग कर उन्हे एक नियम के अधीन बाँध दिया गया है। अत' संस्कृत मे केवल 'वर्धन्ताम्' रूप ही निष्पन्न होता है—

(१) वर्धन्तु—तुभ्य वर्धन्तु त्व सोम पेयाय धृष्णो ।
(ऋग्वेद ३.५२.८)

(२) वर्धयन्तु—पृणन्तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्या सुतः पौर इन्द्रभावः ।
(ऋ० २.११.११)

इसी प्रकार वेदो मे विकरण व्यत्यय भी हुआ है; यथा 'भिद्' का भेदति, 'मृ' का मरति और हन् का हनति रूप भी मिलते है तथा भिनत्ति, भिन्ते, भिन्दति, मारयति, हन्ति आदि रूप भी मिलते है।

उपरिकथित दोनो रूपो मे वचनो का तथा कारको का व्यत्यय भी मिलता है। वेदो मे अनेक स्थानो पर बहुवचन शब्दो के साथ एकवचन क्रियायें प्रयुक्त की गई है, जबकि संस्कृत मे ऐसा कदापि सम्भव नही है, किन्तु पालि मे ऐसे प्रयोग मिलते है।

छान्दस—चपाल ये अश्वयूपाय तक्षति । (तक्षन्ति के स्थान पर तक्षति का प्रयोग)

पालि—न ससस्स तिला अत्थि न मुग्गा नापि तण्डुला ।
(पा. जा. ससजातकम्)

इसी प्रकार कारको मे भी सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग तथा सप्तमी के स्थान पर षष्ठी, चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी, द्वितीया के स्थान पर षष्ठी आदि के व्यत्यय वेदो मे उपलब्ध होते है, जबकि संस्कृत मे इस प्रकार के व्यत्ययो को रोक दिया गया है, परन्तु पालि में ये अबाध-गति से प्रयुक्त हुए है।

छान्दस—ऋजव: सन्तु पन्था : (पन्थान: के स्थान पर)

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' तथा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। 'यजेश्च करणे' आदि सूत्र वेद की भाषा के व्यत्यय को स्पष्ट कर देते है। पालि में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते है—

पालि—द्वितीया के स्थान पर चतुर्थी—

(१) पूरति बालो पापस्स थोक-थोकपि आचिन।

(धम्मपद पाप वग्गो, ६)

चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी तथा द्वितीया के स्थान पर षष्ठी—

(१) यो अप्पदुट्ठस्स (अल्पदुष्टाय) नरस्स (नरान्) दुस्सति। सुद्धस्स (शुद्धाय) पोसस्स अनगणस्स (अनंगणाय)।

(ध. प. पा. व. १०)

सप्तमी के स्थान पर प्रथमा—

(१) सो एवं वत्वा त दिवसमेव (तस्मिन् दिवसे) रज्ज पहाय।

(जा. म. देव)

सप्तमी के स्थान पर द्वितीया—

(१) अधो गंगं भस्सि।

(पालि जातकावली—सस जातकम्, पृ० ३५)

कृदन्त प्रत्ययो के प्रयोग की दृष्टि से पालि और छान्दस मे बहुत साम्य है, विशेषकर पूर्वकालिक प्रत्यय 'त्वा' और निमित्तार्थक प्रत्ययों के क्षेत्र में। सस्कृत मे 'त्वा' प्रत्यय केवल उपसर्ग रहित धातु के साथ प्रयुक्त है, जब धातु से पूर्व कोई उपसर्ग जुड़ जाता है तो सस्कृत मे 'त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय का विधान है, यथा—गत्वा, आगत्य। छान्दस मे भी दोनो प्रत्ययो का विधान है, पर इसमे उपसर्गयुक्त धातुओं के साथ भी 'त्वा' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता रहा है; यथा—'परिधापयित्वा' पालि मे यह प्रयोग अत्यन्त साधारण है—

(१) एक दिवस बोधिसत्तो आकास ओलोकेत्वा (अवलोक्य) चन्द दिस्वा।

(पालि जातकावली, पृष्ठ ३५)

(२) यो च पुब्बे पमज्जित्वा (प्रमाद्य) पच्छा सो नप्प मज्जति।

(ध. प. लोकवग्गो, ६)।

वेद मे 'क्त्वा' प्रत्यय के साथ कभी-कभी 'य' और बढ़ा दिया जाता है, पालि मे उसका स्थानापन्न 'न' मिलता है—

(१) दिव सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत्।

(ऋ० ८.१००.८)।

(२) कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान (दृष्ट्वा) का रति।
(ध. प. ज. व., ४)[12]

लगभग १८ निमित्तार्थक प्रत्ययों का प्रयोग वेद मे मिलता है जिनमे से केवल 'तुमुन्' प्रत्यय का ही प्रयोग संस्कृत में किया गया है, शेष छोड दिए गए है। पालि मे लगभग दो तो स्पष्टतः प्रयुक्त हुए हैं—तुमुन् और तवे।

वेद—(१) आ च नो र्वाहः सद ताविता च नः स्पार्हाणि दातवे वसु।
(ऋ० ७.५९.६)

(२) स आ गमदिन्द्रो यो वसूना चिकेतद्दातुं दामनो रयीणाम्।
(ऋ० इन्द्रसूक्त)

पालि—(१) परिफन्दति दं चित्तं मारधेय्य पहातवे। (प्रहातुम्)।
(ध. प. चि. व., २)

(२) न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमपि केनचि.।
(ध. प. बुद्धवग्गो, १८)

निपातो के कतिपय परिवर्तनों में भी पालि और छान्दस मे पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। छान्दस मे 'निपातस्य च' सूत्र से यह बताया गया है कि निपातों मे प्रायः अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाया करता है; पालि मे विकल्प से निपात का अन्तिम स्वर दीर्घ मिलता है—

(१) वेद—सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्र.।
(ऋ. सू. सं., ६०)

(२) पालि—अपा वाघतं च फासु विहालतं च। (अ. शि. ले. भब्रू)

अन्त में यही कहा जा सकता है कि छान्दस के अनेक प्रयोग जो संस्कृत मे या तो छोड़ दिए गए अथवा लुप्त हो गए, वे पालि मे पूर्णतः सुरक्षित हैं। ये सुरक्षित प्रयोग, सरलता से, पालि और छान्दस का सम्बन्ध प्रस्थापित कर देते है। महाभाष्यकार ने व्यत्यय के प्रमाण स्वरूप जो मन्त्र उद्धृत किया है उसके समस्त प्रयोग पालि मे प्रचलित है—

ऋजवः सन्तु पन्थाः (पन्थानः); परमे व्योमन् (व्योमनि); लोहिते चर्मन् (चर्मणि); आर्द्रे चर्मन् (चर्मणि); धीती (धीत्या); मती (मत्या); या सुरथा रथी-तमा दिवि स्पृशा अश्विना (यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशौ अश्विनौ); नताद् ब्राह्मणं (नतं ब्राह्मणम्); यादेव (यमेव); विद्मतात्त्वा (तंत्वा); युष्मे (युष्मासु); अस्मे (अस्मभ्यम्); उरुया (उरुणा); धृष्णुया (धृष्णुना); नाभा (नाभौ); आदि।

---

[12] एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता। (ध. प. पण्डित वग्गो, ७)। छेत्वान (छित्वा) मारस्य पपुपफकानि। (धम्मपद पुप्प वर्ग, ३)।

पंचम अध्याय

साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ

पालि के पश्चात् साहित्यिक प्राकृतों का प्रादुर्भाव—प्राकृत नाम क्यों—प्राकृतों के भेदों पर प्राचीन वैयाकरणों एवं काव्य शास्त्रियों के भिन्न-भिन्न विचार—प्राकृत भाषाओं की सामान्य ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक प्रवृत्तियाँ—मुख्यतः पाँच प्राकृतों की स्वीकृति—(१) शौरसेनी प्राकृत—ध्वनितत्त्व एवं रूप-तत्त्व, (२) मागधी प्राकृत—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(३) अर्धमागधी—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(४) महाराष्ट्री—ध्वनितत्त्व और रूपतत्त्व—(५) पैशाची प्राकृत—ध्वनि तत्त्व और रूप तत्त्व।

पालि एवं अशोकी शिलालेखो की भाषा जब साहित्य एवं राजकीय कार्यों के लिए प्रयुक्त की जा रही थी उस समय भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की बोलियाँ धर्म-गुरुओं एवं साहित्यकारो के सहयोग से विकास की ओर अग्रसर थी। ये ही बोलियाँ विकसित होकर साहित्यिक प्राकृतो के नाम से आगे चलकर प्रसिद्ध हुई।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, प्राकृत वैयाकरणो ने मध्य-कालीन भारतीय आर्य भापाओ की प्रकृति सस्कृत वताई है। इसीलिए इस काल की भाषाओ को प्राकृत नाम से अभिहित किया गया है, क्योकि ये भापाएँ किसी न किसी प्रकृति का आधार लेकर विकसित हुई है 'यत् प्रकृत्या जात तत् प्राकृतम्' सिद्धान्त के आधार पर ही यह नामकरण सस्कार हुआ ज्ञात होता है। इन भाषाओ के लिए यह सज्ञा प्राकृत वैयाकरणो की ही देन है। छान्दस एव संस्कृत-ग्रन्थो मे इन भाषाओ को देशी भाषाओ एवं अपभ्रंश भाषाओ के नाम से ही अधिकाशत: अभिहित किया गया है। यदि उत्तरकालीन किसी सस्कृत ग्रन्थ मे इन भाषाओ के लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो वह प्राकृत भाषा-ग्रन्थो का प्रभाव कहा जा सकता है।

'मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य रूप से इन भापाओ का अध्ययन करते समय हम बतला चुके है कि साहित्यिक प्राकृतो के पूर्ण रूप से अस्तित्व मे आ जाने तक अनेक देशी जन-बोलियो का प्रचलन भारतवर्ष मे हो चुका था। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इनकी संख्या देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न बताई है। अब तक प्राप्त सकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी सख्या अठारह तक पहुँच चुकी थी और विद्वानो का उनके स्वरूप से परिचय था। उस समय आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक पद्धति का अभाव होने के कारण विद्वानो ने इन बोलियो के नाम का उल्लेख तो कर दिया, किन्तु उनके स्वरूप का विवेचन करने का कष्ट नही उठाया। कारण स्पष्ट है कि ये बोलियाँ इस रूप में समुपस्थित न होगी और न ही वैयाकरणो को इनके लिए शास्त्र-निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई होगी तथा लिखित साहित्य का सम्भवत: अभाव होने के कारण काव्य-शास्त्रियों को इन बोलियो के लिए किसी प्रकार के साहित्यिक नियमो के निबन्धन की आवश्यकता नही हुई होगी। अत. इनके स्वरूप का विवेचन उस समय सम्भव न हो सका होगा।

प्राकृत भाषा के सर्वप्रथम वैयाकरण 'वररुचि' ने अपने व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत-प्रकाश मे चार प्राकृत भापाओं का शास्त्रीय-विवेचन प्रस्तुत किया है—

(१) महाराष्ट्री, (२) पैशाची, (३) मागधी, (४) शौरसेनी। उक्त ग्रन्थ के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का, दसवें परिच्छेद मे पैशाची का, ग्यारहवें में मागधी का और बारहवे में शौरसेनी भाषा का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचन से महाराष्ट्री प्राकृत का सर्वोपरि होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य वैयाकरणों ने वररुचि की ही पद्धति का अनुसरण किया है तथा प्राकृतों की यही सख्या और यही नाम मानकर उनका व्याकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र ने उक्त चार प्राकृतो के अतिरिक्त अन्य तीन प्राकृतो का व्याकरण भी अपने ग्रन्थ 'हेम शब्दानुशासन' मे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सात प्राकृत भाषाओं का अस्तित्व हमारे सामने उपस्थित होता है; यथा—(१) महाराष्ट्री अथवा प्राकृत, (२) शौरसेनी, (३) पैशाची, (४) चूलिका पैशाची, (५) मागधी, (६) आर्ष या अर्धमागधी, (७) अपभ्रंश। हेमचन्द्र ने जैन होने के कारण अर्धमागधी को, अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा सिद्ध करने हेतु, आर्ष संज्ञा से अभिहित किया है।

इनके अतिरिक्त नामोल्लेख के रूप मे अन्य अनेक प्राकृतें उपलब्ध होती हैं जिनका विवरण एवं समाधान डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने 'भाषा विज्ञान' ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है—"अन्य प्राकृत व्याकरणो एवं इतर स्रोतों से कुछ और प्राकृत भाषाओं के नाम भी मिलते हैं; जैसे वाल्हीकी, शाकारी, टक्की, शावरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्या, भूतभाषा तथा गौड़ी आदि। इनमे प्रथम पाँच तो मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद हैं। आभीरिका शौरसेनी का जातीय रूप थी और अवन्ती उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्या भी शौरसेनी का ही एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने भूतभाषा कहा है (गलती से पैशाची का अर्थ पिशाच या भूत समझकर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने पैशाची को ही 'चूलिका-पैशाची' कहा है; किन्तु वस्तुत: बात ऐसी नही है। हेमचन्द्र ने ये दोनो नाम अलग-अलग दिए हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौड़ी का अर्थ है गौड देश की। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही नाम है।"[1]

इनके अतिरिक्त पश्चिमी प्राकृत, कैकेय प्राकृत, टक्क या माद्री प्राकृत, नागर प्राकृत या खस प्राकृत आदि की कल्पना भी कतिपय आधुनिक भारतीय विद्वान् एव पाश्चात्य भाषा-विज्ञ करते है, परन्तु इस प्रकार की कल्पना कदापि समीचीन नही कही जा सकती। मेरे विचार में छान्दस के परिनिष्ठित स्वरूप

---

[1] भाषा-विज्ञान, पृष्ठ ११७।

धारण करने तक यह बहुत सम्भव है कि समस्त उत्तर भारत में सप्त-सिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक अनेक जन-बोलियाँ न्यूनाधिक अन्तर के साथ विकसित हो चली हो और वैयाकरणों को उनका ज्ञान भी रहा हो, परन्तु इन बोलियो का—केवल साहित्यिक रूपों को छोड़कर—केवल नामोल्लेख मात्र उपलब्ध होता है। अतः इन पर किसी भी प्रकार का कोई निर्णय देना ख़तरे से खाली नही है। इसलिए हमे भी केवल उनके पुनरालेखन मात्र से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। प्रस्तुत ग्रन्थ मे हम उन्ही प्राकृत भाषाओ पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न करेंगे, जिन प्राकृतों का साहित्य उपलब्ध होता है अथवा जिनके साहित्य का अथवा व्याकरणिक विशेषताओं का वर्णन प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है। अधोलिखित प्राकृत भाषाएँ इन मान्यताओं के अन्तर्गत आती है—(१) शौरसेनी, (२) मागधी, (३) अर्धमागधी, (४) महाराष्ट्री, तथा (५) पैशाची।

अब हम सर्वप्रथम उन सामान्य विशेषताओं का अवलोकन करने का यत्न करेंगे जो उस समय की प्रचलित समस्त भाषाओ मे उपलब्ध होती है। तत्पश्चात् उन भाषाओ की पृथक्-पृथक् विवेचना प्रस्तुत कर उनकी अपनी मौलिक प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन करायेंगे।

ध्वनितत्त्व—(१) मध्यकाल तक आते-आते व्यञ्जन ध्वनियों मे दो स्वरो के मध्य आने वाली सघोष स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियो का उच्चारण शिथिल हो गया तथा उनका उच्चारण ऊष्म ध्वनिवत् होने लगा। धीरे-धीरे शिथिलता को प्राप्त ये ध्वनियाँ लुप्त होने लगी। यह प्रक्रिया कुछ इसी प्रकार सम्पन्न हुई जैसे किसी पदार्थ को रगड-रगड कर घिसना प्रारम्भ कर दे और अन्त मे घिसते-घिसते पदार्थ की वह अवस्था आ जाय कि उसका उस रूप मे अस्तित्व ही समाप्त हो जाय है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मध्य-कालीन आर्य भाषाओ मे स्वर-मध्यग अल्पप्राण अघोष एव सघोष ध्वनि का लोप हो जाता है—

शची>सई, रजक.>रअओ, नयनम्>णअण, शुक>सुग>सुअ, हृत्>हिद>हिअ (हि. हिया), अपर>अवर>अउर (और), सागर>साअर (सायर), रिपु>रिउ।

(२) स्वरो के मध्य में जब अघोष तथा सघोष महाप्राण ध्वनियाँ आती है तो प्राय: उसके स्थान पर 'ह्' का आदेश कर दिया जाता है। अपभ्रंश भाषा मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित की गई है। अपभ्रश एवं शौरसेनी प्राकृत मे सघोष अल्पप्राण के लोप के पश्चात् 'य्' श्रुति का आगम भी विशेष रूप से लक्षित किया गया है, जिसके अवशेष अब भी ब्रजभाषा एव राजस्थानी मे खोजे जा सकते है—

मुखम्>मुहं, मेखला>मेहला, मेघः>मेहो, माघः>माहो, नाथः>नाहो, मिथुनं>मिहुणं, साधुः>साहु, राधा>राहा, सभा> सहा, नभं>णहं ।

'य' श्रुति के उदाहरण[2]—नगरम्>नयरं, मृगांकः>मयंको, रसातलं>रसायलं, मदनः>मयणो, प्रजापतिः>पयावइ ।

(३) 'ऋ' ध्वनि लिखित रूप में तो नहीं मिलती है किन्तु उसका उच्चारण 'रि' की तरह होने लगा था । अधिकतर 'ऋ' का विकास 'अ इ, उ, और ए' के रूप में उपलब्ध होता है—

ऋणम्>रिणं, ऋजुः>रिज्जु, ऋषभः>रिसहो, ऋषिः>रिसि, एतादृशम्>एआरिस, तादृशः>तारिसो, सदृशः>सरिसो, यादृशः>एरिसो, कीदृशः>केरिसो, घृतम्>घअं, तृणम्>तणं, कृत>कअ, मृतः>मओ, कृपा>किवा, दृष्टम्>दिट्ठं, कृश.>किमो, वृषिः>विसी, ऋतु>उदु, प्रावृष्>पाउसो, पृष्ठम्>पुट्ठं, मातृ>माऊ, गृहम्>गेहं ।

(४) 'न' ध्वनि का विकास 'ण' मे होने लगा था—

नाराच.>णाराओ, नगरम्>णअर, निशाचरः>णिसाअरो ।

रूप तत्त्व—(१) व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रायः लोप हो गया । व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त्य 'हल्' व्यञ्जन का या तो लोप कर उसे स्वरान्त बना लिया गया या उसके साथ 'अ' का आगम कर उसे अजन्त बनाया गया है—

राजन्>राआ, आत्मन्>अप्पा ।

(२) शब्द रूपों में क्षय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ जो अप्रत्यक्ष रूप मे छान्दस से ही प्रारम्भ हो गया था, इस काल तक आते-आते इस के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे । पुल्लिङ्ग, कर्ता, बहुवचन और कर्म, बहुवचन के रूप समान होने लगे—

सव्वे—	सव्वे,	गिरिणो—	गिरिणो,	देवा—	देवा
(कर्ता)	(कर्म)	(कर्ता)	(कर्म)	(कर्ता)	(कर्म)

चतुर्थी के रूप लगभग समाप्त से हो गए और उसका काम षष्ठी से लिया जाने लगा ।

(३) लिङ्ग—लिङ्ग के स्थान पर किसी प्रकार के क्षय के चिह्न दृष्टिगत नही होते । मध्यकाल मे संस्कृत की तरह तीनो ही लिङ्गों का प्रयोग प्राप्त होता है । हाँ, लिङ्ग व्यत्यय के उदाहरण अवश्य मिलने लगते हैं, जिनके लिए अपभ्रंश के अध्ययन मे हेमचन्द्र को 'लिङ्गमतन्त्रम्'[3] सूत्र की रचना करनी पड़ी ।

---

[2] समस्त उदाहरण हेम व्याकरण से उद्धृत है ।

[3] हेमचन्द्र शब्दानुशासन, ८/४/४४५वां सूत्र ।

(४) संज्ञा शब्दो के साथ सार्वनामिक विभक्ति-प्रत्ययो का प्रयोग होने लगा; यथा—'लोके' के स्थान पर 'लोकम्हि', देवे>देवेम्मि, गुरो >गुरुत्तो, गुरुभ्य:>गुरुसुतो।

(५) कारक और क्रियाओं का सम्वन्ध व्यक्त करने के लिए संज्ञा शब्द के साथ कारकाव्यय एव कृदन्त क्रियाओ का प्रयोग भी इस काल मे प्रारम्भ हो गया। यही वह प्रवृत्ति है जिसने आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के अनुसर्गो अथवा परसर्गो को जन्म दिया। यद्यपि इस प्रवृत्ति के सकेत उत्तरकालीन संस्कृत से मिलने प्रारम्भ हो गए थे, किन्तु प्राकृतों मे इस प्रवृत्ति का विकास विशेष रूप से हुआ और अपभ्रश मे तो ऐसे प्रयोग धड़ल्ले के साथ होने लगे—रामस्स कए दत्तं, रामस्स केरक घर।

(६) आतमनेपदो के प्रयोग क्रमश. घटते जा रहे थे, धातुओ का प्रयोग प्राय· परस्मैपद मे ही होने लगा।

(७) 'लङ्, लिट् तथा लुङ्' के प्रयोग वन्द हो गए। 'लेट्' लकार का प्रयोग वहुत पहले ही (सस्कृत से ही) वन्द हो चुका था। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ के काल-रूपों एव भाव-रूपो का विवेचन करते समय डॉ० चाटुर्ज्या लिखते हैं—'आ भा आ के अधिकाश सूक्ष्म काल तथा रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गए और अन्त मे द्वितीय म भा.आ. अवस्था मे केवल कर्तरि वर्तमान, एक कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यत् (निर्देशक रूप मे), एक अनुज्ञार्थ तथा एक विधिलिङ् वर्तमान रूप प्रचलित रहे, साथ ही कुछ विभक्ति साधित भूत रूप भी वचे रहे, यथा—भूतकाल का निर्देश साधारणतया' त-इत' ('या-न') साधित कर्मणि कृदन्त या निष्ठा द्वारा होने लगा। 'लङ्, लुङ्, लिट्' के स्थान पर म.भा.आ. मे भूतकाल भावे या कर्मणि कृदन्त 'गत' लगा कर वनाया जाने लगा।[4]

(८) मिथ्या सादृश्य के आधार पर सुवन्त और तिङन्त रूप कम होकर भापा को सरल वनाने मे सहायक सिद्ध हो रहे थे।

सम्मिलित रूप से साहित्यिक प्राकृतो की भाषात्मक सामान्य प्रवृत्तियो के विश्लेपण के पश्चात् अव उपर्युक्त भाषाओ की उन विशेषताओ का अवलोकन करने का प्रयत्न करेगे, जिनके कारण ये भापाएँ एक ही स्रोत से निसृत होने पर भी अपना भिन्न अस्तित्व वनाए हुए है—

शौरसेनी—मध्यदेश मे वोली जाने वाली भाषा का नाम शौरसेनी है। इसका यह नाम शूरसेन प्रदेश के आधार पर पडा। आधुनिक मथुरा प्रदेश ही उस समय शूरसेन प्रदेश कहलाता था।

---

4 भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०७।

इस पर उदीच्य बोली का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है, परन्तु साथ ही मागधी भाषा की कतिपय विशेषताएँ अपने मे सजोए हुए है। शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग सस्कृत नाटको मे नाटककारों ने हीन पात्रो और नारी पात्रो के मुख से करवाया है। कर्पूरमञ्जरी नाटक का और अश्वघोष के नाटको का गद्य अधिकतर शौरसेनी मे ही उपलब्ध होता है। अश्वघोष के प्राय. तीन नाटक बताए जाते है जिनमें से दो के नामादि का—खण्डित होने के कारण—पता नही चलता। एक प्रकरण रूपक संपूर्ण उपलब्ध है जिसका नाम शारिपुत्र-प्रकरण है। इन नाटको की खोज लूडर्स महोदय ने की थी। गौतम और उनके शिष्यो को छोड़ कर शेष पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। डॉ. बलदेव उपाध्याय उसे महाराष्ट्री की संज्ञा देते है,[5] किन्तु प्रसिद्ध भाषा-विज्ञ डॉ. बाबूराम सक्सेना ने उसे शौरसेनी प्राकृत कहा है।[6] शौरसेनी और महाराष्ट्री मे पर्याप्त मात्रा मे साम्य होते हुए भी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो इनको पृथक्-पृथक् भाषाएं स्वीकार करने पर बल देती है। विद्वानो का मत है कि शौरसेनी का उद्भव पालि भाषा से हुआ है। 'शौरसेनी का ही विकसित रूप महाराष्ट्री है'—इस बात का समर्थन आजकल भाषा मर्मज्ञ विशेष रूप से कर रहे हैं।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी मे प्राय: वे सभी ध्वनियां उपलब्ध होती है जो पालि मे हैं। स्वरों मे 'ऐ', 'औ', 'ऋ' ध्वनियाँ नही हैं। व्यञ्जनों मे 'स, श, ष' तीनो के स्थान पर केवल 'स' मिलता है। 'न और य' के स्थान पर प्राय: 'ण' और 'ज' मिलते है; यथा—

ईदृशम् > ईदिसं, एष: > एसो, यज्ञसेन: > जण्णसेणो, पृतना > पिदणा, भानव: > भाणओ, अभिमन्यु: > अहिमण्णू, अब्रह्मण्यम् > अव्वह्मज्जं, यथा > जधा, यादृशं > जादिसं।

(२) शौरसेनी भाषा के अनादि में वर्तमान असयुक्त 'त' और 'थ' के क्रमश: 'द' और 'ध' हो जाते है; यथा—

गच्छति > गच्छदि, आगत: > आगदो, यथा > जधा, कथय > कधेहि, एतस्मात् > एदाहि, कौतूहलम् > कोदूहलं।

(३) जहाँ 'त' या 'थ' आदि मे वर्तमान हो वहाँ पर यह परिवर्तन नही देखा जाता; यथा—

तथा > तधा, तस्य > तस्स, तस्मिन् > तत्थ, तादृशम् > तादिसं।

(४) 'त' जब अन्य व्यञ्जन के साथ मिला हुआ होता है, तब भी इसे

---

[5] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०६।

[6] सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० २६५।

'द' का आदेश नही होता। 'थ' को भी सयुक्त होने पर 'ध' आदेश नही होता; यथा—

शकुन्तले>सउन्तले, आर्यपुत्र>अज्जउत्त, त्वया>तए, उत्थित:>उत्थिदो, स्थूलम्>थूल, उद्+स्था>उत्थ।

(५) 'थ' को सर्वथा 'ध' का आदेश नही होता, कही-कही 'थ' का 'थ' ही रहता है और कही-कही 'थ' को 'ह' आदेश भी देखा जाता है; यथा—

नाथ:>णाधो/णाहो, कथम्>कह/कधं, राजपथ:>राजपहो, दशरथ:> दसरहो।

(६) डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार संस्कृत 'द, ध' ध्वनियों की शौरसेनी में पूर्ण सुरक्षा पाई जाती है,[7] पर यह सर्वत्र दृष्टिगत नही होता, अनेक स्थानों पर इनमे विकार देखा जाता है; यथा—

वधू:>बहू, युधिष्ठिर:>जुहुट्ठिरो, नदी>नई, दुहिता>धूदा, रुध>रोव, वदरम्>वअरं।

(७) 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी 'क्ख' मिलता है; यथा—

इक्षु>इक्खु, कुक्षि>कुक्खि, वृक्ष:>रुक्खो।

(८) शौरसेनी मे कही-कही 'ज्ञ' के स्थान पर 'ण' भी मिलता है, यथा—सर्वज्ञ:>सव्वण्णो, इंगितज्ञ:>इगिअणो, विज्ञ:>विण्णो, 'ज्ञ' को विकल्प से 'ञ्ज' भी होता है। यथा—क्रमश: ब्रह्मज्ञ:>ब्रह्मञ्जो, विज्ञ>विञ्जो।

(९) सयुक्त व्यञ्जनों मे से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी मे अधिक नही मिलती।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी मे अदन्त शब्दो पर 'ङसि' के स्थान पर (पचमी एक वचन मे) 'आदो' और आदु' आदेश न होकर केवल 'दो' आदेश होता है; यथा—देवादो।

(२) शौरसेनी मे स्त्रीलिंग मे 'जस्' (प्रथमा बहुवचन) को 'उत' आदेश नही होता; यथा—प्राकृत—मालाओ, शौरसेनी—माला।

(३) शौरसेनी मे नपुसकलिङ्ग मे जस् और शस् (प्रथमा और द्वितीया बहुवचन) के स्थान पर केवल 'णि' आदेश होता है और पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है; यथा—वणाणि, धणाणि, आदि।

(४) शौरसेनी में केवल परस्मैपद के प्रयोग ही अधिक मात्रा मे पाए जाते है। आत्मनेपद के प्रयोग नही के बराबर है।

(५) शौरसेनी मे 'तिङ्' प्रत्ययो के आने पर 'भू' धातु 'भो' मे परिवर्तित हो जाती है; यथा—भोदि, भोमि।

---

[7] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ११५।

(६) शौरसेनी मे विधि के रूपों में मागधी और अर्धमागधी की तरह 'एञ्ज' न लगाकर सस्कृत के आधार को ही ग्रहण किया गया है; यथा— वर्तेत>वट्टे ।

(७) सस्कृत के कर्मवाच्य के सूचक 'य' प्रत्यय के स्थान पर शौरसेनी में 'इअ' आदेश होता है; यथा—पृच्छ्यते>पुच्छीअदि, गम्यते>गमीअदि ।

(८) शौरसेनी मे धातु और तिङ् के मध्य मे कही-कही 'ए' और 'आ' होते है । यथा—कथयति>कधेदि, शेते>सुआदि ।

(९) शौरसेनी मे 'कृ' 'गम्' धातुओ के साथ 'क्त' प्रत्यय को 'अडुअ' आदेश होता है; यथा—कडुअ, गडुअ । इसके अतिरिक्त करिय, करिदूण गच्छिय, गच्छिदूण रूप भी मिलते हैं ।

मागधी :

यह भाषा छान्दस से विकसित प्राच्या बोली का साहित्यिक एवं परिष्कृत रूप है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने प्रवचनो की अभिव्यञ्जना का माध्यम चुना था । वर्तमान अवध से लेकर बंगाल तक का प्रदेश इस भाषा के अन्तर्गत आता था । डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार प्राच्या उपभाषा सम्भवतः आधुनिक अवध, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा शायद बिहार प्रदेश की भाषा थी ।[8]

मागधी प्राकृत के साहित्यिक रूप मे आने तक आर्यों का यह वर्ग निश्चित रूप से आधुनिक बंगाल तक पहुँच चुका होगा । मागधी का ऐसा साहित्य अब तक उपलब्ध न हो सका है जो पूरे का पूरा मागधी भाषा मे लिखा गया हो । सस्कृत नाटको मे हीन पात्रो के मुख से इस भाषा का प्रयोग करवाया गया है । विद्वानो का मत है कि ध्वनि-विकार की दृष्टि से मागधी तत्कालीन भाषाओ की अग्रणी रही है ।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) पालि में प्राप्त प्रायः सभी स्वर मागधी में उपलब्ध होते है । व्यञ्जनो के क्षेत्र मे पालि का अनुसरण न कर स्वतन्त्र पथ का अनुगमन किया गया है । ऊष्म ध्वनियो मे पालि मे 'श, ष, स' तीनो के स्थान पर 'स' का प्रयोग मिलता है, वहाँ मागधी में उक्त तीनो ध्वनियो के स्थान पर केवल 'श' ही मिलता है । यथा—

हंसः>हशे, सारस.>शालशे, पुरुष >पुलिशे ।

(२) हेमचन्द्र के अनुसार 'स, ष' को असंयुक्त अवस्था मे ही 'श' आदेश होता है, सयुक्त रहने पर 'स्' को 'स' और 'ष्' को 'स्' आदेश हो जाता है;[9] यथा—

---

8 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' के अनुसार ।

9 आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र कृत, प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ १९५ ।

हस्ती>हस्ती, बृहस्पति->बुहस्पदी, कष्टम्>कस्ट, विष्णुम्>विस्नु, निष्फलम्>निस्फल, ऊष्मा>उस्मा ।

(३) मागधी मे 'र' के स्थान पर 'ल' मिलता है; यथा—

नर.>नले, करः>कले, मस्करी>मस्कली, वासरः>वासले, राजा>लाजा, समर>शमल, आदि ।

(४) मागधी मे 'स्थ और र्थ' के स्थान पर 'स्त' आदेश होता है; यथा—

अर्थवती>अस्तवदी, सार्थवाहः>शस्तवाहे, उपस्थितः>उवस्तिदे, सुस्थित.>शुस्तिदे ।

(५) 'ज, द्य, और य' के स्थान पर मागधी मे 'य' का आदेश होता है; यथा—

जानाति>याणादि, जनपद.>यणपदे, गर्ज्जति>गय्यदि, मद्यम>मय्यं, अद्य>अय्य, याति>यादि ।

(६) 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी में जहाँ 'क्ख या ख' मिलते है वहाँ मागधी मे 'स्क' का आदेश होता है, यथा—

पक्षः>पस्के, प्रेक्षते>पेस्कदि, आचक्षते>आचस्कदि ।

(७) मागधी मे 'त' के स्थान पर 'द' का आदेश होता है; यथा—

गच्छति>गच्छदि, अर्थवती>अस्तवदी, आगत'>आगदे ।

(८) द्वित्व 'ट' और 'ष' से युक्त ठ (ष्ट) के स्थान पर मागधी मे 'स्ट' का आदेश होता है; यथा—

पट्टः>पस्टे, भट्टारिका>भस्टालिका, भट्टिनी>भस्टणी, सुष्ठु>शुस्टु, कोष्ठागारम्>कोस्टागाल ।

(९) मागधी मे अनादि मे वर्तमान 'छ' के स्थान पर 'श्च' का आदेश होता है, यथा—

गच्छ-गच्छ>गश्च-गश्च, उच्छलति>उश्चलदि, पिच्छिलः>पिश्चिले ।

(१०) 'न्य, ण्य, ज्ञ, 'ञ्ज' संयुक्ताक्षरो के स्थान पर मागधी मे 'ञ्ञ' ध्वनि उपलब्ध होती है; यथा—

अभिमन्यु>अहिमञ्ञु, कन्या>कञ्ञा, अब्रह्मण्यम्>अवम्हञ्ञं, पुण्याहम्>पुञ्ञाहं, अवज्ञा>अवञ्ञा, सर्वज्ञ.>शव्वञ्ञे, पञ्जर >पञ्जले ।

(६) समीकरण की प्रवृत्ति जो सामान्य रूप से सभी प्राकृतो मे उपलब्ध होती है, वहाँ मागधी मे यदि ऊष्म ध्वनि पूर्ववर्ती हो तो समीकरण नही होता, यथा—हस्त>हस्त, शुष्क>शुस्क ।

(१२) 'द्य, र्ज, र्य' के स्थान पर प्राय. 'य्य' ध्वनि पाई जाती है; यथा—अद्य>अय्य, आर्य>अय्य, कार्य>कय्य, अर्जुन>अय्युण ।

रूप-तत्त्व :

(१) शौरसेनी मे जहाँ कर्ता कारक के प्रत्यय 'अः' के स्थान पर 'ओ' होता है वहाँ मागधी मे 'ए' मिलता है; यथा—

स.>से, क.>के, देवः>देवे, वृत्तः>वुत्ते, मेपः>मेशे, भदन्तः>भन्ते ।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दो मे वररुचि[10] के मत मे विकल्प से 'सु' प्रत्यय के आने पर 'अ' को 'इ' और प्रत्यय का लुक् होता है; यथा—

एशि लाआ<एप राजा, एशि पुलिशे<एप. पुरुषः ।

(३) 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दो मे प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे 'अः' को 'उ' भी होता है;[11] यथा—

हशिदु<हसितः, चलिदु<चलितः, खादिदु<खादितः ।

(४) षष्ठी मे 'स्य' के स्थान पर 'अह' का प्रयोग होता है; यथा—चारुदत्तस्य>चालुदत्ताह, रामस्य>लामाह, फलस्य>फलाह ।

(५) मागधी मे षष्ठी के बहुवचन 'आम्' को भी विकल्प से 'आह' आदेश होता है; यथा—

शअणाह<स्वजनानाम्, तुम्हाहं>युस्माकम् अम्हाहं>अस्माकम् ।

(६) सप्तमी मे 'इ' के स्थान पर 'अहि' उपलब्ध होता है; यथा—प्रवहणे>पवहणाहि ।

(७) मागधी मे 'अहम् और वयम्' के स्थान पर 'हगे' आदेश होता है; यथा—हगे शक्कावदालन्तित्स्तणिवाशी धीवले । (प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ १६८) ।

(८) मागधी मे 'स्था' धातु के 'तिष्ठ' के स्थान पर 'चिष्ठ' आदेश होता है, यथा—चिष्ठदि, चिष्ठदे । कुछ विद्वानो के मतानुसार 'चिट्ठ' भी आदेश होता है; यथा—चिट्ठदि, आदि ।

(९) 'गम्लृ, मृङ्, डुकृञ्' धातुओ मे 'क्त' प्रत्यय को 'डे' आदेश होता है, यथा—गडे<गतः, मडे<मृत , कडे<कृतः ।

(१०) मागधी मे 'क्त्वा' प्रत्यय को 'दाणि' आदेश होता है :—

शहिदाणि गडे>सोढ्वा गतः, करिदाणि आअडे>कृत्वा आगतः ।

अर्धमागधी :

यह भाषा शूरसेन प्रदेश (आधुनिक मथुरा) के पूर्व मे और मगध (आधुनिक दक्षिण बिहार) के पश्चिम में बोली जाती थी । इन्हे आजकल कौशल एव बनारस प्रदेश के नाम से अभिहित करते है । आधुनिक विद्वान् इसे पुरानी कौशली की पूर्वजा और प्राकृत वैयाकरण, मगध के पश्चिम मे बोली

---

[10] 'अत इदेतौ लुक् च' ११/१० (वररुचि-प्राकृतप्रकाश) ।

[11] क्तान्तादुश्च ११/११ (वही) ।

जाने के कारण, इसे 'पश्चिमी प्राच्या' भी कहते है। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध की मातृभाषा होने के कारण बौद्धो और जैनो की साहित्यिक भाषा बनी। बाद मे बौद्धो द्वारा मागधी और पुनः पालि को धार्मिक भाषा के रूप मे स्वीकार कर लिये जाने पर जैन धर्म की एक मात्र निधि बन गई। जैनो ने इसे छान्दस से भी प्राचीन भापा बताया है तथा वे न केवल इसे भारत की भाषाओ का, अपितु विश्व की समस्त भापाओ का उद्गम स्थल बताते है। हेमचन्द्र तथा अन्य जैन विद्वान् इसे 'आर्ष' भी कहते है।

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अर्धमागधी मे मागधी और महाराष्ट्री दोनो भाषाओ के तत्त्व देखने मे आते है। कुछ प्राकृत वैयाकरण इसे शौरसेनी और मागधी का मिश्रित रूप कहते है।

डॉ. मनमोहन घोप के महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान के पश्चात् दोनों वर्गो के विद्वान् सही उतरते है। डॉ घोष के अनुसार शौरसेनी का विकसित रूप ही महाराष्ट्री है, न कि महाराष्ट्र प्रदेश की कोई भिन्न प्राकृत। आपके अनुसार शौरसेनी प्राकृत का पोपण एव विकास महाराष्ट्र प्रदेश में महाराष्ट्री के नाम से इसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी का दक्खनी हिन्दी के नाम से दक्षिण मे।

प्राकृत वैयाकरणो एव विद्वानो ने महाराष्ट्री का प्रभाव लक्षित करते हुए कहा है—"रसौ लशौ मागध्याम् इत्यादि यन्मागधभाषा-लक्षणं तेन परिपूर्णा **प्राकृत** (महाराप्ट्री) **बहुला** अर्धमागधी इत्युच्यते" (औपपातिक-सूत्रवृत्तौ)।

'भगवती-सूत्र' मे अर्धमागधी का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—"मागधभाषा-लक्षण किञ्चित् किञ्चिच्च प्राकृतभापालक्षणं यस्यामस्ति सा अर्धमागध्याः इति व्युत्पत्त्या अर्धमागधी।' (भगवती सूत्रवृत्तौ)

क्रमदीश्वर ने प्राकृत के स्थान पर स्पष्ट ही महाराष्ट्री शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—महाराष्ट्री मिश्राऽर्धमागधी।

(सक्षिप्तसारे, पृष्ठ ३८, सूत्र ९७)

मार्कण्डेय महाराष्ट्री के स्थान पर शौरसेनी का प्रभाव बताते हुए लिखते है—"शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी"। (प्रा० सर्वस्व, पृष्ठ १०३)

मलयगिरि ने केवल मागधी का प्रभाव मानते हुए स्वतन्त्र रूप से अर्ध-मागधी का विवेचन किया है। यथा—"अत. सौ पुसि इति मागधिक-भापा लक्षणावत् सर्वमपि हि प्रवचनमर्धमागधिक-भापाऽऽत्मकम् अर्धमागधी भाषया तीर्थंकृता देशना-प्रवृत्तेः। (नन्दी सूत्रवृत्तौ)

उपर्युक्त उद्धरणो से प्रतीत होता है कि कुछ विद्वान् मागधी का अधिक

प्रभाव मानते है और कुछ महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी का। प्रभावों की न्यूनाधिकता को प्रश्रय न देते हुए हम कह सकते है कि अर्धमागधी ने मागधी और मध्यदेशीय भाषाओ से कुछ ग्रहण कर तथा जैनाचार्यो की उच्चतम प्रतिभाओं की सेवावृत्ति को लेकर अपने समय की सर्वोन्नत साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त किया है। समस्त जैन धार्मिक-साहित्य अर्धमागधी भाषा में लिखा गया है। शौरसेनी भाषा के प्रकाश मे (साहित्यिक) आने से पूर्व ही इसमे पर्याप्त मात्रा मे धार्मिक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। अर्धमागधी मे उपरिकथित दोनो भाषाओं की विशेषताओ के साथ-साथ अपनी भी मौलिक विशेषताएँ है जो निम्न प्रकार से है—

ध्वनि तत्त्व—(१) स्वर और व्यञ्जनों की दृष्टि से यहाँ मागधी और शौरसेनी के मार्ग का ही अनुसरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि ऊष्म ध्वनियो मे से मागधी के शकार के स्थान पर शौरसेनी के सकार के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट की है—

संस्कृत	मागधी	अर्धमागधी
श्रावक:	शावके	सावके
वेश:	वेशे	वेसे
शृंगार:	शिंगारे	सिंगारे

(२) अर्धमागधी मे मागधी की तरह 'र' का 'ल' मे परिवर्तन नही होता—कला>कला, दारक>दारय।

(३) ऋकारान्त धातुओ के अन्त मे आये 'क्त' प्रत्यय के 'त' के स्थान पर 'ड' का आदेश होता है—

मृत.>मड, कृत:>कड।

(४) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष अल्पप्राण स्पर्श के लोप हो जाने पर उसके स्थान पर 'य' श्रुति का आगम होता है—सागर:>साअर> सायर, कृत·>कअ>कय, गत >गअ>गय, विशारद.>विशारअ>विसारिय।

(५) कही-कही स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण घोष ध्वनि, अल्पप्राण सघोष ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है; यथा—लोकस्मिन् (लोके)>लोगंसि।

(६) 'क' के स्थान पर 'ग' का आगम होता है—

श्रावक >सावगे, अशोक:>असोगे, अहक>हगे।

(७) 'दन्त्य ध्वनियो को मूर्धन्यादेश' की प्रवृत्ति अर्धमागधी की विशेषताओ में एक मानी जाती है—

मृत.>मडे, कृत·>कडे।

रूप तत्त्व—(१) कर्ता कारक के एकवचन में शौरसेनी और महाराष्ट्री की तरह अन्त मे 'ओ' तथा मागधी के समान 'ए' होता है—

संस्कृत	मागधी	शौरसेनी	अर्धमागधी
श्रावक:	शावके	सावको	सावके/सावको
भदन्त:	भन्ते	भदन्तो	भदन्ते/भदन्तो
श्रमण:	शमणे	समणो	समणे/समणो

(२) सप्तमी के एकवचन के 'स्मिन्' के स्थान पर 'अंसि' का प्रयोग मिलता है—

लोकस्मिन्>लोगसि/लोयसि;

तस्मिन्>तंसि, अस्मिन्>अंसि ।

(३) 'कम्म' 'धम्म' के तृतीया एकवचन मे 'उणा' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है—कम्मुणा, धम्मुणा ।

(४) उपसर्गो मे कही-कही अन्त्य वर्ण तथा कही केवल अन्त्य स्वर का लोप देखा जाता है—

इति>ई, प्रति>पत ।

(५) 'त्वा और ल्यप्' के स्थान पर अर्धमागधी मे क्रमश. 'इत्तु और ट्टु' का प्रयोग होता है—

श्रुत्वा>सुणित्तु, ज्ञात्वा>जाणित्तु;

कृत्वा>कट्टु, अपहृत्य>अवहट्टु ।

(६) 'तुमुन्नन्त' प्रत्ययो का प्रयोग अर्धमागधी मे पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है—कर्तुम्>काउँ का प्रयोग 'कृत्वा' के स्थान पर मिलता है ।

(७) डॉ. उदयनारायण तिवारी ने पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'त्ता और च्चा' प्रत्ययो के प्रयोग का उल्लेख भी किया है ।

महाराष्ट्री :

प्राचीन वैयाकरणो का यह अभिमत था कि दक्षिण की ओर अग्रसर होने वाले आर्य जिस बोली का प्रयोग करते थे, उसका साहित्यिक रूप ही महाराष्ट्री प्राकृत है और इसी से आधुनिक विद्वान् मराठी भाषा का उद्भव भी सिद्ध करने का यत्न करते हैं । हाल ही मे डॉ. मनमोहन घोष की खोज के पश्चात् आधुनिक विद्वद्वर्ग की प्रवृत्ति इस दिशा की ओर भी चिन्तन करने लगी है कि महाराष्ट्री प्राकृत पूर्वकथित तत्कालीन प्राकृत भापाओ के समानान्तर चलने वाली स्वतन्त्र रूप से विकसित भाषा विशेष न होकर शौरसेनी प्राकृत से विकसित या उसका पश्चकालीन स्वरूप है और इस भाषा का विकास शूरसेन प्रदेश मे न होकर उसी प्रकार महाराष्ट्र प्रदेश मे हुआ, जिस प्रकार खड़ी बोली, 'दक्खणी हिन्दी' या 'रेख्ता' के नाम से दक्षिण मे विकसित होती रही और

(७) महाराष्ट्री मे ऋकार के स्थान पर क्रमशः 'अ, इ, उ' तीनो ही मिलते है; यथा—

घृतम् > घअ, तृणम् > तण, वृषभः > वसहो, कृपा > किवा, दृष्टम् > दिट्ठं, सृष्टिः > सिट्ठी, ऋतु. > उदू, ऋषभः > उसहो, पृष्ठम् > पुट्ठं।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) महाराष्ट्री प्राकृत मे तीन लिङ्ग तथा दो वचन उपलब्ध होते है। कारको मे चतुर्थी को छोड कर सभी कारको का प्रयोग उपलब्ध होता है। चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखने मे आता है।

(२) प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे मागधी मे 'ए' अपभ्रंश मे 'उ' का जहाँ पर आदेश होता है वहाँ पर महाराष्ट्री मे 'ओ' उपलब्ध होता है; यथा—

देवो, हरिअदो, नभो आदि।

(३) अपादान एकवचन मे 'अहि' विभक्ति प्रत्यय का विकास महाराष्ट्री की अपनी मौलिक विशेषता है; यथा—

दूरात् > दुराहि, देवात् > देवाहि, भर्तुः > भत्ताराहि। (हेमचन्द्रानुसार)

(४) अधिकरण कारक के एकवचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' विभक्ति प्रत्यय से निष्पन्न होते है; यथा—

देवे > देवेम्मि, गिरौ > गिरिम्मि, गुरौ > गुरुम्मि, लोकस्मिन् > लोअम्मि/लोए, भर्तरि > भत्तारम्मि/भत्तारे।

(५) 'आत्मन्' का विकास शौरसेनी मे जहाँ 'अत्ता' के रूप मे होता है वहाँ महाराष्ट्री मे 'अप्पा' के रूप मे हुआ है।

(६) महाराष्ट्री मे गणभेद की व्यवस्था नही की जाती। अदन्त धातुओ को छोड कर शेष धातुओं के लिए 'आत्मनेपदी और परस्मैपदी' का भेद नही माना जाता।

(७) 'कृ' धातु रूपो पर सीधा छान्दस का प्रभाव लक्षित होता है; यथा—

कृणोति > कुणई। सस्कृत 'करोति'।

(८) कर्मवाच्य मे जहाँ शौरसेनी मे 'ए' मिलता है, वहाँ महाराष्ट्री मे 'इज्ज' मिलता है; यथा—

पृच्छ्यते > पुच्छिज्जइ, गम्यते > गमिज्जइ।

(९) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'क्त्वा' के स्थान पर 'तूण' (ऊण) आदेश होता है; यथा—

पृष्ट्वा > पुच्छिऊण, कृत्वा > काऊण, गृहीत्वा > घेतूण।

(१०) 'इदमर्थ' मे प्रयुक्त प्रत्ययो के स्थान पर महाराष्ट्री में 'केर' शब्द का प्रयोग मिलता है; यथा—

युष्मदीय >तुम्हकेरो, अस्मदीय >एम्हकेरो ।

पैशाची :

पैशाची किस प्रदेश विशेष मे बोली जाती थी, विद्वन्-मण्डली अभी तक किसी पुष्ट निर्णय पर नही पहुँच पाई है । प्राचीन सस्कृत साहित्य मे पिशाच-प्रदेश के नाम से अनेक स्थानो का उल्लेख उपलब्ध होता है; यथा—

पाण्ड्य केकय-बाह्लीक, सिंह नेपाल कुन्तला ।
सुदेष्ण-वोट गन्धार-हैव-कन्नौजनास्तथा ।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद् गुणो भवेत् ।।[14]

उपर्युक्त श्लोक मे वर्णित प्रदेशो मे कई नाम ऐसे भी है जिनकी पहचान अब तक नही हो सकी ।[15]

हार्नले इसे दक्षिण मे द्रविड़ परिवारो द्वारा प्रयोग मे लाई जाने वाली भाषा बताते है । ग्रियर्सन इसे कश्मीर प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा का पुराना रूप मानते है । राजशेखर ने 'काव्य-मीमासा' मे एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे उस समय किस प्रदेश मे कौनसी भाषा बोली जाती थी, का उल्लेख है । उक्त श्लोक मे मरु-भूमि, टक्क (दक्षिण-पश्चिम पजाब) और भादानक के प्रदेश पैशाची भाषा-भाषी कहे गए है । प्राचीन आचार्यो ने पैशाची के लिए 'भूतभाषा' शब्द का (सम्भवत पिशाच के मिथ्या सादृश्य के कारण) प्रयोग भी किया है । प्राकृत वैयाकरणो ने पिशाची के अनेक भेदो का उल्लेख किया है । डॉ. ग्रियर्सन ने राम शर्मा का उल्लेख करते हुए अपने 'भाषा-सर्वेक्षण' ग्रन्थ मे इसके सात भेद दिए हैं । हेमचन्द्र ने केवल 'चूलिका पैशाची' का ही उल्लेख किया है । मार्कण्डेय ने तीन भेद किए है । इस प्रकार विभिन्न वैयाकरणो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके भेद किए है । इसका कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि यह भाषा मूल रूप मे तो एक ही रही होगी, पर इसका प्रभाव समीपस्थ अन्य बोलियो पर गम्भीर रूप से पडा है और इसी आधार पर प्राकृत वैयाकरणो ने उन प्रान्तो के नाम पर उसे पैशाची का भेद मान लिया । यह अनुमान तभी तक किया जा सकता है जब तक इस भाषा का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नही हो जाता । अब तक यह भी सम्भावना की जा सकती है कि यह अपने समय की एक प्रभावशाली साहित्यिक भाषा

---

14 हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १८ ।

15 वही, पृष्ठ १८ ।

रही हो और इसकी अनेक विभाषाएँ भी हों। यह सब निश्चित रूप से तभी कहा जा सकता है जबकि इसका कोई किसी प्रकार का साहित्य भी उपलब्ध हो सके। विद्वानो का अनुमान है कि संस्कृत मे अनूदित 'गुणाढ्य' की 'बृहत् कथा' मूलतः पैशाची भाषा मे ही लिखी गई थी जो किन्ही कारणों से काल-कवलित हो गई लगती है। प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ है—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष स्पर्श व्यञ्जनों को अघोष स्पर्श व्यञ्जनो का आदेश हो जाता है; यथा—

गगनम्>गकन, मेघः>मेखो, वारिदः>वारितो, राजा>राचा, निर्झरः>णिच्छरो, वडिशम्>वटिस, माधवः>माथवो, सरभसम्>सरफस, दामोदरः>तामोतरो।

(२) पैशाची मे संयुक्त व्यञ्जनो को सस्वर कर देने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। हिन्दी मे इस प्रवृत्ति को 'स्वर भक्ति' के नाम से व्यवहृत करते है; यथा—

स्नानम्>सनान, स्नेहः>सनेहो, कष्ट>कसट, भार्या>भारिया, हृदयकम्>हितपक, क्रियते>कीरते।

(३) पैशाची मे 'ल' के स्थान पर 'ल़' आदेश की बात प्राकृत व्याकरण मे कही गई है; यथा—

सलिलम्>सलि़ल, कमलम्>कमल।[16]

(४) पैशाची मे 'श, ष' के स्थान पर कही 'स' और कही-कही 'श' भी उपलब्ध होता है; यथा—

शोभते>सोभति, शशि>ससि, दशवदनः>दसवत्तनो, विषमः विसमो, विषाणः>विसानो, कष्टम्>कसट। वडिशम्>वटिशम्।

(५) पैशाची मे कही-कही 'र' के स्थान पर 'ल' भी मिलता है। बहुत सम्भव है कि यह प्रभाव इस पर मागधी का रहा हो; यथा—

रुद्रम्>लुद्र, तरुणी>तलुनी, कुमारः>कुमालो।

(६) पैशाची मे 'ण' के स्थान पर 'न' का आदेश होता है; यथा—

गुणगणः>गुनगुनो, गुणेन>गुनेन।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) पैशाची मे पचमी एकवचन के 'ङसि' के स्थान पर 'आतो' और 'आतु' का आदेश अकारान्त शब्दो के साथ होता है; यथा—तुमातो, तुमातु (त्वत्), ममातो, ममातु (मत्)।

---

[16] प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ २००।

(२) पैशाची मे 'तेन' तथा 'अनेन' दोनों के स्थान पर केवल 'नेन' उपलब्ध होता है। स्त्रीलिङ्ग मे 'नाए' मिलता है।

(३) पैशाची मे कर्मवाक्य मे 'इय्य' का आदेश किया जाता है; यथा—

रम्यते>रमिय्यते, पठ्यते>पठिय्यते।

(४) पैशाची मे 'क्त्वा' के स्थान पर 'तून' का आदेश किया जाता है; यथा—

गत्वा>गन्तून, हसित्वा>हसितूनं, चलित्वा>चलितून।

(५) पैशाची मे भविष्यत् काल मे 'स्सि' का आदेश न होकर 'एय्य' का आदेश होता है; यथा—

भविष्यति>हुवेय्य, पठिष्यति>पठेय्य।

षष्ठ अध्याय

अपभ्रंश भाषा

अपभ्रंश का समय—अपभ्रंश से तात्पर्य—अपभ्रंश और देशी शब्द—क्या अपभ्रंश देश्य भाषा थी—अपभ्रंश का इतिहास—अपभ्रंश के अनेक भेदोपभेद—अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में एक अथवा अनेक बोलियों के अवशेष मिलते हैं—अपभ्रंश के चार भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के तीन भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के दो भेद और उनका निराकरण—एक शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश की पुष्टि ।

अपभ्रंश का समय

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग दो अर्थो में उपलब्ध होता है—एक तो सस्कृत से विकृत तद्भव शब्दावली के लिए, द्वितीय एक भाषा-विशेप के अर्थ मे। जहाँ तक तद्भव रूपो के लिए इसके प्रयोग का सम्बन्ध है, सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसका प्रयोग किया है—भूयासोऽपशब्दा: अल्पीयास: शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा.। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोपभ्रशा:।[1] विद्वानो ने पतञ्जलि का समय ई० पूर्व दूसरी शताब्दी माना है। यदि पतञ्जलि को प्रमाण माने तो उन्होने एक संग्रहकार 'व्याडि' का उल्लेख किया है जिसने अपभ्रश की प्रकृति सस्कृत को माना है[2]—पर उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है—अपभ्रश का इस अर्थ मे प्रयोग और भी पहले ले जाया जा सकता है। यहाँ पर यह स्पप्ट करना वाञ्छनीय होगा कि जिस भाषा-विशेष का समय हम निश्चित करना चाहते है, उससे इन प्रयोगो का कोई सम्बन्ध नही है।

अपभ्रंश भाषा का साकेतिक अर्थ मे प्रयोग सर्वप्रथम तृतीय शताब्दी मे भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे किया है। भरत मुनि ने जिस 'उकार बहुला' भाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रश भाषा ही है, पर भरत मुनि ने इसे अपभ्रश न कहकर 'उकार बहुला' भापा कहकर ही काम निकाल लिया है।[3] हाँ, विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग अवश्य ही लक्षणीय है।[4] इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय मे अपभ्रश भाषा प्रकाश मे आ चुकी थी, पर उसका नामकरण सस्कार अब तक नही हो पाया था। इसे हीन एव जगली लोगो की ही भाषा कहा जाता था, पर नाटको मे उसके प्रयोग का अधिकार अवश्य सुरक्षित हो गया था।[5] भरत मुनि का उकार बहुला भापा से किस भाषा का तात्पर्य था, यदि इसका सूक्ष्म विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि आभीरादि लोगो की भाषा को ही वे इस लक्षण से लक्षित

---

[1] महाभाष्य—१-१-१

[2] शब्दप्रकृतिरपभ्रश. इति सग्रहकार। (वाक्यपदीयम्—काण्ड १, कारिका १४८)।

[3] हिमवत्सिंधु-सौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता। (ये जना॰ समुपाश्रिता:)। उकार बहुला तेपु नित्य भाषा प्रयोजयेत्। (भरत नाट्यशास्त्र १७/६२)।

[4] समानशब्द विभ्रष्ट देशीगतमथापि च। (भरत नाट्यशास्त्र १०/३)।

[5] भरत नाट्यशास्त्र १७।५०।

करते हैं, क्योंकि विभाषाओं की गणना करते समय इन्होंने आभीरी की भी गणना की है—

"शकाराभीर-चाण्डाल-शवर-द्रमिलान्ध्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ।।"[6]

अब यदि हम उन विद्वानो के विचारों का विश्लेषण करें, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है, तो विदित होगा कि वह कोई अन्य भाषा नही है, वल्कि भरत मुनि द्वारा उल्लिखित उकार वहुला भाषा ही है। अपभ्रंश शब्द का भाषा विशेष के लिए स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम वैयाकरणों में चण्ड ने[7] तथा काव्यशास्त्रियों मे भामह[8] ने किया है। इनका समय विद्वानो ने छठी शताब्दी ई० माना है। अतः स्पष्ट है कि छठी शताब्दी मे अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के लिए प्रारम्भ हो गया था। चण्ड ने उसके 'रेफ' सम्बद्ध लक्षण को वताते हुए उल्लेख किया है और भामह ने भाषाओं की गणना करते समय संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् उसका उल्लेख किया है। इन दोनों ही महानुभावों ने विस्तार से कुछ नही कहा, केवल सकेत मात्र ही दिया है।

सातवी शताब्दी मे दण्डी ने अपभ्रश का उल्लेख करते हुए दो विशेषणो का प्रयोग किया है—(१) आभीरादि गिर' और (२) 'सस्कृतादन्यत्'। इनका यदि विश्लेषण करें तो अचानक ही दण्डी से चार सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न भरत मुनि की स्मृति आ जाती है जिन्होने इनकी भाषा का उल्लेख किया है और अप्रत्यक्ष रूप से नाटको मे उसके प्रयोग का संकेत भी। दण्डी का सम्पूर्ण पद इस प्रकार है[9]—

'आभीरादि-गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेपु सस्कृतादन्यदपभ्रश तयोदितम् ।।'

उक्त पद मे दण्डी की 'आभीरादि गिरः' भरत मुनि की 'शकाराभीर' आदि विभाषाओं से भिन्न कुछ नही है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव गुप्तपाद 'प्राकृतों से अपभ्रष्ट रूप को विभाषा कहते है'[10] ऐसा वताकर स्पष्ट कर देते है कि भरत मुनि का विभाषाओ से तात्पर्य अपभ्रश और उसकी

---

6 भरत नाट्यशास्त्र, १७।५०।

7 (क) न लोपोऽपभ्रशेऽधोरेफस्य (प्रा. ल., ३.३७) (ख) सस्कृतं-प्राकृत चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।

8 संस्कृतं प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। (काव्यालकार, १/१६)

9 श्री दण्डी कृत काव्यादर्श १/३६।

10 भाषा सस्कृतापभ्रशो भाषापभ्रशस्तु विभाषा, १७/४९-५० की विवृत्ति।

बोलियों से ही था। द्वितीय 'नाटके स्मृता.' पद इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि नाटकों मे इन बोलियो का प्रयोग शास्त्र सम्मत माना जाने लगा था। अभिनव गुप्तपाद ने विवृति मे इसे और अधिक स्पष्ट किया है—

"भाषा संस्कृतापभ्रंश, भाषापभ्रशस्तु विभाषा, सा तत्तद्देश एव गह्वर-वासिना प्राकृतवासिनां च एता एव नाट्ये तु।"[11]

ऐसी स्थिति मे डॉ. नामवरसिंह का यह कहना "भाषा के अर्थ मे अपभ्रंश का प्रयोग छठी शताब्दी मे मिलता है, अतः अपभ्रश भाषा का प्रारम्भ छठी शताब्दी से माना जाना चाहिए"—मान्य नही है।[12] हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि भरत मुनि के समय तक अपभ्रश की बोलियो मे से किसी एक बोली ने परिनिष्ठित एव साहित्यिक रूप धारण न किया हो। अनेक बोलियाँ अपने उत्थान में समानान्तर रूप से आरूढ रही हो, पर अपभ्रश बोलियो का प्रयोग निश्चय ही इस समय तक नाटको मे प्रारम्भ हो गया था। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार का उस समय का कोई नाटक अब तक उपलब्ध न हुआ हो। यह निश्चित है कि अप्रत्यक्ष रूप मे भरत ने अपभ्रंश का ही प्रयोग किया है।

अपभ्रश भाषा का लिखित रूप सर्वप्रथम हमे कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अक मे मिलता है। यद्यपि भरत मुनि ने भी कुछ पद अपने नाट्यशास्त्र मे उद्धृत किए है, पर विद्वान् उसके सही रूप पर उलझे हुए है, तो भी कालिदास के पदो पर शका करना शोभनीय नही है। कालिदास के पदो को प्रक्षिप्त कहकर टालने का प्रयत्न किया जाता है। जो लोग इन्हे ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे रखते है, उनके अनुसार तब तक अपभ्रश भाषा अस्तित्व मे ही नही आई थी। अत विक्रमोर्वशीय मे कालिदास लिखित अपभ्रश पद्यो की भाषा का ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही है। यदि कालिदास को गुप्तकाल मे माने जो चतुर्थ शती ई० मे पड़ता है तो इन पद्यो की तथ्यता सिद्ध हो जाती है, क्योकि इन पद्यो मे प्राकृतो का अत्यधिक प्रभाव अपभ्रश की आरम्भिक अवस्था का द्योतन कराता है। यद्यपि इन पद्यो की सार्थकता कालिदास के काल की निश्चयात्मकता के साथ सम्बद्ध है तो भी अन्य साक्ष्य यह सिद्ध करने के लिए काफी प्रबल है कि अपभ्रश भाषा ई० की तीसरी शती मे अस्तित्व मे आ चुकी थी और उसका काव्य-ग्रन्थो मे प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। ई० की छठी और सातवी शताब्दी तक अपभ्रश एक महत्त्वपूर्ण एव समृद्ध भाषा के रूप मे उपस्थित हो चुकी थी। विद्वान् उस

---

[11] वही, भरत नाट्यशास्त्र, १७/४९-५०।

[12] हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग, पृ० २३।

पर अधिकार प्राप्त करने मे अपना गौरव समझने लगे थे। राजा धरसेन द्वितीय का ताम्रपत्र इसका प्रमाण है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ की प्रबन्धात्मकता में निपुण कहा है।[13] इसी शताब्दी में चण्ड को अपभ्रंश की व्याकरणात्मक विशेषता पर कुछ लिखना पड़ा। उस समय से लेकर ई० की बारहवी शताब्दी तक अपभ्रंश भारत की एकमात्र साहित्यिक भाषा के रूप मे विद्वज्जनों के गले का हार बनी रही। अनेक प्राकृत वैयाकरणो ने इसका व्याकरण लिखकर नियमबद्ध किया। इनमे हेमचन्द्र का लिखा हुआ व्याकरण सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ तथा उसमें बारहवी शताब्दी तक की अपभ्रंश भाषा की सभी प्रवृत्तियो को समाविष्ट किया गया है। इसमे कोई दो राय नही हैं कि हेमचन्द्र जब अपभ्रंश का व्याकरण लिख रहे थे उस समय अपभ्रंश पूर्ण परिनिष्ठित शिष्टो की भाषा[14] का स्थान ग्रहण कर चुकी थी और अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

इसी काल के आस-पास विद्वानो एवं कलाकारो का ध्यान बोलियो की ओर आकर्षित होता हुआ सा लगता है तथा अनेक ग्राम्य प्रयोग भाषा मे प्रवेश पाने लगते है।

अपभ्रंश साहित्य का भ्रम

जहाँ तक अपभ्रंश भाषा का सम्बन्ध है, उसका कोई भी प्रणालीबद्ध भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन हमे उपलब्ध नही है। परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्य तो मिलता है, पर उसकी बोलियो के किसी प्रकार के भी विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नही होते। अतः प्राप्त साहित्य के आधार पर ही, जहाँ कही उसमे जनपदीय बोलियो का पुट आ गया है, उससे ही हमे उसकी बोलियों का अनुमान लगाना पड़ता है, जिसकी प्रामाणिकता को कभी भी असन्दिग्ध नही कहा जा सकता। यही कारण है कि विद्वान् लोग आज तक किसी सर्वमान्य निर्णय पर नही पहुँच सके है कि साहित्यिक अपभ्रंश कितने रूपो मे प्रचलित थी और उसकी कितनी बोलियाँ उस समय अस्तित्व मे थी। अतः कुछ विद्वान् केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रंश को ही स्वीकार करते है और बोलियो का अथवा विभाषाओ का अस्तित्त्व स्वीकार करने को तैयार नही हैं। कुछ विद्वान् परिनिष्ठित अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक खोजे जा सके हैं, उन्ही की भाषा को यत्किञ्चित् क्षेत्रीय प्रभाव के कारण कोई चार मे; कोई तीन मे तथा कोई दो रूपो मे विभाजित कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते है; और कुछ

---

13 संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश—भाषात्रय-प्रतिबद्ध; प्रबन्ध रचना—निपुणान्तःकरणः (हि. वि. अ. यो., पृष्ठ २३ से उद्धृत)।

14 शेषं शिष्टप्रयोगात् (पुरुषोत्तम, १७/६१)।

विद्वान् वर्तमान समय तक प्राप्त ग्रन्थों की भाषा को कृत्रिम अथवा विद्वज्जन निर्मित भाषा कह कर उस पर सन्देह का आवरण डाल, विषय को अधिक दुरूह बना देते है। यह मत वैभिन्य केवल आधुनिक भाषा शास्त्रियो में ही हो, ऐसी बात नही है। संस्कृत काव्य-शास्त्रियो एव साहित्यकारो तथा प्राकृत वैयाकरणो मे भी जिन्होने प्राकृत भाषा के साथ-साथ अपभ्रंश पर भी अपने विचार प्रकट किए है, यह मत-भिन्नता उपलब्ध होती है।

'देशी' शब्द का प्रचलन

इस मत-वैभिन्य का सबसे बड़ा कारण, जो मैं समझता हूँ, वह पूर्व-परम्परा से चला आता हुआ सस्कृत काव्य-शास्त्रियो एवं वैयाकरणो द्वारा प्रयुक्त 'देशी' शब्द है। पतञ्जलि के अनुयायियो ने इसका प्रयोग केवल उन शब्दो के लिए किया है जिनका उद्गम सस्कृत से नही हुआ तथा जिन्हे संस्कृत व्याकरण के नियमो के द्वारा सिद्ध न किया जा सके तथा जो न तत्सम है और न तद्भव। इससे स्पष्ट होता है कि ये वे शब्द थे जो आर्यभाषाओ से उद्गत न होकर साहचर्य के कारण अनार्य भाषाओं से प्राकृतादि भाषाओ मे आ गए थे। डॉ. तगारे ने विद्वानो का उद्धरण देते हुए इस सम्बन्ध मे लिखा है—

As Pischel points out the term Desi, Desya Desimata, Desiprasidh denote heterogeneous element. (Pischel Grammatika §9.) It is used for a class Pk vocabulary as distinct from Tss and Tbhs in Bharat 17.3. In 6th century A. D Canda uses the words Desiprasidh for a class of non-Sanskrit words and not for a dialect. (Historical Grammar of Apbhransh, page 5.)

कुछ समय पश्चात् काव्य-शास्त्रियो एवं प्राकृत वैयाकरणो द्वारा इसका प्रयोग इतने घड़ल्ले एव स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा कि यह अपनी एकार्थत्व शक्ति खो बैठा। कही इसका प्रयोग उपरिकथित शब्द विशेष के लिए हुआ तो कही इसका प्रयोग देश मे प्रचलित समस्त आर्य एव अनार्य बोलियो के लिए और कही इसका प्रयोग केवल आर्य भाषाओ से उद्गत बोलियो के लिए हुआ है। मार्कण्डेय द्वारा अपभ्रंश को देशी भाषा मानकर उसके भेदो का परिगणन करते समय उनमे द्राविड़ी को भी शामिल करना यह प्रकट करता है कि वह संस्कृत प्राकृतेतर भरत खण्ड मे बोली जाने वाली सभी बोलियो एवं भाषाओ को देशी भाषा मानकर चलता है।[15] भरत का

[15] हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवरसिंह, पृ० ५०।

संस्कृतेतर प्राकृत अपभ्रंशादि भाषाओ को देश भाषा मानना तथा शावरी एवं द्राविड़ी को भी देश भाषा कहकर उनका अपभ्रश से अन्तर स्पष्ट करना यही सूचित करता है कि यह भी सस्कृतेतर सभी बोलियों और भाषा विभाषाओ (आर्य अनार्य) को जो उस समय प्रचलित थी, समान दर्जा देता है ।[16]

कट्टरतावादी विद्वान् शिष्ट जन प्रयुक्त साहित्य की भाषा को वाणी और जनसाधारण द्वारा व्यवहृत भाषा को लोक भाषा के नाम से अभिहित करते थे । पाणिनि और पतञ्जलि ने संस्कृत को लोक-भाषा कहा है ।[17] इसके पश्चात् हुये भरतादि विद्वानों ने प्राकृत को भाषा (लोक) कहा है ।[18] तत्पश्चात् के विद्वानो ने अपभ्रश को भाषा (लोक) के नाम से अभिहित किया ।[19] यहाँ तक आते-आते 'लोक' शब्द का स्थान 'देशी या देश' शब्द ने ले लिया और इस प्रकार प्राकृत एव अपभ्रश तथा इसके बाद अपभ्रश की बोलियों के लिए देशी भाषा अथवा देश भाषा का प्रयोग किया जाने लगा ।[20] अतः इससे

---

[16] अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्, (भरत नाट्यशास्त्र, १७।२३) । शौरसेन समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।
(अथवाच्छन्दत. कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः । नाना देशसमुक्त हि काव्य भवति नाटके) आभीरोक्तिः शावरी स्यात् द्राविड़ी द्राविड़ादिषु (भरत नाटचशास्त्र, १७।२४–४६, ४७–५५)

[17] केषा शब्दानाम् ? लौकिकानाम् वैदिकानाम् च । तत्र लौकिकास्तावद्— गौरश्वः पूरुषो हस्ती ब्राह्मण इति । वैदिका. खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये । आगे लिखते है—तेऽसुराः । इत्यादि······(महाभाष्य १।१।१) ।

[18] एतदेव विपर्यस्तं गुण-संस्कार-विवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ।। त्रिविध तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासत· । समान-शब्द विभ्रष्ट देशी गतमथापि च ।। मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी । बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्त्तिताः ।।
(भरत नाट्यशास्त्र, १७।२३-४९)
भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनव गुप्तपाद ने भाषा का लक्षण इस प्रकार दिया है—भाषा सस्कृतापभ्रशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिना प्राकृतवासिना च एता एव नाट्ये तु । (भरत नाट्यशास्त्र, १७-२-४९)

[19] प्राकृत-सस्कृत-मागध-पिशाच-भाषाश्च शूरसेनी च । षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रश. ।। (काव्यालकार, २।१२)

[20] नात्यन्तं सस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया । कथा गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत् । (वात. का. सू., १४।५०)
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश-विशेषादपभ्रश । (काव्यालंकार २।१२) [इन दोनो मे क्रमशः प्रान्तापभ्रश को देशभाषा कहा गया है ।]

स्पष्ट है कि 'देशी' शब्द के अर्थ के इस अन्तर्मिश्रण ने इन सभी समस्याओ को जन्म दिया। क्योकि कट्टरतावादी विद्वान् देशी शब्दो एव उनके प्रयोगों को बड़ी हीन दृष्टि से देखते थे, साथ ही इनके प्रयोक्ताओ को भी।[21]

अपभ्रंश की बोलियाँ

उपर्युक्त विवेचन से मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन विद्वानो के दो वर्ग थे। एक वह था जो केवल परिनिष्ठित विद्वज्जन-ग्राह्य भाषा को ही श्रद्धेय समझता था तथा तत्समय प्रचलित बोलियो को (मान्य भाषा के स्वरूप से विकृत रूप वाली अथवा अशुद्ध होने के कारण) उतनी ही हेय दृष्टि से देखता था जितनी हेय दृष्टि से विजातीय अनार्य भाषाओं को। अतएव बोलियों पर विचार-विमर्श करना वह हीनता समझता था। दूसरा वर्ग आधुनिक भाषा-शास्त्रियो के अधिक समीप था जो बोलियो को महत्ता देना चाहता था, किन्तु यह दूसरा वर्ग अपने कार्य के साथ न्याय इसलिए नही कर पाया कि एक तो भाषा-विज्ञान की वर्तमान पद्धति ने उस समय पूर्ण स्वरूप धारण नही किया था, जिस ओर श्री हरिवल्लभ भायाणी ने भी संकेत किया है।[22] दूसरे भाषा की शुद्धता के पक्षपातियो का भारत मे सदा से बाहुल्य रहा है और वे शुद्धतावादियों का साम्मुख्य करने मे असमर्थ रहे है। अतः वे बोलियो का सकेत मात्र तो प्रस्तुत कर सके है किन्तु उनका पूर्ण विवेचन नही। रुद्रट ने नवी शताब्दी मे अपभ्रश की अनेक बोलियो की सूचना दी है जो देश-विशेष के कारण अनेक रूपो वाली थी; यथा—

> प्राकृत-सस्कृत-मागध-पिशाच-भाषाश्च शूरसेनी च।
> षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश-विशेषादपभ्रश·। (काव्यालकार, २।१२)

किन्तु ठीक इसके बाद ग्यारहवी शताब्दी मे 'नमि' साधु ने अपनी कट्टरता-वादी प्रवृत्ति के कारण उसका निराकरण करने के लिए साहित्य मे प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा को ही प्रमाण मानकर रुद्रट द्वारा संकेतित बोलियो को निर्मूल

---

[21] तेऽसुराः। तेऽसुरा हेलयो हेलय (हेऽरयो हेऽरय.) इति कुर्वन्तः परावभूवु-स्तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै मलेच्छो ह वा एष यदपशब्द। म्लेच्छा मा भूमेदिध्ये व्याकरणम्। (महाभाष्य १।१।१) हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता (भरत नाट्यशास्त्र, १७।५०)

[22] हेमचन्द्र गुजरात ना हता पण ते मणे रचेला अपभ्रश व्याकरण ने गुर्जर अपभ्रश साथे प्रत्यक्ष पणे कशी लेवा देवा नथी। केम के पूर्वाचार्यो अने पूर्व प्रणाली अनुसरीने ते मणे बहुमान्य साहित्य प्रयुक्त घोरण सरना अपभ्रश नु व्याकरण रचे लु छै। बोलचाल की भाषा नु चलण आधुनिक छै। (वाक्व्यापार भारतीय विद्या भवन १९५४, पृष्ठ १७०, सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ. शिवप्रतापसिंह, पृष्ठ ४६ से उद्धृत)।

ठहराने का सफल किन्तु अयथार्थ प्रयास किया और इससे उसको एक सन्तोष का अनुभव हुआ जो यह कहने से व्यंजित होता है कि इस प्रकार भूरि भेदों का निरसन हो जाता है। फिर भी वह उसे तीन से नीचे नहीं ले जा सका—

स चान्यैरुपनागराभीर-ग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरिभेद इति। (काव्यालं० सूत्र वृ० नमि सा०, २।१२)।

मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में भी इसके तीन भेद किए हैं किन्तु नमि साधु से भिन्न; यथा—

नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति त्रयः।[23]

किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि सूक्ष्म अन्तर से विद्वान् इसके अनेक भेद मानते हैं; यथा [24]—अपभ्रंश· परे सूक्ष्म भेदत्वान्न पृथङ् मता। इन्होंने उन भेदों की संख्या २७ दी है। यथा :—

(१) व्राचड, (२) लाट, (३) वैदर्भ, (४) उपनागर, (५) नागर, (६) वार्बर, (७) अवन्त्य, (८) मागध, (९) पाञ्चाल, (१०) टक्क (११) मालव, (१२) कैकेय, (१३) गौड, (१४) औढ्री, (१५) वैवपश्चात्य, (१६) पाण्ड्य, (१७) कौन्तल, (१८) सैंहल, (१९) कालिङ्ग, (२०) प्राच्य, (२१) कार्णाट, (२२) काञ्चच, (२३) द्राविड, (२४) गौर्जर, (२५) आभीर, (२६) मध्यदेशीय, (२७) वैताल।[25] मार्कण्डेय से पूर्व आठवीं शताब्दी में उद्योतनाचार्य अपनी 'कुवलयमाल कहा' में अपभ्रंश की बोलियों पर प्रकाश डाल चुके थे। उनके अनुसार अपभ्रंश के अठारह भेद हैं; यथा—(१) गोल्ल, (२) मध्यदेशीय, (३) मागध, (४) अन्तर्वेदी, (५) कीर, (६) टक्क, (७) सिंध, (८) मरू, (९) गुर्जर, (१०) लाट, (११) मालव, (१२) कार्णाटक, (१३) तायिक, (१४) कोसल, (१५) महाराष्ट्र, (१६) आन्ध्र, (१७) खस, (१८) वव्वरादिक।[26] छठी शताब्दी तक आते-आते काव्यशास्त्रियों द्वारा अपभ्रंश काव्य-भाषा के पद पर आसीन करा दी जा चुकी थी, चाहे उसने परिनिष्ठित स्वरूप धारण न किया हो। अतः इसके उपरान्त

---

[23] प्राकृत सर्वस्व-७।

[24] वही-७।

[25] हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ५०।

[26] ही देवी प्रसाद सम्भवायामत्र कथायान् प्रसंगतोऽष्टादश देशी भाषाणा मध्याद् गोल्ल, मध्यदेश, मागधान्तर्वेदी, कीर, टक्क, सिन्ध, मरू, गुर्जर, लाट, मालव, कर्णाट, तोयिक, कोसल, महाराष्ट्रान्ध्र-भवानां षोडशदेश्याना वणिज नपुर्वर्ण वेशप्रकृति पूर्वभाषाश्च रूप प्रदर्शितमित्थमवलोक्यते। (अपभ्रंश काव्यत्रयी; भूमिका, पृष्ठ ९१)

विद्वानो द्वारा देशी भाषाओ के नाम से उल्लिखित भापाएं या तो अपभ्रंश की वोलियाँ रही होगी अथवा उसकी भगिनी विभापाएं। ये वोलियाँ अपभ्रंश से उद्गता ही थी, इस प्रकार का संकेत श्री लालघर गांधी ने दिया है। यथा:—परिचेतव्यः खलु प्राक् कुवलय-मालकहाकर्तृ—समयादिसम्वन्धो यतोऽवसीयतेऽपभ्रंश-देशीभापादीना विशिष्टस्वरूपं······इत्यादि।[27]

अपभ्रंश की देशानुसार अनेकता का संकेत विष्णुधर्मोत्तर पुराण, वाग्भटालकारादि ग्रन्थो मे भी उपलव्ध होता है; यथा—

देशेपु देशेपु पृथग् विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत् स्याद् अपभ्रष्टसञ्ज्ञं ज्ञेय हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥
देश-भापा विशेपेण तस्यान्तं नैव विद्यते।[28]
अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेपु भाषितम्।[29]

किन्तु हेमचन्द्र तक आते-आते अपभ्रंश ने पूर्ण परिनिष्ठित स्वरूप धारण कर लिया था[30] और इसे शिष्टो की भाषा भी स्वीकार कर लिया गया था।[31] परिणाम स्वरूप कट्टरतावाद के अनुयायी हेमचन्द्र और उनके समकालीन वैयाकरणों ने लिखित साहित्य की परिनिष्ठित अपभ्रश को ही अपना आधार वनाकर इसके लिए आवश्यक नियमों की स्थापना कर दी और मजेदार वात यह है कि उनमे अपभ्रंश की तत्समय प्रचलित वोलियो, यहाँ तक कि विभाषाओ तक का भी संकेत नही दिया। केवल इन वैयाकरणों को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकालना कदापि समीचीन न होगा कि उस समय समग्र भारत में विचारो के आदान-प्रदान की केवल एक ही सार्वजनिक भापा थी जिसका नियमन हेमचन्द्रादि वैयाकरणो ने किया है, वल्कि यह कहना चाहिए कि उस समय अपभ्रश की अनेक वोलिया प्रचलित थी, पर तत्कालीन वैयाकरण सस्कृत व्याकरण प्रणाली के अनुयायी होने के कारण वोलियो पर लेखनी चलाना पूर्ववत् अपनी हीनता समझते थे। अतः उनका लिखित साहित्य उपलव्घ न होने पर भी नव्य आर्यभाषाओ का विकास उनके अस्तित्व की सिद्धि डके की चोट कर रहा है कि वर्तमान भारतीय भापाओ का विकास

---

[27] अपभ्रश काव्यत्रयी-भूमिका, पृष्ठ ८२।

[28] विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।७।३।

[29] वाग्भटालंकार, २।३।

[30] And finally Hemachandra, the great Pk grammarian unanimously agrees in regarding the Apbhransh as literary dialect equal in status to Sanskrit and Prakrit. (H. G. AP. Page 3)

शेषम् शिष्ट-प्रयोगात् (पुरुपोत्तम, १७।६१)।

किसी एक अपभ्रश से न होकर उसकी विभिन्न बोलियो के ही विकसित स्वरूप है ।

जहाँ प्राचीन विद्वानों में केवल एक भाषा की स्वीकृति और बोलियों के निरसन के प्रति सघर्ष था वहाँ आधुनिक भाषा-शास्त्रियो मे कुछ भिन्न विचारों के कारण मतभेद पाया जाता है। इसका मूल कारण यह है कि आधुनिक काल के भाषाशास्त्रियों ने इस समय विद्यमान ग्रन्थो मे सुरक्षित भाषा के आधार पर अपभ्रंश भाषा को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। दुर्भाग्य यह रहा है कि ऐसा करते समय भाषा की प्रकृति और प्रत्यय पर इतना ध्यान नही रखा गया जितना रचना के स्थान विशेष पर और उसके स्थानीय प्रभावो के कतिपय उद्धरण चुनकर भाषा को विभाजित कर डाला; यह उचित नही है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि अपभ्रश की बोलियो की गवेषणा के मैं विरुद्ध नही हूँ, क्योकि मै तो स्वीकार करता हूँ कि अपभ्रश की अनेक बोलियां अस्तित्व मे थी। मेरा मतभेद परनिष्ठित अपभ्रश के क्षेत्रीय भेदों से है। मेरी समझ मे एक ही परिनिष्ठित अपभ्रश है, उसका रचयिता चाहे दक्षिण मे या उत्तर मे और चाहे पूर्व या पश्चिम मे बैठकर अपनी कला की साधना करता रहा हो, उसकी भाषा मे कोई अन्तर नही है।

'सनत् कुमार चरिउ' की भूमिका मे डॉ. याकोबी ने इसे चार भागों—उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी मे विभाजित किया है। डॉ. याकोबी के वर्गीकरण को भाषा-वैज्ञानिक सुदृढ भित्ति के अभाव से ग्रस्त बताकर डॉ. तगारे ने इसे तीन ही—पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी भागो में विभाजित किया है और इस प्रकार उत्तरी अपभ्रंश के अस्तित्व को स्वीकार नही किया।[32]

डॉ. ग्रियर्सन ने अवश्य ही भारत की आधुनिक भाषाओ का विकास

---

[32] Here in Jacobi gives his regional division of Apbhransh literature into Eastern, Western, Southern and Northern groups. He seems to believe that Eastern Apbhransh works follow that rules of eastern Pk grammarians. A comparison between the dialects of D. K. K. and D. K. S. and that Apbhransh of Pu. Rt and Mk disapproves the theory. The only work in Northern Ap. is a 15th century poetic composition. As will be seen later on the §8 the regional classification of Ap. literature followed in this work is different and more natural. §8 Apbhransh literature is regionally classified in three main divisions according to the place of composition of the particular work. They are roughly as follows—Western, Southern and Eastern. (H G Ap., Page 13, 15)

दिखाते हुए अपने 'भाषा सर्वेक्षण' मे अपभ्रंश की बोलियो का विवरण दिया है; यथा—व्राचड़, दाक्षिणात्य (इसकी अनेक विभाषाएँ रही होगी) औढ, औत्कल, मागध, गौड़, अर्धमागधी प्राकृत से विकसित अपभ्रंश, (सम्भवत: मध्यदेशीय—ले०) नागर शौरसेनी, टक्क, उपनागर, आवन्त्य, गौर्जर आदि।[33] कितने ही स्थानों पर डॉ. ग्रियर्सन यह कहकर सन्तोष कर लेते है कि यहाँ पर भी कोई जनपदीय अपभ्रंश रही होगी, पर उसका नाम अज्ञात है।[34] यद्यपि डॉ. तगारे ने उपर्युक्त विचारधारा का खण्डन किया है तथापि भाषाओ के विकास का इतिहास दिखाने के लिए इस कल्पना को (ग्रन्थो एव उद्धरणो के अभाव मे कल्पना) स्वीकार करना पडेगा। क्योकि यह तो वर्तमान प्रचलित बोलियो के ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक तत्वो पर दृष्टिपात करने से स्वत' सिद्ध है कि इनका विकास न केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रश से, बल्कि डॉ. तगारे द्वारा प्रस्थापित तीन अपभ्रशों से भी सम्भव नही है।[35] नभाआ की भाषाओ का विकास कुछेक को छोडकर जैसे राजस्थानी और गुजराती (इस पर भी विद्वानो मे कुछ मात्रा मे मत-भिन्नता हो सकती है) सबका विकास पृथक्-पृथक् स्रोतो से हुआ है, चाहे इसका अलगाव अत्यल्प रहा हो। डॉ. चाटुर्ज्या के भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी तथा राजस्थानी भाषा आदि ग्रन्थो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे अपभ्रश की अनेक बोलियो को स्वीकार करते है।

अपभ्रंश साहित्य के आधार पर भाषा-भेदों की स्थापना

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का अध्ययन परमावश्यक है, किन्तु अपभ्रश का अध्ययन जिस रूप मे (कुछ क्षेत्रो मे) किया जाना चाहिए था, किया न जा सका। विद्वान् लोग अपभ्रश के सूक्ष्म विश्लेषण के स्थान पर उसके भेदोपभेदो के चक्कर मे पड गए। मजेदार बात यह है कि वे किसी सीमा तक सही होते हुए भी, अपनी बात को उस रूप मे नही रख सके, जिस रूप मे रखा जाना चाहिए था। परिणामस्वरूप एक अच्छा खासा विवाद उपस्थित हो गया। उदाहरण के लिए विद्वानो ने यह स्वीकार किया कि अपभ्रश अनेक रूपो मे प्रचलित थी अथवा यह कहिए कि एक समय ऐसा था जब अपभ्रंश की अनेक उपभाषाएँ तथा बोलियाँ

---

[33] भारत का भाषा सर्वेक्षण—डॉ. ग्रियर्सन, अनु० हेमचन्द्र, पृष्ठ २४७।

[34] वही, पृष्ठ २४६–२४८।

[35] We do not subscribe to Grierson's theory of postulating one Ap. per every NIA languages. This hypothesis is unsupported by the evidence discovered so for (H G. Ap by Dr. Tagare, page 16)

प्रचलित थी, यहाँ तक तो ठीक है; पर विवाद उस समय उपस्थित हुआ जब विद्वानों ने प्राप्त साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों की भाषा को रचयिताओं की शैली अथवा उनके निवासस्थान के आधार पर ही बिना किसी भाषावैज्ञानिक अंतर के अनेक भेदों मे विभाजित करने का यत्न किया और इतना ही नही, उनके अतर-सूचक नियमो की भी स्थापना कर दी गई जो पूर्णत: निराधार है। अच्छा यह होता कि विद्वान् लोग भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं के आधार पर अपभ्रश की उन बोलियों का स्वरूप जानने का प्रयत्न करते, इसके विपरीत कि वे साहित्यिक अपभ्रंश में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषा का दर्शन कर रहे है जो केवल साहित्यिक अपभ्रश मे सम्भव नही है।

'सनत्कुमारचरिउ' की भूमिका में डॉ. याकोवी ने अपभ्रंश (परिनिष्ठित साहित्यिक) को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी, इन चार भागो मे विभाजित किया है, जिसके उत्तरी भेद का विरोध डॉ. तगारे ने सशक्त शब्दों मे कर अपभ्रश के तीन भेद निश्चित किए है।[36] कुछ विद्वान् अपभ्रश की बोलियो को भी स्वीकार करने को तैयार नही है जिनमें डॉ. तगारे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[37] ज्यूल ब्लाक और उनके अनुयायियो की धारणा तो बिलकुल ही भिन्न है। वे अपभ्रश को जनभाषा मानने को ही उद्यत नही है।

उपर्युक्त संकेत देने का तात्पर्य केवल यह है कि विद्वानों द्वारा लिखित उपलब्ध साहित्य के आधार पर निश्चित किए गए मतो का और जनपदों मे उस समय बोली जाने वाली बोलियो के आधार पर निश्चित किए गए मतो का ऐसा अंतर्मिश्रण हुआ है कि दोनों ही मतो की सत्यता सदिग्ध हो गई है। वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश का जो साहित्य अब तक उपलब्ध हो सका है, उसके आधार पर बिना किसी हिचकिचाहट यह कहा जा सकता है कि इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रश या नागर अपभ्रश अथवा आधुनिक शब्दावली मे पश्चिमी अपभ्रश है जो उस समय के साहित्यकारो एव शिष्टजनो की भाषा थी तथा तत्समय प्रचलित अनेक बोलियो मे से इसने प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सहयोग से परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप धारण कर लिया था। इस प्रकार इसमे विपुल साहित्य की सर्जना हुई और यही कारण है कि शौरसेनी अपभ्रश का स्वरूप तो सुरक्षित रह सका और यह अपनी अन्य बोलियाँ से सम्बन्धित नई भाषाओ को जन्म देकर स्वय कालकवलित हो गई और साथ ही आगे आने वाले भाषाशास्त्रियो के लिये इस समस्या की उत्पादिका सिद्ध

---

[36] हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रश, पृष्ठ १३–१५।

[37] वही, पृष्ठ १६।

हुई कि अमुक आधुनिक भाषा का जन्म कहाँ से, कैसे तथा कौन-सी अपभ्रंश बोली से हुआ। सभवत: इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए ज्यूल ब्लाक ने लिखा है—[38]

"आवर नालेज आफ् इट्स (इंडियन) लैंग्वेजेज, ऐट लीस्ट इन देअर मोस्ट ऐन्शियट स्टेजेज, इज वेस्ट ओन्ली, आर नीअरली सो, आन लिटरेरी लैंग्वेजेज आफ् ह्विच वी नो नाइदर द लोकल बेसिस, नार द डिग्री आफ् कनेक्शन विद द वर्नावियूलर्स, दे डू नाट गिव एक्सप्रेशन टु द थाट एण्ड फीलिंग्स आफ् द पीपुल, ऐट द मोस्ट, दे गिव एन आईडिअल पिक्चर आफ् द कल्चर आफ् ए स्माल कम्यूनिटी, दे मे डिफर इन कैरेक्टर, सम हाईली रिलीजस एण्ड एरिस्टोक्रेटिक, सम पापुलर बट रिलिजस टू, द मेजॉरिटी आर मेनली अडाप्टेड फार प्योरली लिटरेरी यूसेजस, द लिंग्विस्ट हैज टु वी केअरफुल इन गिविग देअर एविडेस इट्स प्रापर वेल्यू, विफोर ट्राइग टु कांस्ट्रक्ट द डिटेल्स आफ् द हिस्टरी आफ् इंडोएर्यन।"

अपभ्रंश भाषा का आधुनिकतम एवं अधिक स्वाभाविक वर्गीकरण डॉ. तगारे का माना जाता है, अत. उस पर किंचित् दृष्टिपात कर लेना प्रासंगिक ही होगा। आपने उसे तीन वर्गो मे विभाजित किया है। डॉ. नामवर सिंह ने इनमे से दक्षिणी अपभ्रश का विरोध बडे ही सशक्त शब्दो मे किया है। यथा—

"उपर्युक्त विशेपताओ की छानवीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नही है जितनी शैलीगत। डॉ तगारे ने पुष्पदत और कनकामर की भाषा मे जिन्हे दक्षिण अपभ्रश की अपनी विशेषताएँ कहा है, वे वस्तुत. वहुत कुछ प्राकृत प्रभाव है। विविध वैकल्पिक रूपो मे से प्राचीन और नवीन रूपो को अलगाव करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता लेकिन डॉ तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नही दिया। पुष्पदत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश मे डॉ. तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रश नाम से अभिहित 'भविसयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भापा मे कोई मौलिक अंतर नही है। दोनों ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रश मे हुई है, थोड़ा बहुत जो अतर है वह भी केवल शैली-संवधी है और रचयिता-भेद से इतना सा भेद आ जाना स्वाभाविक भी है।

---

[38] ज्यूल ब्लाक—लाँग लेक्चर्स फार १९२९ सम् प्राब्लम्स आफ इडोएर्यन फाइलोलाजी १९३० कोटेड फ्राम 'हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रश, डॉ. तगारे, पृष्ठ० १५।

निष्कर्ष यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।"[39]

इस स्थान पर यह बात ध्यान में रखने की है कि डॉ. नामवर सिंह का निर्णय पुष्ट विरोधी प्रमाणो के अभाव से ग्रस्त है। डॉ. तगारे ने दक्षिणी अपभ्रश के कुछ लक्षण बताए हैं जिनका वे परिनिष्ठित अपभ्रंश में अभाव मानते है किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे सभी लक्षण जो उन्होंने दक्षिणी अपभ्रश के लिये निर्धारित किए है, परिनिष्ठित अपभ्रंश मे बहुतायत से पाये जाते है तथा परिनिष्ठित या पश्चिमी अपभ्रंश के लक्षण उनके द्वारा स्वीकृत दक्षिणी अपभ्रंश के ग्रंथो मे पाए जाते है। डॉ. तगारे ने दक्षिणी अपभ्रश के निम्नलिखित लक्षण निश्चित किए है—

(१) दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनिसंबंधी विशेषता यह है कि संस्कृत 'ष' का विशेषत: 'छ' होता है, जबकि अन्य अपभ्रंशो मे 'क्ख' या 'ख' होता है।

(२) अकारांत पुलिङ्ग शब्द का तृतीया एकवचन मे अधिकांशत: 'एण' प्रत्यय वाला रूप मिलता है, जबकि परिनिष्ठित रूप एकारान्त होता है।

(३) उत्तम पुरुष एकवचन मे सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'मि' परक होती हैं जबकि परिनिष्ठित रूप 'उँ' परक होता है।

(४) अन्यपुरुष बहुवचन मे सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'न्ति' परक होती है जबकि परिनिष्ठित रूप 'हिं' परक होता है।

(५) सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशत: 'स' परक होते हैं जबकि परिनिष्ठित रूप 'ह' परक होते हैं।

(६) पूर्वकालिक क्रियापद के लिये 'इ' प्रत्यय का प्रयोग नही के बराबर अथवा बहुत कम होता है, जबकि यह प्रत्यय परिनिष्ठित मे सर्वाधिक प्रयुक्त होता है।

जहाँ तक प्रथम विशेषता का सम्बन्ध है, परिनिष्ठित अपभ्रश में भी 'ष' का 'छ' आदेश उपलब्ध होता है—

(१) **छक्खंड** (षट्खड) वसुह मुह सायिसालु (धनपाल, भविसयत्त कहा, पृष्ठ ३)।

(२) असुलहँ **एच्छण** (एषण) जाहँ भलि ते णवि दूरु गणन्ति (सि० हे० श०, सू०, ३५३–१)[40]।

[39] हिंदी के विकास मे अपभ्रश का योग, पृष्ठ ५८।
[40] छब्बरिसाइं (स्वय, हरि० पु० ६२।३, छठइ (रामा० स्वयभू २१।६), छड (कण्हपा० च० ६), छह (रामसिंह दो० पा० ११।६)।

द्वितीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश मे 'एण' वाले प्रयोग—

(१) प्रिय **विरहेण** व सुसइ कामणी। (स्वयंभू रामा० २६।५ का० धा०, पृष्ठ ३०)।

(२) वणि तणु रुह **रहसेण** समागय। (धनपाल भविस० १६।१७ का० धा०, पृष्ठ २६४)[41]।

दक्षिणी अपभ्रंश मे **'एँ'** वाले प्रयोग—(पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों मे)—

(१) **बलवंतें** सह जुज्झइ। (पुष्पदंत णा० च०, पृष्ठ ७४-७५, का० धा० पृष्ठ २१२)।

(२) किय चमर **सुवाएँ** सलिल **सहाएँ** गुणभरिया। (करकंडु चरिउ, कनकामर, पृष्ठ ६७)[42]।

तृतीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रंश मे 'मि' परक प्रयोग—

(१) अणु वि **भणमि** पुत्र परमत्थें। (धनपाल, भविस०, पृष्ठ २०, का० धा०, पृष्ठ २६८)।

(२) हउ किं वि न **जाणमि** मुक्खुमणे। (स्वयंभू रामा०, २३।१, का० पृष्ठ २४)[43]।

दक्षिणी अपभ्रंश मे **'उँ'** परक प्रयोग (पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों मे)।

(१) पर छडिय तुम्हहिं जीवमि एवहिं कि **मरउँ**। (कनका० क० च० पृष्ठ ६७, का० पृष्ठ ३३६)।

---

[41] वसेण, हिवेण, वासेण, पठेण, (स्वयंभू रा० ७१, १।२, ६५।५, २३।१, २०।१) केण, जेण, छदेण (सरहपा० दो० १४, ७८, ९२) उजेण (योगिन्दु प० प० ९९) जथिरेण मइलेण, जलेण (रामसिंह पा० दो० १९, १९, १६३) विणट्ठेण धम्मेण (धनपा० भविस० २०—२३)।

[42] हत्थे, कहएँ, मुवुद्धएँ, विज्जएँ, सिद्धएँ, सुद्धिएँ, बुद्धिएँ, दिट्ठिएँ, लद्दिएँ, (पुष्प, आदि पु० ४०७, ज० च० ६।१३) गीयएँ, राएँ, करकडे णयणुल्लये (कनक का० करकड च०; पृष्ठ ४, २३, २४, ६४, ६५)।

[43] कहमि, (सरहपा० दो० ९३) परिहरमि, करमि, जाणमि स्वयंभू रा० १।२, २३।१) जाणमि (भूसुकपा० च० ४९) पूछमि, मारमि (कंहपा० च० १०) करमि (रामसिंह पा० दो० १४४)।

(२) मा मरउँ वालु, मइं गिलउँ कालु। (पुष्पदत उ० रा० ६४ का०, पृष्ठ २२२)।[44]

चतुर्थ विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'न्ति' परक प्रयोग—(१) णं णच्चंति मोर खल दुज्जण। (स्वयंभू रामा० २८।३ का० पृष्ठ २८)।

(२) जहिं पथिय तन्नु छायहिं भमन्ति। (धन० भविस० पृष्ठ २ का० धा० पृष्ठ २६२)।[45]

पचम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'सइ' परक प्रयोग—(१) पइ विणु को कुवेर भंजेसइ। (स्वयंभू रा० ७६।७)।

(२) इधन होसइ (रामसिंह पा० दो० २५३ का० पृष्ठ २४८)।[46]

दक्षिणी अपभ्रश मे 'हिं' परक प्रयोग (पुष्पदत और कनककामर के ग्रथों मे)—

(१) णं कीलहिं अवरुडण पराइं (पुप्पद० ज० च० पृष्ठ ४० का० पृष्ठ १८६)।

(२) पुक्करहिं उब्धा कर करेवि। (कनक० क० च० पृष्ठ ५१ का० पृष्ठ ३३६)।[47]

छठी विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; दक्षिणी अपभ्रंश मे 'इ' अतवाले पूर्वकालिक क्रिया के प्रयोग उपलब्ध होते है—

(१) करि सर वहिरिय दिच्चक्कवाल। (पुष्पदंत णा० च० पृष्ठ ४ का० पृ० १७६)।

(२) तं पेखि जणु खिण्णु (कनकामर, क० च० ३।१८।३)।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते है कि दक्षिणी भाषा की जो विशेषताएँ डॉ. तगारे ने निश्चित की है वे सर्वथा आधारहीन है। ये विशेषताएँ अपभ्रंश के प्राय. सभी ग्रंथो मे पर्याप्त मात्रा मे खोजी जा सकती है, चाहे उनकी रचना उत्तर मे हुई हो अथवा पूर्व, पश्चिम या दक्षिण मे।

---

[44] सरउं, सोसिउं, आकरिसिउँ, (पु० उत्तरा० ६४-८९) सरउं (क० का० च०, पृष्ठ ६७)।

[45] परिचलन्ति पियन्ति, (स्वयभू रा० १।४) होन्ति, भणन्ति (योगिन्दु २६३, ३२३ प० प०) गुप्पति, भमति (रा० पा० दो० २१७) गमति, करति (धनपा० भविस० २।३; १०।११)।

[46] वारेसइ, होसइ, पालेसइ, होसइ (स्वयभू रा० ७६।९)।

[47] करहिं संचलहिं (क० का० क० च० ३५, २६, ४, ५)।

डॉ. तगारे द्वारा प्रस्तुत अपभ्रश के क्षेत्रीय भेदो की आलोचना करते हुए डॉ. नामवर सिह ने लिखा है—'वस्तुत: भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमे पश्चिमी परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश की इससे अधिक सत्ता मानने की इस समय कोई गुजाइश नही है।[48]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि डॉ. नामवर सिह अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखना चाहते हैं, पर डगमगाते कदमो के साथ, क्योकि वे सरह, कण्हपा आदि के दोहाकोशो को तो परिनिष्ठित अपभ्रश की रचना मानते है, किन्तु चर्यापदो की भाषा मे उन्हे पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ दृष्टिगत होती है। यदि चर्यापदो की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि डॉ. साहब ने जिन लक्षणो को इनके पूर्वीपन की विशेषताएँ कहा है वे समस्त लक्षण पर्याप्त मात्रा मे सुदूर पश्चिम एवं दक्षिण के साहित्यकारों की रचनाओ में भी उपलब्ध होते हैं। अत· अपभ्रश के पूर्वी भेद को बनाए रखने में इनका भी क्षेत्रीय मोह ही दृष्टिगत होता है। इससे अधिक कुछ नही। डॉ. नामवर सिह ने डॉ. तगारे के द्वारा प्रस्थापित निम्न लक्षणो को पूर्वी अपभ्रश की विशेषताएँ माना है—

(१) पूर्वी अपभ्रंश मे कुछ सयुक्त ध्वनियो का परिवर्तन इस प्रकार होता है—
क्ष>क्ख, ख
त्व>त्त
द्व>दु
व>व
प, स>श

(२) सस्कृत 'श' सुरक्षित रहता है।

(३) आद्य महाप्राणत्व नही होता।

(४) निर्विभक्तिक संज्ञापद बहुत मिलते है।

(५) लिग अतन्त्रता बहुत अधिक है।

(६) क्रियार्थक सज्ञा और पूर्वकालिक क्रिया का मिश्रण नही हुआ। पूर्वकालिक क्रिया प्रत्यय 'अइ' का प्रयोग क्रियार्थक सज्ञा के लिए भी हुआ है।

(७) परिनिष्ठित अपभ्रंश की क्रियार्थक संज्ञा के लिए प्रयुक्त 'अण' प्रत्यय का यहा पर अभाव है।

---

[48] हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ५६।

उपर्युक्त विशेषताओं के प्रतिरोध में अपने मत की पुष्टि के लिए यहां क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रथम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'क्ष' के स्थान पर क्ख, च्छ—

(१) णउ मरहुँण लक्खणु (लक्षण) छंदु मन्यु। (स्वयंभू रा० १।३ का० पृष्ठ २४)।

(२) जहि दक्खा (द्राक्षा) मक्खि कुरु मुयन्ति। (पुष्पदंत णा० च० पृष्ठ ६)[49]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'त्व' के स्थान पर 'त्त'—

(१) अवरेहि मिकउहि कत्तणउ (कवित्व)। (स्वयंभू हरिवं० का० १ पृष्ठ २४)।

(२) ते वयणें रोपणिगत्तणउ गो(परित्व)। (पुष्पदंत आदि पु०, पृष्ठ ५६१)[50]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान पर 'दु' का प्रयोग—

(१) चउ दुवार (द्वार) चउ गोउर। (स्वयंभू रा० ४६।२ का० पृष्ठ २८)

(२) दु (द्व) ति 'पय' मत्त मो मई पगई। (पुष्पदंत जसहर च० पृष्ठ ४ का० पृष्ठ १६२)[51]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी 'च' के स्थान पर 'च' का प्रयोग—

(१) गोता णइ दिट्ठ समुच्चहन्ति (समुद्वहन्ति)। (स्वयंभू० रा० ३।१३ का० पृष्ठ ३८)।

(२) पञ्च वासिणीमेस लेवि (लेनि)। (पुष्पदंत आदि पु० २३०-२३१)[52]।

---

[49] रक्खसेण, पेक्खु, (स्वयंभू० रा० ६६।२, ७८।२०), लक्खिणी, गीग, (पुष्पदंत आदि पु०, पृष्ठ २४४, णा० च०, पृष्ठ ६), लक्खिणउ, मोक्खु (योगिंदु, प० प्र० ६८, १८४), अवतरक्खे, अग्गउ, मोक्खु, (रामसिंह पा० दो० ८६, ४२, १४५), कुक्खेत्ति, कामकलिहि, लिक्खवि (धनपाल भविस० पृष्ठ ३, २१-२२, ५६-५७), नविलाक्ख (अब्दुर्रहमान सं० रा० २।२६)।

[50] मिच्छत्त (मिथ्यात्व), दक्खिवायत्तु (पुष्पदंत णाय कु० च० पृष्ठ ४, धनपा० भविस० पृ० १७), इदत्तणु (स्वयंभू० रा० ७८), दुगुण, दुवार (पुष्पदंत णा० च० १२, ज० च० २१)।

[51] दुपुत्तु (स्वयभू० रा० ७४।११), दुवार (धनपाल भविस० ७१)।

[52] तोवि (तदपि=तोवि>तोवि) आमो वासाल (आमोदासक्त) (स्वयंभू० रा० १०।३, ३१।३)।

पूर्वी अपभ्रश में 'व' के स्थान पर 'व' भी पाया जाता है (चर्यापद)—

(१) आगम वेअ पुराणे पण्डिअ माण वहन्ति। (कण्हपा का० २ पृष्ठ १४६)।

(२) सो कइसे आगम वेएँ वरवाणी। (लुइपा चर्याप० २९)।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा प्रस्थापित परिनिष्ठित अपभ्रंश के ध्वनि-परिवर्तन के लक्षण भी तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथो में पाए जाते है; यथा—'क्ष' के स्थान पर च्छ, छ—

(१) मोरंगिपिच्छ (पक्ष) वरिहिण शवरी गीवत गुजरी। (शवरपा चर्या० २८)।

(२) राग-दोप-मोहे लाइआ छार (क्षार)। (कण्हपा चर्यापद ११)।

पूर्वी अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान पर 'व' (चर्यापदों में):

(१) चान्द सूरज वेणि (द्वौ) परवाफल। (गुडरिया चर्या० ४)।

(२) वेणि (द्वौ) रहिअ तसु णिच्चलठाइ। (कण्हपा दो० १३)।

प्रथम विशेपता के अतिम भाग अर्थात् 'प, स' के स्थान पर 'श' तथा द्वितीय विशेपता संस्कृत 'श' की सुरक्षा तथाकथित पूर्वी अपभ्रश के ग्रथों मे व्यवस्थित रूप मे नही पाई जाती। यद्यपि दोहाकोशो और चर्यापदो की भापा मे 'श' ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है तथापि इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि यह उन ग्रथो की भापा की विशेपता है, क्योकि इस नियम का पालन सर्वत्र नही किया गया है। जहाँ कही क्षेत्रीय प्रभाव है वहाँ 'श, प, स' के स्थान पर 'स' पाया जाता है अन्यथा इन तीनो स्थान पर 'स' (परिनिष्ठित अपभ्रश परपरा के अनुसार) कर दिया गया है और कही-कही तो तीनो का ही अस्तित्व पाया जाता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण इन ग्रंथो मे पाए जाते हैं जहाँ पर 'श, स' के स्थान पर 'प' भी पाया जाता है। अपने तथ्यो की पुष्टि के लिये नीचे उदाहरण प्रस्तुत है—

'श' के स्थान पर 'स'—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं वसइ सवरी (शवरी) वाली-वाली।
मोरगिपिच्छ वरहिण सवरी (शवरी) गिवत गुजरी माली।
उमत सवरी (शवरी) पागल शवरो माकर गुलीगुहाड़ा।
एकेली सवरी (शवरी) ए वण हिंडइ कर्ण कुडल वज्रधारी।
तिउ धाउ खाट पडिला सवरो (शवरो) महासुखे सेज (शय्या) छाडली।
सवरो (शवर) भुजंग णइरामणिदारी पेह्म राति पोहाइली।
सून (शून्य) निशमणि कण्ठे लइआ महसुहे राति पोहाइ।
उमग सवरो (शवर) गरुआ रोपे, एके-शर संधाने वन्धह विन्धइ परम-

पिवाणे गिरवर सिहर (शिखर) संधि पइसन्ते सबरो (शवरो) लोडिव कइसे (कीदृश)। (शवरपा, चर्यापद २८ पु० त० नि० १४१-४२)।

उपर्युक्त पद मे १४ ऐसे शब्द है जिनमे संस्कृत मे 'श' वर्ण आता है, उनमें से कवि ने १२ स्थानों पर 'श' के स्थान 'स' का प्रयोग किया है तथा केवल दो स्थानो पर 'श' की सुरक्षा की है। समझना कठिन है कि विद्वान् लेखको ने उन कौन-से पदो को लक्षित किया है जहाँ पर 'स, ष' के स्थान पर 'श' तथा 'श' की सुरक्षा को देखा है। जहाँ कही पर 'श' सुरक्षित तथा 'स' के स्थान पर 'श' पाया जाता है वहाँ केवल क्षेत्रीय प्रभाव ही माना जा सकता है, भापा की विशिष्टता नही। इसके अतिरिक्त निम्नाकित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—णिरासे, पइसइ (कर्णरीपा० च० प० ३१); आस, पास (लुईपा० च० प० १); दिस, कइसे (वही, २९); बत्तिस, णसिउ, सुध (भूसुकपा० चर्यापद, २७); सेस (वही, ४९); ससि (वीणापा० च० प० १७); पइसइ महेसर, असुद्ध (डोम्बिपा० च० प० १४); उवेसें, कइसे, चउदिस, कम्बपा० चर्यापद ८); सरद, प्रकासित (जालन्धरपा० च० प० ७६) ससुरा (कुक्कुरिपा० च० प० २) सासु (गुडरिपा० च० प० ४); सिरिफल, कसण (कृष्ण) (मदिपा० च० प० १६)।

दोहाकोशो मे तो इस नियम की विलकुल ही परवाह नही की गई है। पूर्वी अपभ्रश मे 'स' के स्थान पर प्राय: 'स' ही पाया जाता है। चर्यापदो मे—

सरहपा, सहावे, सोइ (सरहपा० चर्यापाद ३२); सहज, सुदरी, सुहे, विलसति, रसे (शबरपाद चर्यापद २८, ३०); पतिमासइ, सअल, (कर्णरीपाद ३१); सअ, सवेअण, सरुअ (शांतिपाद च० प० ५०); सुख, सच (लूइपाद च० पा० १, २९); विकसउ, सहजानंद, सज्ञा (भुसुकपा० च० प० २७, ४९); सम, रस, विसम, (वीणापाद, च० प० १७); सदभावे, सरवस (डोबि पा० च० प० १०); समय, सुगत, संभव (जालधरपा० च० प० ७६); सोइ, सएँ (शातिपा० च० प० ५, २६)।

पूर्वी अपभ्रश मे 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग—

सेस (शेष) (भूसुकपा० २७)।[53]

इसके विपरीत चर्यापदो मे 'स' तथा 'श' के स्थान पर 'ष' का प्रयोग भी देखने को मिलता है; यथा—

षहजे। (भूसुकपा० चर्यापद २७)

जो षो (सो) चोर सोइ साथी (तंतिपाद चर्यापद ३३)

---

53 समस्त उद्धरण राहुल साकृत्यायन द्वारा संपादित हिंदी काव्य धारा और 'पुरातत्त्व निवन्धावलि' से उद्धृत है।

भिते निते षियाला (शृगाल) षीहे (सिंह) षम (सम) जुझअ। (वही, ३३)।

'श' के स्थान पर 'ष'—

षियाला, पड़वेषी (प्रतिवेशी), (ततिपाद च० प० ३३); षपहर (शशधर) (भूसुकपाद चर्यापद २७); षबराली (शबर) (शबरपाद चर्यापद ५०)।

तृतीय लक्षण के परिवेश मे कतिपय शब्दों को छोड़कर यहाँ पर शब्द के आद्य महाप्राणत्व को कही भी परिवर्तित नही किया गया है। मैं प्रत्येक महाप्राण ध्वनि के, जो प्रायः शब्दो के आदि में प्रयुक्त होती आ रही है, एक-एक, दो-दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, वैसे ऐसे शब्दों को हजारों की संख्या मे वहाँ से चयन किया जा सकता है। उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत है[54]—

खाण्टवि, खरे (सरहपाद च० प० ३८) खाइ (शबरपाद २८) ; खाले (भूसुकपाद ४६); छड़ि (सरहपा० ३२); छाइली (शबरपाद २८), छाड़-छाड़ (शा० ५०); छादक (लूइपाद १); घमण (लूइपाद १) घटा (कण्हपा० ११); घोरिअ, घुमइ (कण्हपा० ३६); घर (ततिपा ४३); झाण (दारिक-पा० ३४), ठान (दारिकपा० ३४); ठावी (कंबलपाद ३०); ढेढण (ततिपा० ३३); थिर (सरहपा० ३८); थाकिउ (भूसुकपा० २७); थाहे (शा० १५); धर (सरहपा० ३८); धनि (वीणापा० १७); धुणी (शांतिपा० २६); धाए (लुइपा० २६); फिटेलि, फुलिआ (शबरपाद ५०); फाल (गुडरिपाद ४); भिति (लुइपाद १); भणइ, भाइला (सरहपाद ३८); भेला, भुजग (शबरपाद २८, ५०); भात (ततिपा० १३), हाथेरे (सरहपा० ३२); हेली (शबरपाद ५०)।

जहाँ तक पूर्वी अपभ्रश की चतुर्थ विशेषता का सम्बन्ध है, वह विशेष नही सामान्य है, क्योकि हेमचन्द्र ने इसे परिनिष्ठित (इनके अनुसार पश्चिमी) अपभ्रश की विशेषता लक्षित की है; यथा—लिङ्गमतन्त्रम् (८-४४५)—अपभ्रशे लिङ्गम् अतन्त्रम् व्यभिचारि प्रायः भवति।[55] कम अधिक प्रयोगों की उपलब्धि के आधार पर किसी लक्षण को किसी भाषा की विशेषता कहना कदापि समीचीन नही कहा जा सकता।

यही स्थिति पंचम विशेषता की भी है, क्योकि संस्कृत की पुत्रियो और विशेषकर अपभ्रश भाषा की यह विशेषता रही है कि वह अधिक से अधिक वियोगात्मक होती गई और यही कारण है कि उसमें सबसे अधिक मात्रा मे

---

[54] ये सभी उद्धरण केवल चर्यापदो से लिए गए है। दोहा कोशों का कोई उदाहरण नही दिया गया है।

[55] हेमचन्द्र : शब्दानुशासन ८/४४५।

परसर्गों का प्रयोग किया गया है। एक बात यहाँ पर स्पष्ट कर देना अयुक्ति-संगत न होगा कि उक्त विद्वानों से हमारा मतभेद इस बात पर नही है कि पूर्वी अपभ्रंश का अस्तित्व था अथवा नही, बल्कि मतभेद इस बात पर है कि सिद्धो की रचनाओ—चर्यापदों एवं दोहाकोषो की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है अथवा परिनिष्ठित अपभ्रंश ? हमारी दृष्टि मे परिनिष्ठित अपभ्रंश है। इनका यह लक्षण तो हमारे मत को और भी अधिक पुष्ट करता है क्योकि पश्चिमी अपभ्रंश से निसृत आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्वी अपभ्रंश से उद्भूत असमी, बगाली, उडिया आदि भाषाओ से अधिक मात्रा मे निर्विभक्तिक है। अतः सिद्ध है कि पूर्वी अपभ्रंश-बोली अपेक्षाकृत कम निर्विभक्तिक रही होगी। यदि चर्यापदो मे निर्विभक्तिक प्रयोग अधिक है तो वे निश्चय ही परिनिष्ठित अपभ्रंश के ही बोधक है।

जहाँ तक छठे लक्षण का सम्बन्ध है, लेखक ने लक्षण के उत्तरार्ध मे स्वयं स्वीकार किया है कि एक प्रत्यय का अतर्मिश्रण हुआ है। अतः किसी रचना में एक प्रत्यय के अंतर्मिश्रण पर और किसी रचना मे दो प्रत्ययों के अतर्मिश्रण पर दोनो की भिन्न-भिन्न भाषा की क्लिष्ट कल्पना को किसी भी प्रकार श्रेयस्कर एवं तर्कसगत नही कहा जा सकता। फिर इस अंतर्मिश्रण के प्रारंभ की ओर हेमचन्द्र ने सकेत भी किया है; यथा—व्यत्ययश्च (८-४४७)—प्राकृतादि भाषा लक्षणानां व्यत्ययं च भवति।[56] किसी लेखक ने इसे स्वच्छन्दता से ग्रहण किया और कुछ प्राचीनता के पक्षपाती रहे। अतः इस आधार पर भी भाषा-भिन्नता को स्वीकार नही किया जा सकता।

सप्तम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाणः—दोहाकोषों और चर्यापदो में 'अण' प्रत्यय मोती की भाँति बिखरे पडे है, आवश्यकता है चयनकर्ताओ की। इस विषय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देने से इस लक्षण की भी निराधारता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वी अपभ्रंश मे 'अण' प्रत्यय—

(१) मोहोर विगोआ कहण न जाइ। (गुडरिपा० च० प० २०; का० धा०, पृष्ठ १४४)।

(२) घोलिअ अवण गवण विहुण। (कण्हपा० च० प० ३६; का० धा०, पृष्ठ १५२)।

जलण (सरहपा० दो० को० ४); जलण, गअण (कण्हपा० दो० को० १७); कहण (कुक्कुरिपा० चर्यापद २०); अवण, गवण (भूसुकपा० चर्यापद २१)।

---

[56] हेमचन्द्र : शब्दानुशासन ८/४४७।

उपर्युक्त आकलन एव विचार-विमर्श के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते है कि लेखकों के लेखनस्थान (निवास स्थान) के आधार पर उनकी कृतियो की भाषाओं को उन क्षेत्रो की भाषाओं के नाम से अभिहित नही किया जा सकता। ये लेखक चाहे पूर्व के निवासी रहे हों, चाहे इनकी जन्मभूमि पश्चिमी प्रदेश रही हो; चाहे उन्होने उत्तरी क्षेत्र मे बैठकर काव्य-सर्जन किया हो, चाहे दक्षिणी प्रदेश मे बैठकर अपनी वाणी को साकार किया हो, इन सबके ग्रंथो की भाषा एक ही है और वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसे ये विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश के नाम से अभिहित करते हैं। पूर्वी अपभ्रंश का विवेचन करते समय डॉ. घोषाल ने ठीक ही कहा है—

'इस प्रकार पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी ग्रंथो की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज़ नही है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।'[57]

ये ही पंक्तियाँ दक्षिणी अपभ्रंश के लिए भी [केवल पूर्वी अपभ्रंश शब्द के स्थान पर दक्षिणी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग कर] उद्धृत की जा सकती है। इस प्रकार सिद्ध है कि उस समय की साहित्यिक भाषा केवल एक थी, अनेक नही।

---

[57] हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृष्ठ २४।

सप्तम अध्याय

संक्रान्ति-काल की भाषा —अवहट्ठ

अवहट्ठ का प्रारम्भ—अवहट्ठ के ग्रन्थ—अवहट्ठ शब्द का भाषा के लिए प्रयोग का इतिहास—अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ठ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति—सन्देशरासक का परिचय—ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—रूपात्मक विशेषताएँ—प्राकृतपैंगलम् की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—कीर्तिलता का परिचय—उक्ति-व्यक्ति प्रकरण का परिचय—वर्ण रत्नाकर का परिचय—तीनों की भाषाओं की विशेषताओं का सम्मिलित परिचय—अवहट्ठ की सामान्य विशेषताएँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—अवहट्ठ और मिथिलापभ्रंश—अवहट्ठ और पिङ्गल—मगही, ओड़िया, बंगला आदि—अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी—निष्कर्ष।

अवहट्ठ भाषा के भाषा-वैज्ञानिक विवेचन से पूर्व यह देख लेना आवश्यक होगा कि उक्त शब्द का प्रयोग एक भाषा-विशेष के लिए कब और कैसे हुआ तथा यह शब्द क्या कभी किसी भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है ? यदि हाँ, तो वह कौनसी भाषा थी ? अवहट्ठ शब्द के प्रायोगिक इतिहास का अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि इसका सर्वप्रथम प्रयोग 'सन्देश रासक' नामक अपभ्रंश पुस्तिका में हुआ है जिसका रचनाकाल बारहवी सदी है—

अवहट्टय-सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाय ।
लक्खण छन्दाहरणें सुकइत्त भूसियं जेहिं ।। (स. रा. १.६)

उक्त पद मे 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा से भिन्न किसी भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ दृष्टिगत नही होता । यहाँ पर भिन्न-भिन्न भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, पैशाची—के प्रसंग मे 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है । यदि हम इसे अपभ्रंश से भिन्न एक भाषा स्वीकार करे तो पद मे अर्थदोष आ जायगा । कवि ने प्राय. प्राचीन समस्त परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं को गिनाया है । ऐसी स्थिति में अपभ्रश का परिगणन न करना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नही हो सकता । अतः स्पष्ट है कि उक्त पद मे प्रयुक्त 'अवहट्ट' शब्द अपभ्रश का ही द्योतक है ।

तत्पश्चात् 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार लक्ष्मीधर ने उक्त ग्रन्थ की भाषा के लिए 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग किया है—

"प्रथमं भाषाया: अवहट्ट (अपभ्रश) भाषायास्तरण्डस्तरणिरित्यर्थ: ।"

इसी प्रकार टीकाकार वशीधर ने भी प्राकृतपैंगलम् की भाषा को अवहट्ठ बताया है—प्रथमो भाषा तरण्ड. । प्रथम आद्य. भाषा अवहट्ट भाषा, यया भाषया अयं ग्रन्थो रचित । सा अवहट्ट भाषा तस्या इत्यर्थः । दोनो टीकाओ का समय क्रमशः १६५७ तथा १६६६ सं० है । इस समय तक ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपभ्रश' भाषा 'अवहट्ठ' भाषा के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। टीकाकार लक्ष्मीधर ने कोष्ठक मे अपभ्रश शब्द देकर सम्भवत. इस बात की पुष्टि की है कि वह अपभ्रश और अवहट्ठ को भिन्न भाषाएँ लेकर नही चलता । साथ ही अपभ्रश या अवहस (जो अधिक प्राचीन शब्द है), के स्थान पर अकस्मात् 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग निश्चय ही विचारणीय है । तथ्यो के अभाव मे इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना उचित नहीं है ।

चौदहवी शताब्दी मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के लिए किया है—पुनु कईसन भाट, सस्कृत, पराकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषा तत्त्वज्ञ, शकारी आभीरी, चाण्डाली सावली, द्राविली, औतकली विजातीया सातहु, उपभाषाक कुशलह । (व. र, पृ. ५५ ख) ।

चौदहवी सदी में विद्यापति ने कीर्तिलता मे 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है—

सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ ।
पाउअ रस को मम न पावइ ।।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा ।
त तैसन जंपिअ अवहट्ठा ।। (की० ल० प्रथम पल्लव)

उक्त पद का भी जब हम सूक्ष्म विश्लेषण करते है तो लगता है कि विद्यापति भी 'अवहट्ठ' से अपभ्रश अर्थ ही ग्रहण करता था क्योंकि संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् उसने अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया है जो अपभ्रश का ही सूचक है। द्वितीय, उसने देशी वाणी को सरस बताकर 'त तैसन' शब्द द्वारा यह बताया है कि वह वैसी ही अवहट्ट अर्थात् देश्य वचनो से युक्त, न कि परिनिष्ठित अपभ्रंश मे लिखेगा। इससे स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि विद्यापति का अवहट्ठ से तात्पर्य अपभ्रश से ही था; परन्तु उसके ग्रन्थ की भाषा अवहट्ठ+देसिल बअना है। कीर्तिलता का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण भी यह सिद्ध करता है कि उसमें देश्य-प्रयोगो का आधिक्य है, पर मूल भूमि अपभ्रश की ही है।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह कही भी सिद्ध नही होता कि तत्कालीन लेखको या टीकाकारों ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग अपभ्रश भाषा से भिन्न किसी भापा के लिए किया है, बल्कि यो कहना चाहिये कि उक्त शब्द का प्रयोग जहाँ कही भी हुआ है, वहाँ अपभ्रश का ही वाचक बनकर आया है। मध्य-कालीन भापाओ के लिए सस्कृत के वैयाकरणो एव काव्य-शास्त्रियो ने प्राकृत एव अपभ्रश शब्दो का प्रयोग किया है। प्राकृत भाषा के कवियो ने इनके तद्भव रूप 'पाउअ तथा अवहस' जैसे शब्दो का प्रयोग किया है। ठीक इसी प्रकार अपभ्रश के कवियो ने अपभ्रश के लिए 'अवहस, अवब्भश एव अवहट्ठ शब्दो का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से 'अवहट्ठ' को अपभ्रश' से भिन्न भापा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नही है। 'अवहट्ठ' को अपभ्रश से भिन्न मानना उसी प्रकार तर्कसंगत नही है जिस प्रकार पाउअ को 'प्राकृत' भाषा से भिन्न भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना। हाँ, एक वात अवश्य विचारणीय है कि बारहवी शताब्दी से पूर्व के अपभ्रश कवियों और लेखको ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग क्यो नही किया और उक्त शताब्दी के पश्चात् यह शब्द क्यो इतना लोकप्रिय हो गया ? विद्वानो का मत है कि 'अवहट्ठ' शब्द सस्कृत 'अपभ्रष्ट' का तद्भव है। संस्कृत के एक-आध विद्वानो को छोड़कर भाषा विशेष के लिए किसी ने भी 'अपभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग

नही किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[1]

भरतमुनि ने एक स्थान पर नाट्यशास्त्र में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।[2] यह प्रयोग अपभ्रष्ट के स्थान पर किया गया है, वह भी सामान्य अर्थ मे न कि भाषा विशेष के अर्थ में। इसके अतिरिक्त प्रायः समस्त विद्वानों ने अपभ्रश शब्द का ही प्रयोग अधिकतः किया है। प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों एवं वैयाकरणों ने इसके रूपान्तर 'अवहंस, अवब्भंश' आदि शब्दों का प्रयोग ही अधिकांश मात्रा में किया है।[3] प्राचीन अथवा पूर्ववर्ती अपभ्रंश के विद्वानों में स्वयम्भू ने रामायण में अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है जिसे डॉ. नामवर सिंह ने अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप बतलाया है,[4] परन्तु अवहत्थ शब्द की व्युत्पत्ति अपभ्रष्ट से सिद्ध नही होती। हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा में संस्कृत 'ष्ट' के स्थान पर 'ट्ठ' का विधान किया है;[5] तदनुसार अपभ्रष्ट से 'अवहट्ठ' बन जाता है किन्तु अवहत्थ नही। साथ ही यह भी लक्षणीय है कि 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग 'पउमचरिउ' (रामायण) मे अपहस्त के अर्थ मे हुआ है, न कि अवहस्त के अर्थ में। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपभ्रंश के परवर्ती कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग क्यो नही किया तथा उसके स्थान पर अवहट्ठ शब्द उन्हें एकदम रुचिकर भी क्यों लगा? मै जहाँ तक समझता हूँ, भारतीय भाषाओ के नामकरण की पृष्ठभूमि मे एक प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित होती है कि जिस भाषा का वे प्रयोग करते थे उसे भाषा कहते थे और जो जनसाधारण मे प्रचलित बोली होती थी उसे हेय दृष्टि से देखते थे, किन्तु जब वह बोली कतिपय प्रतिभाओ का सम्बल प्राप्त कर ऊपर उठने का उपक्रम करती तो कट्टर वैयाकरणो को उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता था, पर वह भी कुछ हीन दृष्टि के साथ। अतः वे उसे 'देश्य' कहने लगते। जब वह देश्य भाषा समृद्धवती होने लगती तो उसकी परिनिष्ठित भाषा से भिन्न नाम देकर उसे शिष्ट भाषा का गौरवमय

---

1 अपभ्रष्टं तृतीयञ्च तदनन्त नराधिप। (वि० ध० पु० ३. ३)
लोकेषु यत् स्यादपभ्रष्ट-सज्ञ ज्ञेय हि तद्देशविदोऽधिकारम्।
(वि० ध० पु० ३ ७)

2 समानशब्दम् विभ्रष्ट देशीगतमथापि च। (नाट्यशास्त्र ३।१०)

3 सक्कय पायउ पुण अवहसउ। (कु० क० ५।१८), किं च अवब्भंसउ। (अपभ्रश का० योग, पृ० १),
ता किं अवहस होहिइ। (अ० का० त्र० भूमिका, पृ० १७)

4 अवहत्थे वि० खल—यणु णिरवसेसु। पउमचरिउ १।१।४।

5 प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ६४, सूत्र ३.१८.।

पद प्रदान कर देते थे। यह प्रवृत्ति सस्कृत से लेकर आज तक भली प्रकार लक्षित की जा सकती है। कितने ही समय तक प्राकृते देश्य भाषाएँ रही, तदुपरान्त अपभ्रंश को पर्याप्त समय तक देश भाषा कहा जाता रहा। स्वयम् आज की नागरी हिन्दी कितने दिनो तक 'भाखा' का भार वहन करती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि देशी शब्दो की साहित्य मे प्रधानता होते ही उसका नामकरण सस्कार प्रारम्भ हो जाता था। यही स्थिति 'अवहट्ठ' की भी हो सकती है। जब अपभ्रश मे देशी शब्दों की प्रधानता हुई, जैसा कि विद्यापति ने सकेत किया है, अपभ्रंश को अवहट्ठ कहना प्रारम्भ कर दिया होगा, पर भिन्न भाषा के रूप मे नही।

यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि पूर्वकालीन अपभ्रश के कवियो ने अपनी भापा को देश भाषा मानकर उसके लिए अवब्भंस तथा अवहँस शब्दो का प्रयोग किया है जो सस्कृत अपभ्रश शब्द के विकसित रूप ही है, किन्तु उत्तरकालीन लेखको ने यद्यपि अपभ्रश के ही पर्याय के रूप मे— अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहट तथा अवहठ, शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु ये 'अपभ्रष्ट' शब्द के ही विकसित रूप है। अव विचारणीय केवल यही हैं कि इन्होने पुरातन शब्द का परित्याग क्यो किया ? क्या वे विकास के इस चिह्न से अवगत थे ? यदि थे, तो फिर 'प्राकृत' के बाद इसका प्रयोग क्यो ? अवहस के पश्चात् यदि अवहट्ठ का प्रयोग किया जाता तो ऐसा लगता कि सम्भवतः वे नवीन भाषा के सम्बन्ध मे जानते होते। पर प्रयोग से ऐसा विदित नही होता। इस समस्या का समाधान अवश्यम्भावी है। अव तक अवहट्ठ भापा की संज्ञा जिन ग्रन्थो की भाषा को दी गई है उनमे सनेहय रासय (सन्देश रासक), प्राकृतपैंगलम्, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, उक्ति-व्यक्ति प्रकरणम्, वर्ण-रत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद तथा ज्ञानेश्वरी का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो का यदि भाषा की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इनमे जहाँ कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती है वहाँ पर इन पर वहाँ की प्रान्तीय वोलियो का प्रभाव भी कम मात्रा मे नही है। अत. इन सामान्य प्रवृत्तियो के आधार पर ही विद्वानो ने इन ग्रन्थो की भापा का नामकरण सस्कार अवहट्ठ किया है। फिर भी इनकी भापा पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम सन्देश रासक को लीजिये—

सन्देश रासक के रचयिता का नाम अब्दुल रहमान है। ये मुल्तान के निवासी थे। ग्रन्थ मे एक विरहिणी नायिका के हृदय की मार्मिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना की गई है। इसमे उस स्थिति मे उत्पन्न होने वाले सभी हावो एवं भावो का बडा ही सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है। नागरिक सस्कृति की तरह का वाक्चातुर्य न होकर ग्रामीण भावो की निश्छल अभिव्यक्ति दर्शनीय है।

इस ग्रन्थ का जहाँ काव्य की दृष्टि से महत्त्व है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से यह परवर्ती अपभ्रंश है और न. भा. आ. की मध्यदेशीय भाषाओं के प्रारम्भ की सूचक भी।

ध्वनितत्त्व—(१) दो स्वरो के मध्य मे आने वाले 'म्' के स्थान पर 'व्' अथवा 'वँ' ध्वनि उपलब्ध होती है। यह प्रवृत्ति राजस्थानी भाषा में भी पाई जाती है; यथा—दमन>डवण, रमणीय>रवणिज्ज।

(२) जहाँ अपभ्रंश मे निरनुनासिक ध्वनियों को सानुनासिक कर देने की प्रवृत्ति को अपभ्रंश मे विद्वानो ने चिह्नित किया है, वहाँ सन्देश रासक इसके परित्याग की प्रवृत्ति को सूचित करता है—

अधिकरण कारक मे—'हिं' के स्थान पर 'हि'।

नपुसक लिङ्ग, कर्ता और कर्म मे—अइं>अइ।

अन्य उदाहरण—

हउं>हउ, तुहुं>तुहु, मइं>मइ, किंवि>किवि, काइं>काइ।

(३) 'इ' के स्थान पर 'य' के आदेश की प्रवृत्ति—

कवित्र्र>कइवर>कयवर, वियोगी>विउइ>विउय, केतकी>केवइ> केवय।

(४) 'अ' के स्थान पर 'इ' कर देने की प्रवृत्ति—

गद्गद>गग्गर>गग्गिर, शशधर>ससहर>ससिहर।

(५) 'इ' के स्थान पर 'अ' कर दिया जाता है—

विरहिणी>विरहणी, धरित्री>धरत्ति, विविध>विवह।

(६) 'उ' के स्थान पर 'अ' पाया जाता है—

उत्तुङ्ग>उत्तंग, कुसुम>कुसम।

(७) 'उ' के स्थान पर 'व' भी मिलता है—

गोपुर>गोउर>गोवर।

(८) 'ए' के स्थान पर 'इ'—शय्या>सेज्जा>सिज्ज।

(९) 'औ' के स्थान पर 'उ'—यथा-मौक्तिक>मोत्तिअ>मुत्तिय।

(१०) समीपस्थ दो स्वरो की सन्धि कर देने की जो प्रवृत्ति नव्य भारतीय आर्यभाषाओ में उपलब्ध होती है उसका प्रारम्भ सन्देश रासक मे पर्याप्त मात्रा मे देखा जा सकता है—

स्वर्णकार>सुन्नआर>सुनार, अन्धकार>अन्धआर>अन्धार।

(११) 'स' को 'ह' का आदेश जो अधिकांश भारतीय आर्यभाषाओ मे पाया जाता है, विशेषकर राजस्थान की पश्चिमी शाखा, पंजाबी एव सिन्धी मे मिलता है, उसका प्रारम्भ भी सन्देश रासक मे हो गया था—

सन्देश>सनेस>सन्नेह, दिवस>दियह, दश>दस>दह।

(१२) पदान्त दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देने की प्रवृत्ति—इस प्रवृत्ति की सूचना हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के लिए दी है जहाँ ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है; यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी। णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी—उक्त उदाहरण मे सामल, ढोल्ल ये दोनो दीर्घ कर दिये गये हैं तथा स्वर्णरेखा> सुवण्णरेह मे पदान्त दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। पर यहाँ पर यह प्रवृत्ति विशेष सक्रिय है—

दोहा>दोहअ, गाथा>गाहा>गाहअ।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग स्वच्छन्दता से किए जाने लगे। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ सस्कृत से ही हो गया था पर अपभ्रंश तक केवल कतिपय कारक रूपो तक ही सीमित रहा। सन्देश रासक और प्राकृत पैङ्गलम् मे प्रायः सभी कारको के निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध हो जाते हैं; साथ ही विभक्ति प्रत्ययो का प्रयोग भी प्रचलन मे था।

(२) परसर्गो की संख्या वढ़ने लगती है। कवि या लेखक सविभक्तिक प्रयोगो के स्थान पर परसर्ग-युक्त प्रातिपदिकों का प्रयोग अधिक रुचि के साथ करने लगे। सन्देश रासक मे सत्थिहि, सम, सरिसु, हुँत्तउ, ठिउ, ट्ठियउ, रेसि, लग्गि, तणि, महि, आदि अनेक परसर्गों का प्रयोग किया गया है।

(३) सन्देश रासक तक आते-आते पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्ययो के साथ 'कर' और 'करि' जैसे परसर्गो का प्रयोग भी देखने को मिलता है, यथा—दहेवि करि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियो के साथ जव प्राकृतपैङ्गलम् की भाषा प्रवृत्तियो की तुलना करते है तो थोडी वहुत भिन्नता के साथ प्राय ये सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जाती है; यथा—

(१) प्राकृतपैङ्गलम् मे 'य' श्रुति का प्राय· अभाव ही पाया जाता है, इसका यह भी कारण हो सकता है कि लेखक ने प्राकृत शव्दों के प्रयोगो को विशेष महत्ता दी हो; जैसे—

सागर>साअर (१.१) (सन्देश रासक मे 'सायर' प्रयुक्त हुआ है)। युगल>जुअल (१.८६) स. रा. जुअल।

(२) 'म्' के स्थान पर 'व्' 'वँ' का आदेश अत्यन्त कम मिलता है।

(३) सन्देश रासक की तुलना में प्राकृतपैङ्गलम् मे द्वित्त्व का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है जिसे शायद राजस्थान की डिंगल शैली मे और पंजावी ने अव तक अपना रखा है।

उदाहरण—दीपक>दीपक्क (१.१८१); चमक>जमक>जमक्का (१.१२०); नियम>णिअम>णिम>णिम्मं (१.१८९)।

रूप रचना में केर और केरि का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा साथ ही भविष्यत्काल मे 'ह' के साथ-साथ 'स्स' प्रत्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है जिसे पश्चिमी राजस्थानी अब तक अपनाए हुए है—कहइ पीठि अम्हे जास्यूं आज (का० प्र० ४.१६८)

डॉ. नामवर सिंह ने उक्त दोनों ग्रन्थों को पश्चिमी प्रदेशो की भाषाओं का आरम्भिक रूप माना है। इसीलिए उन्होंने 'हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग' पुस्तक मे परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश शीर्षक के अन्तर्गत इनका विवेचन किया है। किन्तु उक्त दोनो ग्रन्थ पश्चिम की बोलियों एवं भाषा के प्रारम्भिक रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता कहाँ तक रखते है, यह अभी भी अध्ययन एव अनुसन्धान का विषय है। प्राकृतपैङ्गलम् मे कितने ही ऐसे प्रयोग हैं जो पूर्व की भाषाओं की याद दिलाते है।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, कीर्तिलता तथा वर्ण रत्नाकर की भाषाएँ न्यूनाधिक साम्य-वैषम्य के होते हुए भी पर्याप्त मात्रा मे समान प्रवृत्तियो की द्योतक हैं। साथ ही अनेक स्थलो पर पूर्ववर्णित ग्रन्थो की भाषा से ये अपना अलगाव भी सिद्ध करते है, जैसा कि आगे चलकर इनके भाषावैज्ञानिक विवेचन से स्पष्ट होगा। 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' ग्रन्थ की रचना दामोदर पण्डित ने काशीकन्नौज के नरेश गोविन्दचन्द्र के पुत्रो को लोक भाषा सिखाने हेतु की थी। डॉ सुनीति कुमार चटर्जी का इसका भाषावैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि उक्त ग्रन्थ की भाषा पूर्वी हिन्दी के पुराने रूप का अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकती है। 'कीर्तिलता' प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति की रचना है। इसकी भाषा को स्वय कवि ने 'अवहट्ठ' कहा है। यद्यपि यह अब तक सिद्ध नही हो पाया है कि कवि का अवहट्ठ से क्या तात्पर्य था। ग्रन्थ का प्रणयन महाराज कीर्तिसिंह, जो तिरहुत के राजकुमार थे, की कीर्ति को प्रतिष्ठित करने हेतु किया गया है। मलिक असलान द्वारा उनके पिता की हत्या किये जाने पर दोनो भाई किस प्रकार जौनपुर के नवाब की सहायता से असलान को बन्दी बनाकर भी जीवनदान देते हुए पुनः अपने राज्य को हस्तगत करते हैं। इसमे मुस्लिम सस्कृति, जौनपुर का प्राकृतिक चित्रण एव कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। साथ ही पूर्वी प्रदेशो की बोलियो के बीज खोजने वाले अनुसधित्सुओ के लिए इसकी भाषा अत्यन्त उपयोगी है। 'वर्ण रत्नाकर' की रचना श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'कवि समयो' का संग्रह करने हेतु की थी। ये मिथिला के नरेश हरिसिंह देव के आश्रित कवि थे। इनकी भाषा पुरानी मैथिली का उत्कृष्टतम नमूना है। साथ ही मगही, भोजपुरी एवं बगला के भाषा रूपों को भी अपने मे सजोए हुए है।

उपर्युक्त तीनो ग्रन्थो की न्यूनाधिक अन्तर के साथ भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ अंकित की जा सकती है। **उक्ति-व्यक्ति** प्रकरण की भाषा जहाँ अवधी भाषा के पुराने रूप का नमूना कही जा सकती है वहाँ शेष दोनो ग्रन्थ अधिक पूर्व तक भाषाओ के तत्त्वो को भी अपने मे लिए हुए है। सम्भवत. इसीलिए श्री नामवर सिंह ने इसे मध्यदेशीय भाषाओ का पूर्वरूप कहा है।

ध्वनितत्त्व—(१) अउ और ओउ के स्थान पर 'औ' तथा अइ और अइ के स्थान पर 'ऐ' मिलते है—

करोतु>करउ>करो (कीर्तिलता १.७७); रक्षति>रक्खइ>राखै (अङ्ग न राखै राउ—कीर्तिलता ७६); भवति>भइ>भै (३.८६)।

किन्तु उक्ति-व्यक्ति प्रकरण मे इनके स्थान पर 'अ' भी मिलता है—

करोति>करइ>कर, पठिति>पढइ>पढ़[6] पर यह प्रयोग कीर्तिलता में भी उपलब्ध होते है—कथयति>कहइ>कह (२.११७); इच्छति>चाहइ>चाह (२/१४७)।

(२) सरलीकरण हेतु द्वित्व व्यञ्जनो को हटाकर क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति—भक्त>भत्त>भात, पक्व>पक्क>पाक।

(३) स्वर भक्ति के उदाहरण भी देखने को मिलते है—

कृश>किरिस (३.१०८, की ल.); वर्ष>वरिस (उ. व्य. प्र.)[7]; श्री>सिरि (की. ल. ३.११८); आदर्श>आरिस (उ. व्य. प्र.)[8]।

(४) अकारण सानुनासिकता की ओर रुझान—

करिअउ>करिअउँ (की. ल. १.४१); गोचरिअउ>गोचरिअउँ (की. ल. ३.८५४)।

(५) 'क्ष' का रूपान्तर 'ख' या केवल 'ष' मिलता है—

प्रेक्षन्ते>पेप्खन्ते (की. ल. २.५३); यक्षिणी>जाषणी (की. ल. २.१८६); लक्ष>लष (की. ल. ३.७३)।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग पश्चिमी परवर्ती अपभ्रंश की अपेक्षा इन ग्रन्थों में अधिक मात्रा एवं अधिक स्वच्छन्दता से हुए है—

जुआर—सञो (व. र. ३८)।

जुज्झ—देक्खह कारण (की. ल. १०६)।

(२) सम्बन्ध कारक मे 'कर' और 'क' प्रयोग लक्षणीय हैं—

तान्हि करी कुटिल कटा छटा (की. ल.); राज कर पुरुपु (उ. व्य. प्र.

---

6 हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृष्ठ ७९ से उद्धृत।

7 वही, पृष्ठ ८०।

8 वही, पृष्ठ ८०।

१६.११); मध्याह्नें करी वेला (की. ल.); पड़वसी कर घरु (उ. व्य. प्र. २२.३)।

(३) भूतकाल के लिए 'अल' प्रत्यय का प्रयोग इन ग्रन्थो की प्रमुख विशेपता है जो आज भी मगही, मैथिली, भोजपुरी तथा वगला मे प्रयुक्त होते हैं—

भमर पुष्पोद्देशे चलल (व. र. २६ ख)।
गए नेसर मारल (की ल २.७)।
नायके पएर पखालल (व. र.)।

(४) सहायक क्रियाओं के प्रयोग का वाहुल्य—
होइते अछ (व र. १३ क); करइते अछ (व. र. ३७ ख)।
तहाँ अछए मन्ति (की ल. ३.१३१)।

(५) भविष्यत्काल मे 'स्स' और 'ह' की अपेक्षा 'व' का प्रयोग अधिकता से देखने को मिलता है।

पुराण देखव—धर्म करव (उ. व्य. प्र. १२.१६-१७) कीर्तिलता मे 'व' वाले रूप की अपेक्षा 'स्स, ह' वाले रूपो की अविकता है। डॉ. शिवप्रसाद सिह को केवल एक ही 'व्वउँ' अन्त वाला उदाहरण मिला है—'झख करिव्वउँ काह' (३.५१)।

(७) पूर्वकालिक क्रियाओ मे अन्य प्रत्ययो के साथ-साथ 'इ' प्रत्यय भी देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त चर्यापदों मे वंगला भापा के प्राचीन रूप मिलते हैं। चर्यापदों को अवहट्ठ की सज्ञा देना कहाँ तक उचित है—यह विद्वानो के लिए विचारणीय विषय है। ज्ञानेश्वरी पुरानी मराठी का उत्कृष्टतम नमूना है जिसमे पश्चिमी परवर्ती अपभ्रश के तत्त्व भी वहुतायत से पाये जाते हैं।

पृथक्-पृथक् पुस्तको के भापावैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् समग्र रूप में अवहट्ठ की निम्नलिखित विशेपताएँ हो सकती है—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) द्वित्त्व की प्रवृत्ति का परित्याग कर उक्त व्यञ्जन की क्षतिपूर्ति करने हेतु पूर्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है—

ठक्कुर>ठाकुर (की. ल. २.१०), कार्य>कज्ज>काज (की. ल. ३.१३४); धर्म>धम्म>धाम (की. ल. २.१०); कर्म>कम्म>काम; दृश्यम्>दिस्सं>दीसइ (स. रा.६८), मित्र>मित्त>मीत, निश्वास>निस्सास>नीसास(स रा ८३); उच्छ्वास>उस्सास>ऊसास(स. रा. ६७)।

अवहट्ठ मे उक्त नियम सर्वत्र लागू नही होता; यथा—सर्व>सव्व>सव; सत्य>सच्च>सच।

(२) स्वरो के साथ-साथ आने पर उनमे सन्धि कर दी जाती है—

सहकार>सहआर>सहार, स्वर्णकार>सुण्णआर>सुन्नार; अन्धकार> अन्धआर>अधार (की. ल. ४.२०); मयूर>मउर>मौर-मोर (स रा. २१२), क्रियते>किज्जइ>कीजै, कारयते>करिज्जइ>करिजै ।

(३) अकारण अनुनासिकता ले आने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है—

उत्साह>उँच्छाह (की ल. १.२६); द्यूत>जुँआँ (की. ल. २.१४६); दुर्जन>दूँजणे (उक्तिव्य. ४६ ६); गात्र>गँत्ते (प्रा. पैङ्गलम् ४३६.३), कास्य>काँस (की. ल २.१०१), ब्राह्मण>वभण (की. ल २.१२१) ।

(४) 'य' तथा 'व' श्रुति का आदेश न्यूनाधिक रूप मे प्राय: सभी अवहट्ठ के ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। प्राकृतपैङ्गलम् में तथा सन्देश रासक मे यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम मात्रा मे मिलती है ।

(५) 'म' के स्थान पर 'व' का प्रयोग अवहट्ठ मे मिलता है जिनके अवशेष ब्रज और राजस्थानी मे अब भी मिल जाते है।

(६) 'ण' ध्वनि अभी तक विशेषकर कीर्तिलता मे, आदि, मध्य और अन्त तीनो स्थानो पर मिलती है ।

(७) अवहट्ठ के सभी ग्रन्थो मे 'श, ष' के स्थान पर 'स' मिलता है तथा प्रत्ययो मे प्राप्त अपभ्रश की 'ह' ध्वनि का लोप भी यहाँ पर प्रारम्भ हो जाता है जो आगे चलकर ब्रज और अवधी के कुछ रूपो को छोड़कर प्राय समाप्त हो गया ।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) प्राय: सभी कारको मे निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए । कर्ता और कर्म मे यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे पाई जाती है।

(२) अपभ्रंश के विभक्ति प्रत्ययो का प्रयोग अभी प्रचलित था।

(३) अपभ्रश मे बताए गए परसर्गो के साथ-साथ नवीन परसर्गो का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा था। नवीन परसर्गो मे कुछ तो अपभ्रंश के परसर्गों के रूपान्तर मात्र है और कुछ नवीन विकसित रूप; यथा—रा रे री, चा चे ची, ना ने नी, दा दे दी ।

(४) सयुक्त पूर्वकालिक प्रत्ययो का प्रारम्भ—अपभ्रश मे 'इ, इवि' आदि प्रत्ययो का जो विधान है उसके स्थान पर 'कर या करि' आदि शब्दो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था जो आजकल खडी बोली हिन्दी की प्रमुख विशेषता है ।

(५) सयुक्त कालों का प्रारम्भ भी अवहट्ठ भाषा की विशेषता है। 'भू और अस्' धातुओ के घिसे हुए रूपो का प्रयोग मूल क्रिया शब्द के साथ किया जाने लगा । बाद मे 'नभाआ' की यह प्रमुख विशेषता बन गया ।

(६) भूतकाल में 'ल', भविष्यत् मे गा गे गी (बाद मे विकसित) के स्थान पर 'स और ह' परक तथा 'व' परक प्रत्ययों का प्रयोग।

कोष—(१) मुसलमानो के आगमन के कारण फ़ारसी शब्दो का प्रवेश।
(२) हिन्दू पुनर्जागरण के कारण तत्सम शब्दावली का बाहुल्य।

अवहट्ठ भाषा वस्तुत: संक्रान्ति काल की साहित्यिक भाषा थी। जिस समय यह परिनिष्ठित रूप धारण कर रही थी उसी समय से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ बडी तेजी से अपना साज-सँवार कर रही थी और चौदहवी सदी के प्रारम्भ होते-होते सभी नभाआ की भाषाओ ने अपना-अपना स्वरूप निर्धारित कर लिया था। इस प्रकार इनकी ध्वनिगत एव रूपगत विशेषताओं के कारण 'अवहट्ठ' से भिन्न भाषाओ के रूप मे इन्हे स्वीकृति प्रदान कर दी गई। कुछेक क्षेत्रो मे ये परस्पर समान होते हुए कुछ ऐसी भिन्नताएँ संजोए हुए है कि ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करने की पूर्ण क्षमता रखती है।

अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी

अवहट्ठ का स्वरूप विवेचन करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उस समय के लोगो का इस शब्द का प्रयोग करने का अभिप्राय अपभ्रंश से भिन्न किसी भाषा विशेष के लिए नही था। अत: जैसे ही परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थो की उपलब्धि हुई, विद्वानो ने उन ग्रन्थो की भाषा को भिन्न-भिन्न नाम देने प्रारम्भ किए। सर्वप्रथम डॉ. बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका मे उसकी भाषा को मिथिलापभ्रंश की सज्ञा दी है। बाद मे डॉ. उमेश मिश्र एव डॉ. जयकान्त मिश्र ने भी इसे मिथिलापभ्रंश की ही सज्ञा दी और स्व० प० शिवनन्दन ठाकुर ने तो अनेक तथ्यो के आधार पर इसे मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने का अत्यधिक प्रयत्न किया। इनका कहना है कि लोचन कवि ने राजतरगिणी मे विद्यापति की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहा है। यथा—

"देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंशभाषाया श्री विद्यापति निबद्धास्ता मैथिलीगीत गतय: प्रदर्शन्ते।"

किन्तु उक्त पक्तियो से कीर्तिलता की भाषा का आभास न होकर उसकी पदावली का सकेत मिलता है, जिसे आजकल के विद्वान् भी स्वीकार करते है कि पदावली और कीर्तिलता की भाषाएँ भिन्न है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषावैज्ञानिक तथ्य भी, जो ठाकुर साहब ने प्रस्तुत किए, पक्षपात के ही सूचक है। कीर्तिलता की भाषा मे जितने तत्त्व पूर्वी प्रदेशो की भाषाओ के उपलब्ध होते है, उनसे कही अधिक पश्चिमी प्रदेशो की भाषाओ के प्रारम्भिक लक्षण भी उसमे प्राप्त होते है। अत: कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहना उचित नही और यही स्थिति वर्णरत्नाकर की भाषा की भी है।

डॉ. चाटुर्ज्या ने अवहट्ठ को पिङ्गल भी कहा है। आपने लिखा है "खासकर

राजस्थान में अवहट्ठ पिङ्गल नाम से प्रख्यात था और स्थानीय चारण समान रूप से इस पिङ्गल और अपनी देशी भाषा डिङ्गल में रचनाएँ करते थे।"[9] डॉक्टर साहव के मत का आधार सम्भवतः प्राकृतपैङ्गलम् के टीकाकारों द्वारा अवहट्ठ एवं पिङ्गल का पर्याय रूप मे प्रयोग करना है। यदि प्राकृतपैङ्गलम् की भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भापा में अनेक स्थानो पर पूर्वी प्रदेशो की भाषागत विशेपताओं का भी प्रयोग किया गया है। साथ ही यदि 'पिङ्गल' से तात्पर्य शुद्ध पुरानी व्रजभाषा है तो कुछ सोचा जा सकता है किन्तु यदि राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है तो अवहट्ठ कदापि पिङ्गल का पर्यायवाची नही हो सकती।

अवहट्ठ से केवल पुरानी राजस्थानी या गुजराती अर्थ लेना भी उचित नही, जिसे श्री टैसिटरी लेकर चलते हैं तथा ढोलामारू रा दूहा के सम्पादकों ने भी ऐसा माना है। किन्तु यह मत भी उसी प्रकार दोषग्रस्त है जिस प्रकार श्री राहुल सांकृत्यायन का इसे मगही तक सीमित कर देना या अन्य विद्वानों द्वारा अपने मतलब की सामग्री का चयन कर उसे किसी प्रान्त विशेष तक सीमित कर देना।

इस विषय पर सबसे अधिक विचारणीय मत श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का है जिसमे इन्होने अवहट्ठ को पुरानी हिन्दी कहा है—'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से।'[10] श्री गुलेरीजी का पुरानी हिन्दी से क्या तात्पर्य था कुछ स्पष्ट नही है। यदि वे हिन्दी को श्री सांकृत्यायन की तरह भौगोलिक सीमाओ मे बाँधकर चलते हैं; यथा—"सूवा हिन्दुस्तान : हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तैलगु, ओड़िया, बगला भाषाओ से घिरे प्रदेश की आठवी शताब्दी की बाद की भापाओं को हिन्दी कहते है। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, व्रजभाषा आदि कहते है और आजकल के रूप को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागों मे विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक रूप को खड़ी बोली और मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी आदि को आधुनिक स्थानीय भाषाएँ कहते है।"[11] तो निश्चय ही अवहट्ठ को पुरानी हिन्दी नही कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है कि परवर्ती अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक मिले है, वे न्यूनाधिक रूप में प्रायः समस्त प्रान्तीय भाषाओ के तत्त्वो से संवलित है। अत. उन्हे किसी

---

[9] बंगला भापा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ११४; कीर्तिलता और अवहट्ठ, पृष्ठ १२ से उद्धृत।

[10] पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

[11] प्राकृतपैङ्गलम्—डॉ० भोलाशंकर व्यास।

प्रान्त विशेष तक सीमित नही किया जा सकता। तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी अपभ्रंश एक समय समग्र भारत की साहित्यिक भाषा थी जो अपनी समीपी सभी विभाषाओं के तत्त्वो को भी ग्रहण किए हुए थी तथा इन तत्त्वो को ग्रहण करने मे परवर्ती अपभ्रंश ने और भी अधिक स्वच्छन्दता का परिचय दिया। अत. ऐसी स्थिति मे परवर्ती अपभ्रंश में जो ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए है, उनकी भाषाओं को भिन्न-भिन्न प्रान्तीय नामों से न पुकारा जाकर यदि एक ही नाम से सम्बोधित किया जाए तो वह अधिक भाषावैज्ञानिक और अधिक राष्ट्रीय होगा और वह नाम अवहट्ठ से अधिक उपयुक्त अन्य कोई नही हो सकता।

मेरे द्वारा उक्त ग्रन्थो की ध्वनियो एव पद रचना का किया गया विश्लेषण उन विशेषताओ के आधिक्य पर ही आधारित है। साथ ही सन्देश रासक, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, प्राकृतपैङ्गलम्, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद एव ज्ञानेश्वरी की अनेक निजी विशेषताएँ परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थ मे सरलता से खोजी जा सकती है। अत: विशेषताओ के बाहुल्य के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष को किसी क्षेत्र विशेष के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास प्रशसनीय नही कहा जा सकता। अध्ययन की सुविधा के लिए यदि यह वर्गीकरण किया जाता है तो कोई हानि नही, किन्तु उसे वहाँ के लिए ही सीमित कर देना किसी भी मात्रा मे उचित नही है। यदि भाषावैज्ञानिक इन ग्रन्थो के आधार पर एक अच्छा सा सामान्य व्याकरण तैयार कर सकें तो वे अपनी भाषाओं की ही नही अपितु राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकेंगे, अपेक्षाकृत इसके कि वे इसे प्रान्त विशेष की भाषा सिद्ध करने मे अपनी प्रतिभा एव शक्ति का अपव्यय करे।

अष्टम अध्याय

नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ

क्रान्तिकारी परिवर्तन—अनेक बोलियों, विभाषाओ एवं भाषाओं का उद्भव—अवहट्ठ का अनेक बोलियों में विकास—सिन्धी—लहन्दा—पंजाबी—मराठी—गुजराती—राजस्थानी—बिहारी—बंगला—असमी—उड़िया—पश्चिमी हिन्दी—पूर्वी हिन्दी—नेपाली—पहाड़ी—सिंहली।

नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ

नव्य भारतीय आर्यभाषाओ के प्रकाश मे आने तक भारत की भौगोलिक, सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितियों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुके थे। प्रथम, इतने बडे भूभाग मे केवल एक भाषा ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का साधन बनी रहे, यह अब कुछ दुष्कर सा कार्य हो गया था। द्वितीय, जैसा कि पिछले पृष्ठो मे हम वता चुके है बोलियों की दृष्टि से इस भारतीय भूखण्ड में पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता है। प्राकृत काल से ही वैयाकरण और काव्य-शास्त्रवेत्ता अनेकानेक बोलियों का सकेत देते आ रहे थे। किन्तु ये बोलियां पूर्ण विकास प्राप्त करने मे सफलीभूत नही हो पाई थी। या तो इनमे साहित्य का सृजन ही नही हुआ और यदि हुआ भी तो इतना अल्प कि उसे भाषा की संज्ञा देना उपयुक्त नही समझा गया। प्राकृत काल में अनेकानेक बोलियो के प्रकाश मे आ जाने पर भी भाषा के आसन को केवल चार ने ही सुशोभित किया। उनमे से भी आज के भाषाविज्ञानवेत्ता सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि सही अर्थों मे तो उस समय दो ही भाषाएँ थी जिन्हे भाषा के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है और साहित्यकारो ने विपुल साहित्य की सृष्टि कर उन की जडो को स्थायित्त्व प्रदान कर दिया था। ये लोग शौरसेनी और महाराष्ट्री को अव दो भिन्न भाषाएँ स्वीकार करने को तत्पर नही है। इनके अनुसार महाराष्ट्री शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इनमे से एक रूप का कविता के लिए और दूसरे रूप का गद्य के लिए प्रयोग किया जाता था। मागधी कुछ दिनो के लिए भावाभिव्यक्ति का साधन तो बनी किन्तु किन्ही कारणो से यह अपना स्थायी अस्तित्व नही बना पाई। हाँ! अर्ध-मागधी ने जैन एव बौद्ध साधुओ के अनथक परिश्रम के कारण आश्चर्यजनक उन्नति की। सत्य तो यह है कि उपर्युक्त भाषाओ के समक्ष मागधी का साहित्य नगण्य है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि इन भाषाओ अथवा तत्समय प्रचलित बोलियो का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। उस समय भी अनेक बोलियाँ एवं भाषाएँ जनसाधारण के दैनिक कार्य-कलापो एव व्यवहारो की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रही।

अपभ्रश युग तक आते-आते पुन साहित्यिक क्षेत्र मे अपभ्रश ने अपना एक-छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया और समस्त भूखण्ड की यही एकमात्र विद्वत्तीय एव साहित्यिक भाषा बनी जिसका उद्गम मध्य देश की शौरसेनी प्राकृत को माना जाता है। पर इस समय के ऐसे सकेत उपलब्ध अवश्य होते है कि बोलियाँ उत्थानोन्मुख थी और उनकी धारा प्रबलतम होती जा रही थी।

विद्वानों में अपनी बोलियो के प्रति मोह जागृत होता जा रहा था। परिणाम स्वरूप चौदहवी एवं पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य अनेक नव्य भारतीय आर्य-भाषाएँ प्रकाश मे आ गईं जिनमें अनेक साहित्यकार उन्हे विकासमान बनाने में दत्तचित दिखाई दिए। विद्वान् अनवरत प्रयत्न एवं अनुसंधानों के पश्चात् एक सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे कि इस काल मे निम्नलिखित बोलियाँ भाषाओ का रूप धारण कर चुकी थी और उनमें तीव्र गति से साहित्य का सृजन भी हो रहा था। वे है—पश्चिमी-हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, पहाड़ी भाषाएँ, लहन्दा, सिन्धी, पूर्वी-हिन्दी, मराठी, बगला, असमी, उड़िया, बिहारी, आदि।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओ मे पर्याप्त साम्य-वैषम्य है। अतः इन्हीं आधारो पर विद्वानो ने इन भाषाओ को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओ का वर्गीकरण बहिरंग और अन्तरंग सिद्धान्त के आधार पर किया। जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य इतिहासकारो का मन्तव्य है कि भारत मे आर्यो का प्रवेश दो बार दो भिन्न-भिन्न दलों मे हुआ। अत पहले आया हुआ दल जब सप्तसिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक फैल चुका था, तब इस जाति के दूसरे दल ने प्रवेश किया और इन नवागत आर्यो ने पूर्वागत आर्यो को उनके प्रदेश से बहिष्कृत कर दिया और स्वय मध्य देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये नवागत आर्य भी अपने साथ एक भाषा लेकर आये थे, वह यद्यपि पूर्वागत आर्यो की भाषा से भिन्न तो नही थी पर कुछ विकास के चिह्नो से सवलित होने के कारण अपना पृथक्त्व भी रखती थी। अत. नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में से कुछ का सम्बन्ध पूर्वागत आर्यो की भाषा से है जो मध्य देश के चारो ओर फैली हुई है और कुछ का सम्बन्ध नवागत आर्यो की भाषा से है जो मध्य देश और उसके आस-पास के प्रदेशो मे फैली हुई है। अपने मत की पुष्टि के हेतु ग्रियर्सन महोदय ने कुछ भाषावैज्ञानिक तर्क भी प्रस्तुत किये है—

(१) नव्य भारतीय आर्यभाषाओं को मुख्यत. दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तरग, (२) बहिरग। एक विभाग वह भी है जो इन दोनो की विशेषताओ से न्यूनाधिक रूप मे प्रभावित है, इसे 'बीच का समुदाय' की सज्ञा दी गई है।

विभाजन के आधारभूत तत्त्व—(१) बहिरग शाखा की उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी शाखा की बोलियो मे अन्तिम स्वर 'इ, उ' ए, वर्तमान है, किन्तु अन्तरंग की पश्चिमी-हिन्दी उपशाखा मे ये स्वर लुप्त हो गए है, यथा—

संस्कृत	का.	सिन्धी	बिहारी	हिन्दी
अक्षि	अछि	अखि	आँखि	आँख

(२) बहिरंग की शाखाओ, विशेषकर बंगला, मे 'इ को ए' तथा 'उ को ओ' हो जाता है तथा बहिरंग की पूर्वी उपशाखा मे 'उ' के स्थान पर 'इ' मिलता है।

(३) बहिरग भाषाओ मे 'ऐ तथा औ' के स्थान पर 'ए और ओ' मिलते है।

(४) बहिरंग भाषाओ में तथा अन्तरग भाषाओ मे 'र, ल' तथा 'ड, ड' की उच्चारण भिन्नता उनके पृथक्त्व का सूचक है।

(५) पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओ में 'द् तथा ड्' परस्पर परिवर्तित हुए है, किन्तु मध्यदेशीय भाषाओ में ऐसा परिवर्तन नही देखा जाता है।

(६) बहिरंग शाखा की भाषाओ मे 'म्ब्' 'म्' मे परिवर्तित होता है जबकि अन्तरंग शाखा की भाषाओं मे यह 'ब्' हो जाता है।

(७) बहिरग शाखा की भाषाओ मे स्वर मध्यस्थ 'स' के स्थान पर 'ह का आदेश हो जाता है।

(८) महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण वर्णों में परिवर्तित हो जाने के आधार पर भी अन्तरग और बहिरग विभाजन किया जा सकता है। बहिरग शाखा मे इस प्रकार का परिवर्तन उपलब्ध होता है जबकि पश्चिमी-हिन्दी मे यह प्राप्त नही होता।

रूपतत्त्व—(१) स्त्री प्रत्यय के रूप मे 'ई' बहिरग शाखा की पश्चिमी एव पूर्वी दोनो भाषाओ मे मिलती है।

(२) बहिरग शाखा की भाषाएँ पुन: श्लिष्टावस्था मे प्रविष्ट हो रही है जबकि अन्तरग शाखा की भाषाएँ विश्लेषावस्था मे है।

(३) बहिरग शाखा की भाषाओ मे योरोपीय से आगत विशेषणीय प्रत्यय 'ल' वर्तमान है; किन्तु मध्य देश की भाषाओ तथा बोलियो मे इसका अभाव है।

(४) बहिरंग शाखा की भाषाओ की भूतकालिक क्रियाओ के साधारण रूपों से ही उसका वचन और पुरुष मालूम हो जाता है, जबकि अन्तरग शाखा की भाषाओ मे क्रिया का यह रूप सर्वत्र समान रहता है—

हिन्दी—मै गया	तू गया	वह गया
मराठी—गेलो	गेला	

उपर्युक्त तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए श्री ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का बहिरंग, अन्तरंग तथा मध्यदेशीय विभागो मे जो विभाजन किया है वह निम्न प्रकार से है—

बहिरंग शाखा—

(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय

(१) सिन्धी

(२) लहन्दा

(ख) दक्षिणी समुदाय
(१) मराठी
(ग) पूर्वी समुदाय
(१) उड़िया
(२) विहारी
(३) बंगला
(४) असमिया

मध्यदेशीय शाखा—
(क) बीच का समुदाय
(१) पूर्वी हिन्दी

अन्तरंग शाखा—
(क) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
(१) पश्चिमी हिन्दी
(२) पजाबी
(३) गुजराती
(४) भीली
(५) खानदेशी
(६) राजस्थानी
(ख) पहाडी समुदाय
(१) पूर्वी पहाडी अथवा नेपाली
(२) मध्य या केन्द्रीय पहाडी
(३) पश्चिमी पहाड़ी

उपर्युक्त रूप मे किया गया यह वर्गीकरण विशुद्ध भाषावैज्ञानिक तथ्यो पर आधारित न होने के कारण विद्वानो द्वारा इसका विरोध प्रारम्भ हुआ। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने श्री ग्रियर्सन द्वारा दिए गए कारणो को आधारहीन, गम्भीर अध्ययन-शून्य तथा सूक्ष्म विश्लेषण की प्रणाली से रहित बताया है और इनके एक-एक कारण को लेकर उनकी अशुद्धताओ एव दुर्बलताओं को विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है, जिसे बाद मे स्वय डॉ. ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त डॉ. चाटुर्ज्या का एक यह भी तर्क है कि सुदूर पश्चिम की भाषा को सुदूर पूर्व की भाषा के साथ एक समुदाय मे रखना किसी भी प्रकार से उचित नही है। अत' डॉ चाटुर्ज्या ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओ का अपने दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया, जिसे विद्वानो ने बड़े आदर से स्वीकार किया और आजतक यही वर्गीकरण एक वैज्ञानिक वर्गीकरण के रूप मे स्वीकृत है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) भाषाएँ

(१) सिन्धी
(२) लहन्दा
(३) पंजावी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषाएँ

(१) गुजराती
(२) राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय भाषा

(१) पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य भाषाएँ (पूर्वी)

(१) पूर्वी हिन्दी
(२) विहारी
(३) उडिया
(४) वगला
(५) असमिया

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) भाषाएँ

(१) मराठी

नोट—कश्मीरी तथा पहाड़ी भाषाओ की उत्पत्ति दरद भाषाओ से मानी जाती है।

नव्य भारतीय आर्य भाषाओ की सामान्य प्रवृत्तियाँ—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) नव्य भारतीय आर्य भाषाओ मे प्राय वे सभी ध्वनियाँ मिलती है जो अपभ्रंश मे प्रचलित थी। पश्चिम मे 'ऐ' ध्वनि का उच्चारण 'अँ' वत् होता है तो मराठी मे इसका शुद्ध उच्चारण मिलता है। 'अ' के उच्चारण मे भी पूर्व और पश्चिम की भाषाओ मे अन्तर दृष्टिगत होता है। यथा—वगला, असमिया तथा उडिया मे यह वृत्तोष्ठ निम्न-मध्य पश्च स्वर है, परन्तु मराठी मे विस्तृतोष्ठ उच्च-मध्य पश्च स्वर है। इसके अतिरिक्त आग्ल भाषा के 'O' के सही उच्चारण हेतु 'ऑ' ध्वनि का नवीन प्रवेश हुआ। जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियो का सम्वन्ध है, प्राचीन ध्वनियो के साथ-साथ 'क, ख, ग, ज, फ' जैसी नवीन ध्वनियाँ विदेशी शब्दो के उच्चारण हेतु आविष्कृत की गई।

(२) डॉ. चाटुर्ज्या के मतानुसार भारतीय परिवार की भाषाओ को महाप्राण ध्वनियो के अघोषीकरण एव सघोषीकरण के आधार पर तथा 'ह' के शुद्ध सघोष उच्चारण एव अघोषवत् उच्चारण और 'ह' लोप के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

(३) एक या दो भाषाओ को छोड़कर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में अपभ्रंश की द्वित्व शैली का सरलीकरण पाया जाता है तथा द्वित्व को हटाकर उसके पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूरक के रूप मे दीर्घ कर दिया जाता है—

कर्म	कम्म	काम,	कार्य	कज्ज	काज
अद्य	अज्ज	आज	घर्म	घम्म	घाम
धर्म	धम्म	धाम	चर्म	चम्म	चाम

इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं; यथा—सत्य सच्च का साच होना चाहिये था किन्तु 'सच' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। ग्रामीण लोग अब भी 'साँच' शब्द का ही प्रयोग करते देखे जाते है। इसी प्रकार 'पक्व' के तीन रूप मिलते हैं, पक्का, पाक, पका, पर तीनो ही भिन्नार्थक एव भिन्न प्रदेशीय हैं।

(४) संस्कृत के विसर्गो का 'ओ' जो पालि से लेकर अपभ्रंश तक चलता रहा, वह नव्य भारतीय आर्यभाषाओ मे तीन चार रूपो मे मिलता है—राजस्थानी—'ओ', व्रज—औ, खडी बोली तथा पजाबी—'आ' एवं भोजपुरी, बंगला आदि 'अ', यथा घोटक.>घोडओ>घोडो (राज.) घोडौ (व्रज) घोड़-घोर (अवधी, भोजपुरी>मैथिली)।

(५) स्थान-विपर्यय के भी उदाहरण नव्य भारतीय आर्यभाषाओ मे देखने को मिलते है। कार्य का केर इसका अच्छा उदाहरण है। विदेशी भाषा के शब्दो में यह नियम अधिक सक्रिय है; सिग्नल>सिगल, हॉस्पिटल>अस्पताल।

(६) स्वरभक्ति का प्रारम्भ हमे उक्ति-व्यक्ति प्रकरण एवं कीर्तिलता की भाषा अवहट्ठ मे मिलता है। इसका विकास नभाआ मे हुआ। पंजाबी भाषा तो इसके लिए प्रसिद्ध ही है। भक्त>भगत, स्कूल>सकूल, इन्द्र>इन्दर, कृष्ण>किशन, रत्न>रतन।

(७) एक आश्चर्यजनक ध्वन्यात्मक विकास जो हिन्दी मे विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है, वह है उच्चारण मे अकारान्त शब्दो के अन्त्य अकार का लोप—लिखा जाता है—राम और बोला जाता है राम्, इसी प्रकार काम—काम्, चल-चल्, पढ़-पढ़्। शब्द के मध्य 'अ' के लोप के चिह्न भी उच्चारण मे प्रारम्भ हो गए है; यथा—सफलता-सफल्ता, जनता—जन्ता, करता-कर्ता, गिनती-गिन्ती, आदि।

रूपतत्त्व—नव्य भारतीय आर्यभाषाओ ने ध्वनि की अपेक्षा रूप के क्षेत्र मे अधिक विकास का परिचय दिया है। विकास के क्षेत्र में क्षय के जो चिह्न मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ में देखने को मिलते है, वे नभाआ में अपने चरम पर पहुँचे हुए है। विभक्ति-प्रत्यय जो अपभ्रंश मे अवशिष्ट थे,

वे भी घिस गए, तिङन्त प्रत्ययो का भी यही हाल हुआ। परसर्गो की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार बहुमुखी प्रवृत्तियो के दर्शन पद रचना के क्षेत्र मे होते हैं—

(१) प्रायः समस्त नव्य भारतीय आर्यभापाओ मे सभी कारको मे निर्-विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए। परिणामस्वरूप भाषाएँ विश्लिष्टावस्था में आ उपस्थित हुई। सर्वनाम शब्दो को 'षष्ठी' विभक्ति मे केवल सुबन्त प्रत्ययों के दर्शन होते है। हमारा नाम, थे पधारो (राज); थमी जाओ (बांगरु), आदि प्रयोग निर्विभक्तिक है।

(२) विभक्ति प्रत्ययो के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग धड़ल्ले के साथ होने लगा। इनमे भी कर्म परसर्ग और सम्बन्ध परसर्ग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'नै' कर्म परसर्ग राजस्थानी और गुजराती की अपनी विशेषता है तो 'नूं' पंजाबी और लहन्दा की, तथा 'को' पश्चिमी हिन्दी की। इसी प्रकार 'रा, रो, री' राजस्थानी के सम्बन्ध कारक है तो 'दा दे दी' पंजाबी के, 'चा चे ची' मराठी के, 'का के की' पश्चिमी हिन्दी के, 'क' मैथिली एवं भोजपुरी, केर पूर्वी हिन्दी एवं 'एर' पूर्वी भाषाओ की विशेषता है।

(३) कारक रूप, जो प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ मे सख्या मे २४ थे, मध्यकालीन भारतीय आर्यभापा मे घिस कर ५/६ रह गए। जबकि नव्य भारतीय आर्यभापाओ मे केवल दो ही रह गए—१. ऋजु, २. तिर्यक्। यद्यपि कुछ रूपो मे यह सख्या संस्कृत मे घटने लग गई थी, पर अब यह अपनी पूर्णता पर है। लिङ्ग विधान जो जैसे-तैसे करता हुआ अपभ्रंश तक तीन रूपो मे ही—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुसकलिङ्ग—चला आ रहा था। अब केवल गुजराती एव मराठी को छोड़कर दो भेदो—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग—मे ही सीमित हो गया।

(५) नभाआ की भाषाओ मे वियोगात्मकता आ जाने के कारण वाक्य मे शब्द का स्थान निश्चित हो गया। पहले कर्ता, फिर कर्म तत्पश्चात् क्रिया। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व तथा क्रिया-विशेषण का प्रयोग क्रिया से पूर्व किया जाने लगा।

(६) क्रिया रूपो मे यह विकास अधिक सक्रिय दिखाई देता है। तिङन्त प्रत्ययो मे केवल 'लृट्' लकार के दर्शन होते है। इसके दो रूप है—एक 'स्स' साधित, जो पश्चिमी राजस्थानी मे अब तक वर्तमान है; दूसरा 'ह' साधित जिसे पूर्वी हिन्दी मे लक्षित किया जा सकता है। शेष भापाओ मे कुछ एक स्थलो को छोड़कर या तो 'गा गे गी' सहायक क्रियाओ से निष्पन्न किये जाते है, अथवा 'तव्य' कृदन्त प्रत्यय का आश्रय लेकर या कुछ भाषाओ में शतृ प्रत्ययान्त भविष्यत् काल के भी दर्शन होते है। पूर्वी राजस्थानी मे 'ला ले लो' सहायक

प्रत्ययो को भी देखा जाता है। शेष कालों की व्युत्पत्ति 'कृदन्त' रूपो के साथ सहायक क्रियाओ, 'था थे थी'; 'है हूँ है'; 'छा छे छी', आदि के योग से निष्पन्न की जाती है। भूतकाल मे कर्मणि प्रयोग मे केवल 'कृदन्त' रूप ही प्रायः देखा जाता है। कृदन्त प्रयोगो के प्रति आकर्षण उत्तरकालीन सस्कृत से ही प्रारम्भ हो गया था। पूर्वी भाषाओ का भूतकाल के लिए प्रयुक्त 'अल' प्रत्यय इनका अपना स्वतन्त्र विकास कहा जा सकता है।

(७) नव्य भारतीय आर्यभाषाओं ने सस्कृत उपसर्ग एव प्रत्ययो के साथ-साथ नवीन प्रत्ययो एव उपसर्गो का विकास किया। साथ ही विदेशी उपसर्गो एव प्रत्ययो का भी पूरा-पूरा उपयोग किया। जहाँ 'दयालु' बनाया वहाँ फारसी उपसर्ग की सहायता से 'घरेलू, पहलू' जैसे शब्दो का निर्माण भी हुआ।

(८) बहुवचन मे 'लोग, वर्ग, गण, वृन्द' जैसे शब्दो का प्रयोग प्रायः समस्त नभाआ भाषाओ मे न्यूनाधिक रूप से देखा जा सकता है।

(९) नव्य भारतीय आर्यपरिवार की भाषाओ मे प्रायः चार प्रकार के शब्द देखने को मिलते है—१. तत्सम, २. तद्भव, ३ देशज, ४. विदेशज।

कुछ तद्भव शब्दो का प्रान्तानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ बोध होने लगा। यथा—'स्थान' का तद्भव 'ठाण' तथा थान'। राजस्थान मे प्रथम का अर्थ स्थान और द्वितीय का पवित्र स्थान। इसी प्रकार हरियाणा प्रदेश मे प्रथम के लिए पशुओ के बाँधने का स्थान, द्वितीय का सामान्य स्थान तथा पवित्र स्थान अर्थ लिया जाने लगा। गल्प बंगला मे कथा साहित्य और इसके तद्भव 'गप्प' का राजस्थान मे झूठा अर्थ लेते है।

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय

सिन्धी :

यह सिन्ध प्रदेश की भाषा है। इसका सम्बन्ध ब्राचड अपभ्रंश के साथ जोडा जाता है, किन्तु विद्वान् अभी ब्राचड़ अपभ्रश का उद्गम नही खोज पाये है। यह सिन्ध प्रदेश मे, जो अब पाकिस्तान मे है, बोली जाती है। इस भाषा के बोलने वाले अधिकाश हिन्दू भारत मे आ गए है जो बम्बई, दिल्ली और राजस्थान मे अधिकाशत' बस गए है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इस भाषा के बोलने वालो की सख्या बीस लाख है। अब इसे सविधान मे स्वीकृत भारतीय भाषाओ की सूची मे स्थान दे दिया गया है।

सीमाएँ—सिन्धी भाषा के एक ओर गुजराती, दूसरी ओर मराठी और एक ओर लहन्दा भाषा बोली जाती है। आठवी शताब्दी के पश्चात् सिन्ध और मुलतान के एक प्रान्त हो जाने के कारण इनकी भाषाएँ—सिन्धी और लहन्दा—आपस में एक दूसरी से प्रभाव ग्रहण करती रही है।

बोलियाँ—सिन्धी भाषा की तीन बोलियाँ प्रमुख है—प्रथम सिराकी; जो

सिन्ध के ऊपरी भाग मे बोली जाती है। द्वितीय, लाड या लाट, जो इसके नीचे के प्रदेश की बोली है। तृतीय, विचोली जो इसके मध्य भाग मे बोली जाती है। बिचोली बोली सिन्ध की सामान्य एव साहित्यिक भाषा है। गुजरात और सिन्धी के बीच कच्छ प्रायद्वीप की बोली कच्छी है जो गुजराती और सिन्धी की मिश्रित भाषा है। सिन्धी मे कोई उत्कृष्ट कोटि का साहित्य तो नही लिखा गया, पर जो कुछ मिलता है उसमे शाह लतीफ का 'रिसालो' लोकप्रिय काव्य है। अठारहवी शताब्दी मे हुए अनायत शाह, मख़दूम मुहम्मद जमान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिन्धी लिपि अरवी के आधार पर बनाई गई थी, किन्तु विभाजन के पश्चात् सिन्धी भाषियो ने देवनागरी लिपि को ही अपना लिया है। मुसलमानो का आधिक्य होने के कारण भाषा मे अरवी, फारसी के शब्दों की अधिकता है।

भाषागत विशेषताएँ—सिन्धी भाषा मे समस्त शब्द स्वरान्त है। 'ग ज ड़ ब्' अतिरिक्त ध्वनियाँ है। इनका उच्चारण स्वर तन्त्रियो का कपाट सवार कर एक विशेष प्रकार से किया जाता है। 'द' के स्थान पर 'ड' उच्चारण पाया जाता है; यथा—दक्ष>दश>डह। 'स को ह' का आदेश भी सिन्धी भाषा की विशेषता है। पदान्त 'अ' का उच्चारण स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ध्वनियो का उच्चारण एव तद्भव शब्दावली सस्कृत के काफ़ी समीप है। 'ड़' प्रत्यय का प्रयोग भी सिन्धी मे पाया जाता है; यथा—हेँकडो, टुकड़ो इत्यादि। 'द्व' के स्थान पर 'ब' पाया जाता है। क वर्ग के स्थान पर च वर्ग के प्रयोग के उदाहरण भी खोजे जा सकते है, यथा—आदरार्थे 'अचो', आओ के अर्थ मे 'आ+गम्' धातु का ही विकसित रूप है। 'नाम' शब्द के लिए 'नालो का प्रयोग भी लक्षणीय है।

रूप तत्व—सिन्धी मे दो ही लिङ्ग और दो ही वचन पाये जाते है। सिन्धी की पुल्लिङ्ग सज्ञाएँ प्राय उकारान्त एव ओकारान्त तथा स्त्रीलिङ्ग सज्ञाएँ प्राय: अकारान्त एव आकारान्त है। कर्म मे 'के' और अधिकरण मे 'माँ' परसर्ग हिन्दी (अवधी) से मिलते जुलते है तो सम्बन्ध कारक मे 'जा जो जी' का प्रयोग किया जाता है, यथा—शाहजी रिसालो। सिन्धी मे वर्तमान मे 'द' अन्त क्रिया का प्रयोग होता है और भूतकाल मे पूर्वी भाषाओ के समान 'ल' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् काल मे स, 'सास' प्रत्ययो का प्रयोग होता है। क्रियार्थक सज्ञा के लिए 'णु' प्रत्यय का प्रयोग उल्लेखनीय है; यथा—चलणु हलणु (चलने के अर्थ मे), पिटणु आदि।

लहन्दा :

यह पश्चिमी पजाब मे बोली जाती है। इसी से इसे 'लहन्दे (सूर्यास्त) दी बोली' कहा जाता है। पजाब का यह भाग अब पाकिस्तान मे चला गया है।

इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ के लगभग है। मुसलमान और हिन्दू समान रूप से इस भाषा का प्रयोग दैनिक कार्य-कलापो के लिए करते है। इसका उद्भव 'कैकय' अपभ्रश से माना जाता है।

सीमाएँ—लाहौर और स्यालकोट के जिलों को छोड़कर प्राय: समस्त पश्चिमी पंजाब मे बोली जाती है। इसके एक ओर पश्तो और सिन्धी बोली जाती है। एक ओर पूर्वी पजाबी और कश्मीरी तथा एक ओर राजस्थानी बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—मुलतानी, डेरावाली, पोठोवारी तथा अवाणकारी इसकी प्रमुख बोलियाँ है, जिनमे मुलतानी बोली सामान्यत: साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती है। मुलतानी का साहित्य चौदहवी शताब्दी से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। मुसलमान फ़कीरो का प्रारम्भ से निवास-स्थान रहने के कारण अधिकाश साहित्य उन फकीरो का लिखा हुआ ही उपलब्ध होता है। फरीद, वारिस शाह, अहमद यार तथा कादर यार आदि लेखको के साथ-साथ नानक का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद मे पंजाबी भाषा के सामने इसने घुटने टेक दिए और पजाबी भाषा को ही इन्होने भी साहित्य के लिए स्वीकार कर लिया। डॉ हरदेव बाहरी के मतानुसार लहन्दा कोई स्वतन्त्र भाषा न होकर पजाबी की ही एक उपभाषा है।[1]

भाषागत विशेषताएँ—पजाबी की प्राय सभी ध्वनियाँ इसमे मिलती है। महाप्राण ध्वनियो का उच्चारण स्पष्ट एव शुद्ध होता है। भारतीय भाषाओ मे सब से अधिक कर्कश एव परुष भाषा है। द्वित्व प्रणाली ज्यो की त्यों बनी हुई है।

लहन्दा की कुछ बोलियो मे 'ल्' ध्वनि भी उपलब्ध होती है। पजाबी (लहन्दा) मे 'य-व' ध्वनियाँ पदादि मे सुरक्षित मिलती है। मध्यदेशीय भाषाओ के समान 'ज' और 'उ' मे परिवर्तित नही होती; यथा—वेल>वेल, वर्त>वट्ट>बाँट (हिन्दी) वँड (लहन्दा)। अल्पप्राण अघोष वर्ण अल्पप्राण सघोष मे परिवर्तित पाया जाता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। 'ह्' ध्वनि विवृत अघोषवत् उच्चरित होती है।

रूप तत्त्व—लिङ्ग और वचन दो-दो ही है—स्त्रीलिङ्ग, और पुल्लिङ्ग, एक वचन और बहुवचन। कारक परसर्ग पजाबी के समान है। कर्म कारक मे 'नूं' परसर्ग और सम्बन्धकारक मे 'दा दे दी' परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल मे 'ता' के स्थान पर 'दा' का प्रयोग पजाबी के अनुरूप है। भविष्यत् काल मे राजस्थानी की तरह स परक रूप दृष्टिगत होते है।

---

[1] डॉ. हरदेव बाहरी—हिन्दी उद्भव विकास और रूप, पृष्ठ ४६।

क्रियाओं के द्वारा सर्वनाम उत्तम पुरुष का बोध हो जाना सिन्धी के प्रभाव को सूचित करता है। गुरुमुखी और फारसी लिपियो का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है।

पंजाबी :

यह भारत के आधुनिक पजाव प्रान्त की भाषा है। महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल के पश्चात् इस भाषा ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। हरियाणा प्रान्त पृथक् वन जाने के पश्चात् यह प्रान्त विशुद्ध पजावी भाषा-भाषी प्रान्त बन गया है। इसका उद्गम टक्क नामक अपभ्रंश से माना जाता है।

सीमाएँ—इसका क्षेत्र अम्बाला जिले की कुछ तहसीलों से लेकर जो अब तक जम्वू-शिमला से लेकर भटिण्डा के कुछ गाँवों तक फैली हुई है, माना जाता है। इसके उत्तर मे हिमाचल प्रदेश, दक्षिण मे सिन्धी, पूर्व मे पश्चिमी हिन्दी तथा पश्चिम मे हरियाणा प्रदेश की वाँगरू भाषा बोली जाती है। इसके बोलने वालो की सख्या १६६१ की जनगणना के अनुसार १ करोड़ नौ लाख के लगभग है। इस पर हिन्दी भाषा का प्रभाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

बोलियाँ और साहित्य—पंजावी की चार प्रमुख बोलियाँ है—१. जम्वू और कागड़ा की डोगरी, २ पटियाला और उसके आस-पास की मालवई, ३ लुधियाना या पूर्वी क्षेत्र की पोवाधी, ४. लाहौर और अमृतसर की माझी। इन सब मे 'माझी' सामान्यत· साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इसमे साहित्य का निर्माण महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था; यथा—नानक की गुरुवाणी और फतेहपुर (राजस्थान) के शाहजादे न्यामतखाँ (उपनाम जान कवि) द्वारा लिखित 'अलीफखाँ की पैडी' विशेप रूप से उल्लेखनीय है। पिछली एक-डेढ़ शताव्दी से पजावी मे भरपूर साहित्य लिखा जा रहा है। पटियाला मे स्थापित पंजाबी विश्वविद्यालय मे एम. ए (पजावी) की कक्षाओ का प्रारम्भ, भाषाभिमान के साथ-साथ साहित्य की अतुल समृद्धि का भी सूचक है। आजकल पजावी भापा मे शोध-कार्य भी तीव्र गति से हो रहा है। आधुनिक लेखको मे भाई वीरसिह, धनीराम चात्रिक, मोहनसिह, अमृता प्रीतम, सेखो, पूरनसिह, दुग्गल तथा गार्गी का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। पंजावी साहित्य को हिन्दी मे अनूदित करने मे अनेक विद्वानो का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—पजावी मे सघोप महाप्राण ध्वनियो का उच्चारण अल्पप्राण के साथ 'ह्' मिले हुए के समान होता है। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार पंजाबी मे 'ह' का उच्चारण भी सघोषवत् न होकर विसर्गवत् उच्चरित किया जाता है। १. स्वर-भक्ति पंजावी भाषा का विशिष्ट लक्षण है; यथा—

प्रसाद>परसाद, धर्म>धरम आदि। अपभ्रंश की द्वित्व प्रणाली का पजावी आज तक पल्ला पकड़े हुए है। वास्तव मे पंजाव प्रान्त की यह प्रारम्भ से ही विशेपता रही है कि उसे प्राचीनता से अधिक मोह रहता है। यही कारण है कि पंजावी में अन्य भापाओ की तुलना मे विकास के चिह्न कम दिखाई देते है। 'कम्म' का हिन्दी भापी प्रदेशो मे कभी का "काम" शव्द हो चुका है, पंजावी में अव भी 'कम्म' शव्द का प्रयोग ही प्रचलित है। पुत्तर, इव्वरो, अक्ख, अज्ज, कज्ज, भज्ज इत्यादि का प्रयोग होता है। पंजावी भापा मे स्वर मध्यस्थ 'उ तथा इ' के स्थान पर 'अ' करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है; यथा—माथुर>माथर, कौशिक>कौशक। 'न और ण' का अन्तर नही दिखाई देता है। हिन्दी भापी प्रदेशो मे जहाँ 'न' मिलता है, वहाँ पजावी मे 'ण' के दर्शन हो जायेगे और जहाँ 'ण' मिलता है वहाँ 'न' का प्रयोग हो सकता है। पदादि स्वर के साथ 'ह' के आगम के उदाहरण भी पजावी भापा मे मिल जायेंगे, यथा—एक>हिक, और>होर। 'व' श्रुति का आगम भी पंजावी की अपनी विशेपता है; यथा—हुआ>हुवा, ओला>वोला। पंजावी मे यद्यपि 'ल' ध्वनि लिखी नही जाती, फिर भी वोलने मे इसका प्रयोग धडल्ले से होता है।

रूप तत्त्व—पजावी भापा मे एकवचन और वहुवचन, दो वचन तथा स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग, दो लिङ्ग मिलते है। कारको मे केवल ऋजु और तिर्यक् रूप मिलते है। एकवचन से वहुवचन वनाते समय पुल्लिङ्ग मे 'आँ' और स्त्रीलिङ्ग मे कही-कही 'माँ' भी देखा जाता है। तिर्यक् मे आकारान्त शव्दो के 'आ' को 'ए' कर दिया जाता है। पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग वनाते समय 'अन' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। अनेक स्थानो पर इसे 'अण' भी कर दिया जाता है; यथा—मालिन>मालण आदि। कारकीय परसर्गो मे यह अपना स्वतन्त्र पथ ग्रहण कर अग्रसर होती है। कर्ता प्राय: निर्विभक्तिक रहता है। भूतकाल मे 'ने' परसर्ग का प्रयोग मिलता है। कर्म में 'नूँ' का प्रयोग, सम्प्रदान मे 'थो'; सम्वन्ध मे 'दा दे दी' तथा अधिकरण मे विच/विच्च का प्रयोग पंजावी भापा की अपनी विशेपता है। विशेपणों के प्रयोग में संस्कृत की तरह विशेष्य के अनुरूप लिङ्ग और वचन वदल जाते है। पर यह नियम जितना स्त्रीलिङ्ग शव्दो मे कट्टरता से पोपित किया जाता है, वहाँ व्यञ्जनान्त शव्दो मे इसकी शिथिलता भी दर्शनीय है; यथा—सुन्दर लडका, सुन्दर लड़की, सुन्दर लड़के, सुन्दर लडकिओ, किन्तु साथ ही अच्छा लड़का, अच्छी लडकी, अच्छे लड़के, अच्छिओ लड़किओं आदि। सर्वनामों मे 'अस्सी, तुस्सी सानूँ, साडा, तुहाडा' आदि विशिष्ट रूप मे 'किम् एतद्' आदि सर्वनामो में 'ड़ा' प्रत्यय के दर्शन राजस्थानी की याद दिला देते है; यथा—'तुहाडा केहडा पिण्ड ए।'

मराठी :

वर्तमान महाराष्ट्र मे बोली जाने वाली भापा महाराष्ट्री या मराठी कहलाती है। डॉ. तगारे के अनुसार दक्षिणी अपभ्रश से, जिसमे पुष्पदन्त और मुनि कनकामर ने अपनी रचनाएँ की है, महाराष्ट्री भाषा का उद्गम हुआ है। यह सिद्धान्त प्रायः अमान्य हो गया है, क्योकि पुष्पदन्त और मुनि कनकामर की रचनाओ की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही है। इस भ्रम का निराकरण "अपभ्रश के क्षेत्रीय भेद, समस्या और समाधान" शीर्षक मे पुष्ट प्रमाणों के द्वारा किया है। महाराष्ट्री का उद्भव महाराष्ट्री मे प्रचलित किसी अपभ्रंश बोली से हुआ होगा, जिसका कोई भी नमूना इस समय उपलब्ध नही है। इस पर वैदर्भी अपभ्रश तथा पूर्वी भाषाओ का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है।

सीमाएँ—भारत के पश्चिम मे 'दमण' से लेकर दक्षिण की ओर गोमन्तक तथा उत्तर मे नागपुर का प्रदेश महाराष्ट्र कहलाता है। इसमे प्रमुख रूप से बम्बई, पूना, बरार तथा नागपुर का प्रदेश लिया जा सकता है। इसके एक ओर राजस्थानी, दूसरी ओर पूर्वी भाषाएँ तथा एक ओर मध्य देशीय भाषाएँ आती है। गुजराती इसके सब से अधिक समीप बोली जाने वाली भापा है। दक्षिण मे कन्नड एवं तेलगु भाषी प्रदेश है।

बोलियाँ एवं साहित्य—कोकणी, बरारी, हल्बी, खडी बोली तथा मराठी इसकी प्रमुख बोलियाँ है। मराठी (खडी) ही सामान्यतः साहित्यिक भापा के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। कोकणी को कुछ विद्वान् स्वतन्त्र भाषा कहते है। हल्बी पर पूर्वी हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मराठी मे बहुत पहले ही साहित्य लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था। मराठी के ताम्रपत्र एव शिला लेख ९२३ ई० से मिलते है। मराठी साहित्य मे सन्त नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य का ही नही, अपितु समस्त भारत का गौरव बिन्दु है। इसी समय की मुकुन्द राम रचित 'विवेक सिन्धु' एक उल्लेखनीय रचना है। मध्यकालीन लेखको मे दासोपन्त, एकनाथ, सन्त तुकाराम, समर्थ रामदास, मोरोपन्त और अमृतराय का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन सन्तों की कविता का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अत्यधिक मात्रा मे पडा है। आधुनिक काल मे प्रायः साहित्य की समस्त विधाओ पर रचनाएँ की जाती है। आधुनिक काल के अनेक लेखको के साथ महात्मा तिलक और सातवलेकर एवं सावरकर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मराठी की लिपि देवनागरी है और हिन्दी के प्रति इनका अगाध प्रेम है।

भाषागत विशेषताएँ—'ऋ' के स्थान पर 'र', 'न' के स्थान पर 'ण',

'स' के स्थान पर 'श' तथा 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है । ये ध्वनिगत परिवर्तन महाराष्ट्री को मागधी प्राकृत की भाषाओं की श्रेणी मे ले जाकर बिठा देते है। महाराष्ट्री मे 'व और ब' में तथा 'ड ओर ड़' मे स्पष्ट अन्तर किया जाता है। महाराष्ट्री में 'ल' ध्वनि का अभाव है । सज्ञा शब्द जो राजस्थानी और ब्रज में क्रमशः ओकारान्त एवं औकारान्त है, वे यहाँ पर हिन्दी की तरह आकारान्त पाये जाते है ।

रूप तत्त्व—मराठी मे दो वचन और तीन लिङ्ग है। नपुंसक लिङ्ग में तिर्यक् प्रयोग से 'अ को आ' और 'उ को ऊ' हो जाता है; यथा—घर>घरा जीभ>जीभा, मधु>मधू आदि। ऋजु रूप मे समान स्थिति मे रहते है। व्यञ्जनान्त और अकारान्त शब्दों को एक वचन मे 'अ' और बहुवचन मे 'आन' आदेश होते है। नपुसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मे 'इकारान्त तथा उकारान्त शब्द दीर्घ हो जाते है । एक वचन मे और बहुवचन मे 'न्' जोड दिया जाता है । संज्ञाओं मे कुछ स्थलो पर अब भी विभक्ति-प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है । मराठी मे दो प्रकार के ऋजु और तिर्यक् कारक मिलते हैं । परसर्गो मे भी यह स्वतन्त्र अस्तित्व की द्योतक है। करण मे 'ने और शी' परसर्ग, सम्प्रदान मे ला, ते, अपादान से ऊन और हून (सम्भवतः राजस्थानी 'हुन्त' का विकसित रूप) है और सम्बन्धकारक मे 'चा चे ची' का प्रयोग मराठी की विशेषताएँ हैं। क्रिया के क्षेत्र मे वर्तमान काल मे 'त' अन्त, भूतकाल 'ल' प्रत्यययुक्त और भविष्यत् 'ल' प्रत्यय युक्त रूप पाये जाते है । क्रियार्थक सज्ञा 'ण, न' के स्थान पर 'णें' का प्रयोग उपलब्ध होता है । पुरुष वाचक सर्वनाम सरल एवं सामान्य है । लिङ्ग प्रक्रिया जटिल है । विशेषण विशेष्य के वचन के अनुसार नही बदलता ।

गुजराती :

गुजरात प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा को गुजराती कहते है । इसका उद्भव गुर्जर अपभ्रश से माना जाता है । विद्वानो का विचार है कि प्रारम्भ मे पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती एक ही भाषाएँ थी। लगभग १५वी अथवा १६वी शताब्दी मे ये दो भागो मे बँट गई—गुजराती और मारवाड़ी । गुर्जर जाति के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम गुजरात पड़ा । १९६१ की जनगणना के आधार पर इस भाषा को बोलने वालो की संख्या दो करोड़ चार लाख के लगभग थी।

सीमाएँ—इसके उत्तर पूर्व मे सिन्धी एवं राजस्थानी तथा दक्षिण मे मराठी बोली जाती है । बम्बई, अहमदाबाद, काठियावाड़ आदि इसके प्रमुख केन्द्र है । जूनागढ प्रदेश मे गुजराती ही बोली जाती है ।

बोलियाँ और साहित्य—गुजराती की कोई उल्लेखनीय बोली नही है। अहमदाबाद के आसपास की बोली ही प्रायः समस्त प्रदेश मे बोली जाती है ।

साहित्य के लिए भी इसी वोली का प्रयोग किया जाता है। कथ्य गुजराती और साहित्यिक गुजराती मे अन्तर पाया जाता है। गुजराती मे मराठी की तरह विपुल साहित्य है। लगभम वारहवी शताव्दी से ही इसका साहित्य उपलब्ध है। नरसिंह महता अपने समय के लोकप्रिय कवि है। अधुना गुजराती मे कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी विधाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर है। गोवर्धनराम त्रिपाठी, के. एम. मुन्शी तथा काका कालेलकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—गुजराती में 'द्वित्व' व्यञ्जन प्रणाली का परित्याग कर सरलीकरण का परिचय दिया है। द्वित्व को समाप्त कर प्रथम स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। 'क ख ग' के स्थान पर 'च छ ज' का क्रमशः आदेश हो जाता है; यथा—लाग्यो>लाज्यो। 'च छ' के स्थान पर 'स' तथा 'स' का 'ह' मे परिवर्तन भी गुजराती की विशेषता है। दन्त्य और मूर्धन्य व्यञ्जन भी परस्पर परिवर्तित होते रहते है।

रूप तत्त्व—गुजराती मे दो वचन और तीन लिङ्ग पाये जाते हैं। ऊँकारान्त नपुसक लिङ्ग उभय लिङ्गी होता है। गुजराती मे वहुवचन में 'आ' और 'ओ' लगाया जाता है। 'ह' ध्वनि तथा महाप्राण ध्वनियो का उच्चारण विकृत होता है। गुजराती में कर्ता निर्विभक्तिक रहता है। कर्म मे 'नै', करण 'थी', 'सम्प्रदान' मे माटे 'अपादान में 'थी', सम्वन्ध 'नो ना नी' 'पर' परसर्गी का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल मे सहायक क्रिया 'छा छे छी', भूतकाल मे 'हतो' तथा भविष्यत् काल मे 'श' परक होता है। क्रियार्थक संज्ञा में 'वु' प्रत्यय लगता है। विशेषण मे विशेष्य के वचन के अनुसार परिवर्तन नही होता।

राजस्थानी :

राजस्थान प्रान्त मे वोली जाने वाली भाषा को राजस्थानी कहते है। भीलो की भापा एवं पहाडी भाषाओ का सम्वन्ध भी राजस्थानी के साथ जोड़ा जाता है। इसे 'राजस्थानी' नाम आजकल ही मे दिया गया है। पहले इसे मारु सोरठ या मारु भाषा तथा डिंगल कहा जाता था। इसका उद्भव कुछ विद्वान् शौरसेनी से और कुछ गुर्जर अपभ्रंश से मानते हैं। वस्तुतः राजस्थान की वोलियाँ एक धारा से उद्भूत न होकर दो धाराओं की सगम भूमि है। इसलिए दोनो ही विद्वान् अपने-अपने विचार से सही हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार राजस्थानी वोलने वालो की संख्या एक करोड उनञ्चास लाख है।

सीमाएँ—राजस्थानी के पूर्व मे मध्यदेशीय भाषाएँ, पश्चिम मे सिन्धी, उत्तर मे लहन्दा एवं पंजावी तथा दक्षिण मे मराठी एवं मध्यदेशीय भाषाओ का कुछ भाग आता है। राजस्थानी भाषा जोधपुर, वीकानेर, शेखावाटी,

सिरोही, जयपुर आदि प्रदेशो मे बोली जाती है। वैसे राजस्थानी को करौली, भरतपुर, अलवर, गुड़गाँव एवं उधर मालवा तक ले जाया जाता है जो कि उचित नही है।

बोलियाँ एवं साहित्य—राजस्थानी भाषा का सर्वप्रथम सर्वेक्षण जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने किया था। उन्होने राजस्थान की बोलियो को निम्न प्रकार से विभाजित किया—

(१) पश्चिमी राजस्थानी—जोधपुर की खड़ी राजस्थानी अथवा शुद्ध पश्चिमी मारवाड़ी, ढ़क्की, थली, बीकानेरी आदि।

(२) उत्तर-पूर्वी राजस्थानी—अहीरवाटी और मेवाती।

(३) मध्यपूर्व राजस्थानी—ढूँढाड़ी एवं हाड़ौती।

(४) दक्षिण पूर्व राजस्थानी—मालवी।

(५) दक्षिण राजस्थानी—नीमाड़ी।

यद्यपि राजस्थानी विद्वान् अभी तक इसी वर्गीकरण को स्वीकार कर चल रहे है, तथापि राजस्थानी के अन्तर्गत केवल सख्या एक और तीन को ही लिया जा सकता है। शेष २, ४, ५ का उद्‌गम मध्यदेशीय अपभ्रंश होने के कारण राजस्थानी शीर्षक के अन्तर्गत रखना ठीक नही है। राजस्थानी का प्रारम्भिक साहित्य विपुल मात्रा मे उपलब्ध होता है। जैसे—ढोलामारु रा दूहा, वेलि क्रिसण रुक्मिणी री तथा चारणों एवं भाटो द्वारा लिखे गए रासो एवं वेल ग्रन्थ तथा गद्य में लिखित वार्ताएँ आदि। राजस्थानी मे जितना साहित्य आदिकाल और मध्यकाल में लिखा गया, उतना आजकल नही लिखा जा रहा है, फिर भी श्री नानूराम सस्कर्ता, श्री सत्यप्रकाश जोशी, श्री श्रीगोपाल नथमल जोशी, श्री मुरलीधर व्यास, श्री नारायणसिंह भाटी तथा श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली का नाम उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—राजस्थानी मे 'अ' के स्थान पर 'इ' तथा 'इ' के स्थान पर 'अ' पाया जाता है। अव>इव, मनुष्य>मिनख। पूर्वी राजस्थानी में अल्पप्राण अघोष के स्थान पर महाप्राण अघोष मिलता है; यथा—कहाँ गया है>खाँ गियो है या छै। 'ण् और ल्' राजस्थानी की विशिष्ट ध्वनियाँ है। 'ड, ड़' ध्वनियो के प्रति विशेष मोह लक्षित होता है। महाप्राण सघोष ध्वनियाँ तथा 'ह' का उच्चारण विकृत हो गया है। 'ह' अनेक स्थलो पर अपना स्थान परित्याग कर चुका है। 'ऐ और औ' के स्थान पर 'ए तथा ओ' मिलते है। 'क्ष्' के स्थान पर 'ख' तथा 'छ' दोनो ध्वनियाँ मिलती है। 'स' के स्थान पर 'ह' मिलता है।

रूप तत्त्व—आधुनिक राजस्थानी मे दो लिङ्ग और दो वचन ही मिलते हैं। कुछ विद्वान् नपुसक लिङ्ग का अस्तित्व भी राजस्थानी में मानते है। उसमे

अनुस्वार के चिह्न का जो कारण श्री टैसिटरी ने दिया है, वह अत्यन्त दुर्बल है। हाँ, कर्म कारक मे नपुसक लिङ्ग मे परसर्ग का प्रयोग नही होता। यह कारण अवश्य महत्त्वपूर्ण है; यथा—माली नै बुलाओ, (स्त्री०) 'वलीतो लाओ' मे (नपु०)। यहाँ 'वलीता' का प्रयोग परसर्ग रहित है। फिर भी यह लिङ्ग राजस्थानी में स्पष्ट नही है। कारक ऋजु और तिर्यक् रूप में ही मिलते हैं। कर्म कारक मे 'नै' तथा सम्वन्ध कारक मे 'रा रो री' आदि परसर्ग इसकी विशेषताएँ है। वर्तमान काल मे "है हाँ हूँ" और भूतकाल मे 'हो हा ही' सहायक क्रियाओ का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् काल प्राकृत तिडन्त प्रत्यय 'स्स' को ही लेकर वनता है। पूर्वी राजस्थानी मे 'ला लो ली' का प्रयोग भी भविष्यत् काल के लिए किया जाता है। वचन परिवर्तन मे वहुवचन मे 'आँ' का प्रयोग होता है। स्त्रीलिङ्ग में 'याँ' भी मिलता है। स्त्रीलिङ्ग वनाने मे 'ई और अण' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है।

विहारी :

यह पूर्वी भाषा समुदाय में आती है और समस्त विहार प्रदेश मे वोली जाती है। इसका उद्‌गम अर्ध-मागधी प्राकृत से विकसित अपभ्रंश से माना जाता है। मध्यप्रदेशीय अपभ्रश का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके वोलने वालों की संख्या चार करोड़ पैतालीस लाख है।

सीमाएँ—पश्चिम में विहारी, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर तथा वनारस के ज़िलों मे बोली जाती है। दक्षिण मे यह छोटे नागपुर के आस-पास वोली जाती है। उत्तर मे नैपाल के आप-पास से लेकर दक्षिण मे उडीसा की सीमाओ का स्पर्श करती है। इसके उत्तर में नैपाली, तिव्वती तथा वर्मी भापाएँ वोली जाती है। पूर्व मे वगला भापा वोली जाती है तथा दक्षिण मे उड़िया भापा का क्षेत्र है। पश्चिम मे पूर्वी हिन्दी वोली जाती है।

वोलियाँ और साहित्य—विहारी की तीन प्रमुख वोलियाँ हैं १. भोजपुरी २ मगही, ३. मैथिली। तीनो ही वोलियाँ स्वतन्त्र रूप से साहित्य का माध्यम रही है। मगही मे अत्यन्त कम साहित्य लिखा गया है। भोजपुरी और मैथिली मे पुराना साहित्य पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। मैथिल कोकिल विद्यापति की प्रसिद्ध पदावली इसी भाषा मे है। कुछ विद्वान् भोजपुरी को विहारी की उपभापा स्वीकार करने मे हिचकिचाते है, किन्तु डॉ. उदयनारायण तिवारी ने पुष्ट भाषा वैज्ञानिक प्रमाणो द्वारा इन तीनो भापाओ की आन्तरिक एकता सिद्ध कर, इन्हे विहारी की ही वोलियाँ वताया है। आजकल विहार मे साहित्य एवं राजकाज की भापा के रूप मे खड़ी वोली हिन्दी को ही स्वीकार कर लिया गया है। अत. इन वोलियो मे नवीन साहित्य का प्राय. अभाव सा ही है।

भाषागत विशेषताएँ—विहारी में 'ड़्' के स्थान पर 'र्' तथा 'ढ्' के स्थान पर 'रह्' मिलते है। 'ल्' के स्थान पर भी 'र' मिलता है; यथा—फल>फर, गाली>गारी। 'ल्' के स्थान पर 'न' भी मिलता है। शब्द के आदि में प्राय: 'य तथा व' का अभाव पाया जाता है। ह्रस्व 'ए ऐ, ओ औ' का प्रयोग विहारी मे सुनाई देता है। व्रज में 'औ', राजस्थानी में 'ओ' खडी वोली 'आ' अन्त वाली सज्ञाएँ विहारी मे अकारान्त पाई जाती है। विहारी मे 'अइ' और 'अउ' का प्रयोग भी होता है। इसमे पदान्त एवं मध्य 'अ' का उच्चारण स्पष्ट एवं शुद्ध होता है, हिन्दी की तरह लोप के चिह्न दिखाई नहीं देते है। महाप्राण ध्वनियो एवं 'ह' का उच्चारण ठीक सघोषवत् शुद्ध एवं स्पष्ट होता है। 'न्द' के स्थान 'न्न' और 'न्ध' के स्थान पर 'न्ह' मिलते है; मैथिली मे 'स ष श' के स्थान पर 'ह' मिलता है।

रूप तत्त्व—बिहारी मे दो वचन और दो लिङ्ग मिलते है। एक वचन से वहुवचन वनाने मे सभ, सवहि, लोकनि आदि शब्द जोड़े जाते है, अन्यथा रूप अपरिवर्तित रहता है। तिर्यक् रूप मे 'न' लगा दिया जाता है। स्त्रीलिङ्ग मे 'इकार और ईकार' दोनो का प्रयोग उपलब्ध होता है। कारक ऋजु व तिर्यक् रूप में ही मिलते हैं। कर्म व सम्प्रदान मे 'ला, के, के खातिर, करण मे ले, ते तथा सम्बन्ध कारक में केर के साथ-साथ 'क' परसर्गों का प्रयोग इसकी विशेषता है। 'ल' प्रत्यय भूत काल के साथ-साथ वर्तमान काल का भी द्योतन कराता है। क्रियार्थक सज्ञा मे 'ल' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। हीनता सूचक क्रियाओं का प्रयोग भी विहारी की विशेषता है। भविष्यत् काल मे 'अव' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है।

बंगला :

पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान), पश्चिम बगाल (भारत) मे वोली जाने वाली भाषा का नाम है। वगाली हिन्दू की तरह वगाली मुसलमान भी समान रूप से अपनी भाषा को आदर की दृष्टि से देखता है। पाकिस्तान की भाषा समस्या इसी भावना की देन है। वगला भाषा का उद्भव गौडी अपभ्रंश से माना जाता है। ढक्की अपभ्रश का प्रभाव द्रष्टव्य है। डॉ सुनीतिकुमार चटर्जी का वगला भाषा पर किया गया कार्य उत्तम कोटि का है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके वोलने वालो की सख्या भारत और पाकिस्तान मे मिलाकर ६ करोड़ है।

सीमाएँ—वगला भाषा गगा के मुहाने से लेकर उसके उत्तर पश्चिम के मैदानो में वोली जाती है। इसके उत्तर मे पहाडी भाषाएँ तथा तिब्बत-बर्मी परिवार की भाषाएँ वोली जाती है। पूर्व मे असमी भाषा का क्षेत्र है तथा दक्षिण-पश्चिम मे उड़िया भाषा वोली जाती है। पश्चिम मे विहारी भाषा है।

बोलियाँ और साहित्य—बगला भाषा की दो प्रमुख बोलियाँ हैं। एक पूर्वी बगाल मे बोली जाती है और द्वितीय पश्चिम बंगाल मे बोली जाती है। प्रथम का केन्द्र ढाका है और द्वितीय का केन्द्र कलकत्ता है। कलकत्ता मे सम्भ्रान्त परिवारो के द्वारा बोली जाने वोली ही बंगाल की आदर्श एवं साधु भाषा है तथा साहित्य के लिए सामान्यतः इसी भाषा का प्रयोग किया जाता है। बंगला मे विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। यद्यपि प्रारम्भिक साहित्य अधिक नही है, पर अग्रेजों के आने के बाद से अंग्रेजी भाषा के प्रभाव स्वरूप बगला साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की है। अनेक क्षेत्रो में यह हिन्दी भाषा की अग्रणी रही है। कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर बंगला के एक ऐसे कवि हैं जिस पर समस्त भारतवर्ष को गर्व है। इन्हे गीताञ्जलि पर नोबेल पुरस्कार मिला है। इनके अतिरिक्त बंकिमचन्द्र चटर्जी, माईकेल मधुसूदन दत्त, द्विजेन्द्र लाल राय तथा शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साहित्य की समस्त विधाओं पर बंगला मे साहित्य लिखा जा रहा है।

भाषागत विशेषताएँ—बंगला मे 'अ' का उच्चारण ह्रस्व 'ओ' की तरह किया जाता है। 'ऐ और औ' का उच्चारण 'ओइ और आए' की तरह से किया जाता है। पदान्त स्वर का उच्चारण स्पष्टतः किया जाता है। पूर्वी बंगला और पश्चिमी बंगला मे उच्चारणगत अन्तर पाया जाता है। पूर्वी बंगला मे महाप्राण ध्वनियो एव 'ह' का विकृत उच्चारण होता है, किन्तु उत्तर और पश्चिम मे शुद्ध उच्चारण किया जाता है। बंगला मे 'य' 'जा' मे परिवर्तित हो जाता है। 'व' का 'ब' उच्चारण भी देखा जाता है। बगला मे 'श' ध्वनि की सुरक्षा तथा 'स् ष्' के स्थान पर भी 'श' बोला जाता है। उच्चारण मे द्वित्व पाया जाता है। 'ण' के स्थान पर प्रायः 'न' का उच्चारण किया जाता है। पूर्वी बंगला मे 'स' को 'ह' कर दिया जाता है।

रूप तत्व—बंगला मे दो वचन और दो लिङ्ग है। एक वचन से बहुवचन बनाते समय व्यञ्जनान्त शब्दो के आगे 'एरा' प्रत्यय और स्वरान्त शब्दो के आगे 'रा' प्रत्यय जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त ऋजु एवं तिर्यक् दोनो अवस्थाओ मे समूह, गुली या गुलो भी जोड़ा जाता है। स्त्रीलिङ्ग बनाते समय 'आ और ई' प्रत्ययो का ही प्रयोग होता है। कारक ऋजु और तिर्यक् दो रूपो मे प्रयुक्त होते हैं। षष्ठी में परसर्ग के स्थान पर 'एर' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। स्वरान्त शब्दों मे बहुवचन मे 'देर' हो जाता है। परसर्गो में कर्म मे 'के', करण में 'दारा', सम्प्रदान मे जो न्ने, अपादान मे 'थे के, होइते' तथा अधिकरण मे 'ते' द्रष्टव्य है। विशेषण लिङ्गानुसार परिवर्तित नही होता। भूतकाल मे 'ल' प्रत्यय और भविष्यत् काल मे 'ब' प्रत्यय जोड़े जाते है। 'है' का प्रायः प्रयोग नही किया जाता। शेष हिन्दी की तरह ही चलता है।

असमी :

यह असम प्रदेश की भाषा है। असम में अनेक आदिवासी कबीले है। वे अपनी भाषा का प्रयोग करते है। ईसाई मिशनरियो का अधिक प्रभाव उस क्षेत्र मे होने के कारण आंग्ल भाषा का प्रभाव भी देखा जा सकता है। असमी और बंगला का घनिष्ट सम्बन्ध है। कहा जाता है कि शिक्षित असमी और बंगाली सरलता से एक-दूसरे की भाषा समझ सकते है। इसका उद्‌गम गौडी और औड्र के बीच की किसी अपभ्रंश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की सख्या अड़सठ लाख है।

सीमाएँ—यह भापा दक्षिणी असम, लखीमपुर से गोलपारा प्रदेश तक बोली जाती है। इसके पूर्व मे बर्मी भाषा पश्चिम मे बंगला भापा, उत्तर मे पहाड़ी भाषाएँ तथा तिब्बत बर्मी परिवार की भाषाएँ एवं दक्षिण में बंगला भाषा बोली जाती हैं। साहित्य अत्यन्त कम है। आजकल इसमे साहित्य लिखा जाने लगा है। हेम बरुआ और चन्द्रकुमार अग्रवाल का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—असमी मे 'च, छ' का 'स' और 'स' के स्थान पर 'ह या ख' पाया जाता है। सयुक्त व्यञ्जनो मे द्वित्व का आभास होता है। 'य, व' का 'ज, ब,' तथा 'ण' को 'न' बगला के समान ही होते है। 'ट, ड' का उच्चारण 'त, द,' की तरह सुनाई देता है। 'ड' के स्थान पर 'र' तथा 'ज' का 'ज' उच्चारण सुनाई देता है।

रूपगत विशेषताएँ—असमी मे दो लिङ्ग और दो वचन होते है। बगला की अपेक्षा अधिक संयोगात्मक है। परसर्गों मे कर्म मे 'क' 'करण मे 'ए, एरे' सम्प्रदान मे लै, लैके', सम्बन्ध मे 'अर, अरे' और अधिकरण मे 'अत, अते' रूप होते है। लिङ्ग और वचन के अनुसार क्रियाओ मे कोई अन्तर नही आता। भूतकाल मे 'ल' प्रत्यय का तथा भविष्यत् काल मे प्राय· 'ब' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल मे 'उँ तथा वा' का प्रयोग किया जाता है।

उड़िया :

तमिल 'ओद' शब्द (कृपि करना) के नाम पर हिन्दी-'ओड+सा= ओड़ीस=उड़ीसा नाम से यह प्रदेश विख्यात है। इसके प्राचीन नाम कलिङ्ग तथा उत्कल भी मिलते है। सम्भवत इन्ही आधारो पर औड्र और उत्कली अपभ्रशो का यह नाम पडा है। उडिया का असमी की तरह बंगला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ विद्वान् तो "प्रारम्भ मे इनका एक ही रूप रहा होगा" ऐसा स्वीकार कर चलते है। इसका उद्‌गम 'औड्र' अपभ्रश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के आधार पर इसके बोलने वालो की सख्या एक करोड़ सत्तावन लाख है।

सीमाएँ—वर्तमान समस्त उडीसा प्रदेश इसके अन्तर्गत आता है। इसके पूर्व में बंगला भाषा का तथा पश्चिम में मध्यदेशीय भाषा का क्षेत्र आता है। उत्तर में बिहारी भाषा बोली जाती है तथा दक्षिण में तेलगु का प्रभाव-क्षेत्र आता है। उड़ीसा बहुत दिनो तक मराठो एवं तैलगो के अधीन रहा। अतः उडिया में मराठी एव तेलगु भाषाओं का बहुत अधिक प्रभाव पाया जाता है।

बोलियां और साहित्य—उडिया मे प्रायः एक ही भाषा का सर्वत्र प्रयोग किया जाता है। इसमे केवल एक मजी बोली है, जो मराठी, तेलगु और उडिया का मिश्रित रूप है। ग्यारहवी तथा बारहवी शताब्दी के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए है, जिससे लगता है कि उस समय उडिया भाषा विकसित हो गई थी। प्राचीन काल का कृष्ण साहित्य और लोकगीत उडीसा मे अत्यन्त लोकप्रिय है। आधुनिक युग मे उड़िया में साहित्य लिखा जा रहा है। श्री रघुनाथ राय, नन्दकिशोर बल, कुन्तल कुमारी देवी, नीलकण्ठ दास आदि लेखको का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—अधिकाश ध्वन्यात्मक विशेपताएँ बंगला से मिलती जुलती है। 'ऋ' के स्थान पर 'रु', 'श ष' के स्थान पर 'स' तथा 'ण ल' 'क, ट, प' आदि ध्वनियो का कुछ महाप्राणवत् उच्चारण सुनाई देता है।

रूपगत विशेषताएँ—इसमे भी दो वचन और दो लिङ्ग है। लिङ्ग का प्रयोग स्वाभाविक एव सरल है। वहुवचन बनाने के लिए एक वचन के साथ मन, लोक, गण आदि शब्द जोडे जाते है। कुछ विभक्ति-प्रत्यय अभी भी अवशिष्ट है। करण, अपादान और अधिकरण मे क्रमश' 'ए, उ, और ए' विभक्ति-प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। परसर्गों मे कर्म व सम्प्रदान मे 'कु और के', करण मे 'रे', अपादान मे 'रु, नु', सम्बन्ध मे 'र तथा न' और अधिकरण मे 'रे तथा ने' का प्रयोग किया जाता है। 'न' का विभिन्न रूपो मे परसर्गो के लिए प्रयोग उड़िया की लक्षणीय विशेषता है। उत्तम पुरुष सर्वनाम के रूप सरल एवं स्पष्ट है। भूतकाल मे 'ल' तथा भविष्यत् काल मे 'ब' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल का विधान राजस्थानी एव व्रजभापा के अनुरूप है। कुछ स्थलो पर 'उ' का प्रयोग द्रष्टव्य है।

पश्चिमी हिन्दी :

यह भापा एक बहुत बडे भूभाग पर बोली जाती है। इसी की एक विभापा खड़ी बोली को संविधान मे राष्ट्रभापा का गौरवमय स्थान दिया गया है। अभी इसे व्यावहारिक रूप देना अवशिष्ट है। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्ति अवरोध स्वरूप आगे आए हुए है, जो शरीर से भारतीय और मस्तिष्क से अभी भी अंग्रेजों एवं अंग्रेजी के दास है। इस भाषा का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। उर्दू, अंग्रेज़ी आदि भापाओ का इसकी शब्दावली पर तथा

साहित्य पर पड़ा प्रभाव द्रष्टव्य है। इसके बोलने वालो की संख्या १९६१ की जनगणना के अनुसार चार करोड़ बावन लाख के लगभग है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश एवं भिन्न भाषा-भाषी साधारण रूप में इसे समझ और बोल सकता है।

सीमाएँ—पश्चिमी हिन्दी उत्तर प्रदेश का सम्पूर्ण पश्चिमी क्षेत्र तथा भोजपुरी से मुक्त पूर्वी भाग, समस्त हरियाणा प्रान्त मे, मेवाती एवं अहीर वाटी क्षेत्र को छोड़कर जो अभी विवादग्रस्त क्षेत्र है, बोली जाती है। इसके अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेशो मे बसे मुसलमान और हिन्दू पश्चिमी हिन्दी का प्रयोग करते हैं। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रान्तो में १०% लोग हिन्दी बोल, लिख, पढ़ और समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी लोग भी भारतीयों के साथ वार्तालाप के लिए खड़ी बोली हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। वैसे इसकी सीमाएँ इस प्रकार अंकित की जा सकती हैं—पश्चिम मे राजस्थानी और पंजाबी से लेकर पूर्व में बघेली और अवधी की सीमा तक एवं उत्तर मे पहाड़ी भाषाओ की सीमा से लेकर दक्षिण मे मराठी भाषा की सीमा तक पहुँच जाती है।

बोलियाँ एवं साहित्य—पश्चिमी हिन्दी की अनेक बोलियाँ एवं विभाषाएँ हैं। मुख्यत. बांगरु या हरियाणवी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बुन्देली या बुन्देल खण्डी और कन्नौजी आदि है। इन बोलियों को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—१. हरियाणवी और खड़ी बोली—आकार बहुला २. ब्रजभाषा, बुन्देली और कन्नौजी औकार बहुला। इनमे मुख्यतः ब्रजभाषा और खड़ी बोली मे विपुल साहित्य मिलता है। विद्वानों का मत है कि इस भाषा का प्रारम्भ सातवी शताब्दी से ही उपलब्ध है जिसे वे पुरानी हिन्दी कहते हैं। चन्द बरदायी से लेकर आजतक हिन्दी साहित्य ने वाङ्मय के सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की है। कबीर, सूरदास आदि कवि तो समस्त भारत के लिए श्रद्धेय हैं।

भाषागत विशेषताएँ—पश्चिमी हिन्दी मे प्राय. अपभ्रंशगत सभी ध्वनियाँ उपलब्ध हैं। स्वरो मे 'ऑ' ध्वनि का नवीन विकास आंग्ल भाषा के कुछ शब्दों के सही उच्चारण करने के हेतु हुआ। 'ऐ' का उच्चारण तद्भव शब्दों के लिए विशेष प्रकार से किया जाता है; यथा—जैसा, ऐसा>अैसा। इनका उच्चारण 'शैल' में प्रयुक्त 'ऐ' से भिन्न हैं। ब्रज इत्यादि भाषाओ में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' भी मिलते हैं। महाप्राणों (सघोष) तथा 'ह' का उच्चारण अविकृत रहता है, खड़ी बोली आदि वर्ग में 'श, ष, स' आदि तीनो ध्वनियाँ मिलती हैं, जबकि ब्रजभाषा वाले वर्ग में तीनों के स्थान पर केवल 'स' ही मिलता है। 'स' का 'ह' हो जाने के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं, विशेषकर संख्या वाचक शब्दों में। खड़ी बोली वर्ग मे 'ड़' की जगह 'ड' और ब्रजभाषा

वर्ग में 'ड' की जगह 'र' उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार औकारान्त भाषाओं में विशेषकर व्रजभाषा मे 'ण' की जगह 'न' बोला जाता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार महाप्राण ध्वनियो का अल्पप्राणीकृत उच्चारण भी पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। तत्सम शब्दावली का आधिक्य होने के कारण संस्कृत उच्चारणो को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है।

रूप तत्त्व—पश्चिमी हिन्दी मे दो लिङ्ग और दो वचन पाये जाते हैं। खड़ी बोली वर्ग मे बहुवचन के लिए मुख्यत. ए, ओ, याँ तथा यो प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। व्रजभाषा वर्ग मे 'एँ और अन' का प्रयोग किया जाता है। कही-कही 'इन' का प्रयोग भी दिखाई देता है। स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए 'इन ई, आ, तथा इया' प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। कारक, ऋजु और तिर्यक् अवस्थाओ मे मिलते है। पश्चिमी हिन्दी के परसर्ग अत्यन्त सरल हैं—कर्ता 'ने'; कर्म व सम्प्रदान 'को' सम्बन्ध 'का, के, की' आदि परसर्ग विशिष्ट हैं। स्वरान्त विशेषण विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार तो बदलते हैं, किन्तु वचन के कारण उन पर सर्वत्र प्रभाव नही पड़ता। व्रजभाषा के 'हौं' को छोड़कर समस्त प्रदेश में प्राय: समान शब्द-रूपो का प्रयोग होता है। क्रिया मे सहायक क्रियाओ से विशेष काम लिया जाता है। वर्तमान काल मे 'हैं हूँ है' के साथ भूतकाल मे 'था थे थीं' तथा 'हतो एव भविष्यत् काल मे 'गा, गे गी' लगाए जाते हैं। पूर्वकालिक क्रिया में 'इ' और क्रियार्थक संज्ञा मे 'अन, अण' प्रत्यय लगाए जाते है। सभी कालों की निष्पत्ति प्राय. कृदन्त रूपो से की जाती है। सर्वनामो के प्रयोग मे क्रिया में परिवर्तन नही देखा जाता। जैसे—वह गया, मैं गया, तू गया। संक्षेप मे कह सकते हैं कि पश्चिमी हिन्दी का व्याकरण अन्य नभाआ की भाषाओं की तुलना मे अत्यन्त सरल एवं सक्षिप्त है। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार हिन्दी का व्याकरण एक पोस्ट-कार्ड पर सरलता से आ सकता है।

पूर्वी हिन्दी :

मध्यदेश की भाषा को विद्वानो ने दो भागो मे विभाजित किया है—१. पश्चिमी हिन्दी २. पूर्वी हिन्दी। विद्वान् पूर्वी हिन्दी को कतिपय कारणों से पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत न रखकर उसे उसके समानान्तर रखते है। इसका कारण सम्भवत: भिन्न उद्गम स्थल तथा अन्य भाषा वैज्ञानिक अन्तर ही हो सकता है। पूर्वी हिन्दी का उद्गम अर्ध-मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या चार करोड के लगभग है।

सीमाएँ—पूर्वी हिन्दी उत्तर प्रदेश, बघेल खण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश तक फैली हुई है। हरदोई तथा फैजाबाद के कुछ भाग को छोड़कर समस्त अवध प्रदेश पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत आता है। बनारस तथा हमीरपुर

के कुछ भागों मे भी यह बोली जाती है। इसके पूर्व मे विहारी, पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी, उत्तर में पहाडी भाषाएँ तथा दक्षिण में उडिया बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ आती हैं—अवधी, बघेली और छत्तीस गढी। इनमे अवधी सामान्यतः साहित्य के लिए प्रयुक्त की जाती है। कुछ विद्वान् बघेली को स्वतन्त्र बोली स्वीकार करने को तैयार नही है। डॉ. ग्रियर्सन ने इसे पृथक् बोली माना है। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इसे पृथक् नही माना है। इसमे पर्याप्त मात्रा मे साहित्य मिलता है। सूफी सन्तो का हिन्दी साहित्य प्रायः कथ्य अवधी मे ही उपलब्ध होता है। तुलसीदास, बाबा रामचरणदास और महाराजा रघुराजसिंह का राम भक्ति साहित्य साहित्यिक अवधी मे लिखा गया है, जिसमे तत्सम शब्दावली की वहुलता है। आजकल अवधी मे साहित्य नही के वरावर लिखा जाता है। यहाँ के लोगो ने खड़ी बोली हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप मे स्वीकार कर लिया है।

भाषागत विशेषताएँ—अपभ्रंशगत 'ण, ड' ध्वनियो को छोड़कर प्रायः सभी ध्वनियाँ अवधी मे मिलती है। 'ए और ओ' का ह्रस्व उच्चारण यहाँ मिलता है। 'ण' के स्थान पर 'न' तथा 'ड' के स्थान पर 'र' मिलता है। 'स' को सुरक्षित रखा गया है। 'श, ष' के स्थान पर सर्वत्र 'स' मिलता है। हिन्दी 'ल' के स्थान पर भी प्राय 'र' देखने को मिलता है। 'य' का उच्चारण 'ज' तथा 'ए' की तरह और 'व' का उच्चारण 'ब' तथा 'उ' की तरह किया जाता है। 'ऐ और औ' का उच्चारण 'अइ और अउ' की तरह किया जाता है। महाप्राण सघोष ध्वनियो और 'ह' का उच्चारण शुद्ध एव स्पष्ट होता है। 'ज्ञ' के स्थान पर 'ग्य' मिलता है। 'क्ष' के लिए 'छ' और 'ख' दोनो का प्रयोग किया जाता है।

रूपगत विशेषताएँ—दो वचन और दो लिङ्ग मिलते है। वचन बदलते समय बहुवचन में 'ऐं' लगाया जाता है। कुछ भागो मे 'अन' का प्रयोग भी देखने मे आता है। कारक ऋजु और तिर्यक् रूप मे मिलते है। कर्ता मे परसर्ग का प्रयोग नही किया जाता। कर्म मे 'का, के' तथा सम्बन्ध मे 'केर' और अधिकरण मे 'माँ' परसर्ग का प्रयोग किया जाता है। अवधी मे अभी भी तिङन्त प्रत्यय शेष बचे हुए है। सर्वनामो मे अवधी मे 'मेरे, तेरे' के स्थान पर 'मोर, तोर' का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'हमार' का तिर्यक् रूप 'हमारे' होता है। वर्तमान काल की सहायक क्रिया के रूप मे 'है' के स्थान पर 'अहै, बाट, बाटै' मिलते है। भूतकाल मे कही-कही 'इ' लगता है तथा अघटमान अतीत के साथ 'इसि' प्रत्यय लगाया जाता है। भविष्यत् काल मे 'ह' और 'ब' दोनों प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। विशेषण और क्रिया का लिङ्ग भेद शिथिल है।

नेपाली :

नेपाल के शासक वर्ग की भाषा नेपाली या गोरखाली नाम से प्रसिद्ध है। गोरक्षक राजपूत जब वहाँ पहुँचे तो अपने साथ अपनी भाषा भी ले गए। इसमे बहुत अधिक साहित्य तो अब तक उपलब्ध नही हुआ है, पर भानुभट्ट की रामायण नेपाली काव्य ग्रन्थ है। आजकल इसे विकसित करने की ओर शासको का भी ध्यान गया है। आजकल के लेखको मे देवकोटा, थापा, पाण्डेय रुद्रराज, वालकृष्ण तथा भीमनिधि तिवारी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नेपाली मे व्रजभाषा की ध्वनियाँ पाई जाती है। सानुनासिकता अधिक पाई जाती है। पदान्त 'अ' का शुद्ध एव स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। कुमायूँनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पहाड़ी हिन्दी :

पहाड़ी हिन्दी की दो प्रमुख भाषाएँ है—१. कुमायूँनी, २. गढवाली। कुमायूँनी नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथोरागढ़ के जिलो मे तथा गढवाली, गढ़वाल, टिहरी, चमोली के जिले तथा उत्तर काशी के दक्षिणी भाग मे बोली जाती है। इन दोनो भाषाओं पर ही अनार्य भाषाओ का गम्भीर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूक्ष्म भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात् विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कुमायूँनी राजस्थानी-मारवाड़ी के और गढवाली पूर्वी राजस्थानी के समीप है। अतः डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन के विरुद्ध इसे स्वतन्त्र न मान कर राजस्थानी के अन्तर्गत ही गिना है। राजस्थानी की दो प्रमुख ध्वनियाँ 'ण, ल़' इसमे मिलती हैं। पुल्लिङ्ग शब्द भी ओकारान्त ही मिलते है। 'थे' परसर्ग का करण कारक मे प्रयोग राजस्थानी का ही प्रभाव है। इसके साथ ही भविष्यत् का 'ल' प्रत्यय और वर्तमान काल की 'छै' सहायक क्रिया राजस्थानी के ही परिवार की सूचना देती है। इसके अतिरिक्त 'ने' के स्थान पर 'ले' और 'को' के स्थान पर 'कणि' का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। गढ़वाली मे सम्बन्ध कारक मे 'रो, रा, री' का प्रयोग होता है। 'का के की' 'आ, ई' इत्यादि भी मिलते है। करण कारक मे 'से, ती, ते' के अतिरिक्त 'चै, चुलै, विटै' के प्रयोग भी मिलते है। दोनो ही भाषाओ मे केवल लोक गीत ही मिलते हैं।

कश्मीरी :

कश्मीर भारतीय सस्कृत के पण्डितो का गढ रहा है। कश्मीरी भाषा का उद्भव दरद भाषाओ से माना जाता है। लोगो का विश्वास है कि कश्मीरी का उद्भव पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। 'गुणाढ्य की वृहत् कथा' सम्भवतः पुरानी कश्मीरी मे ही लिखी गई हो। साहित्य नाम मात्र का ही मिलता है। मुसलमानो का आधिक्य होने के कारण यहाँ पर उर्दू भाषा का ही अधिकतर

प्रयोग किया जाता है। श्री ग्रियर्सन ने लल्ल कवि कृत 'लल्ला-वाक्यानि' का लन्दन से प्रकाशन करवाया था। यह कश्मीरी भाषा मे है। विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन समय में कश्मीरी मे साहित्य लिखा तो गया था, पर वह विलुप्त हो गया। आजकल भी इस भाषा के विकास पर कोई विशेष ध्यान नही दिया जा रहा है।

सिंहली :

डॉ. हरदेव बाहरी ने सिंहली भाषा को भी भारतीय आर्य परिवार की भाषा बताया है। आपके अनुसार तमिल और पालि से घुल-मिलकर जिस भाषा का विकास हुआ, वह सिंहली प्राकृत थी। इसका साहित्य दसवी शताब्दी से मिलता है। अभी इस भाषा पर पूर्ण अनुसन्धान करने की आवश्यकता है कि यह भाषा मूलतः द्रविड़ परिवार की है अथवा आर्य परिवार की।

हिन्दी और इसकी विभाषाएँ

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, एक संकुचित अर्थ में और दूसरा विस्तृत अर्थ में। संकुचित अर्थ में हिन्दी से अभिप्राय केवल खडी बोली, हिन्दी या नागरी हिन्दी से है, किन्तु जब विस्तृत अर्थ मे इसका प्रयोग किया जाता है, तब इससे अभिप्राय डॉ. ग्रियर्सन के शब्दो मे उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे नर्मदा तक के प्रदेश की साहित्यिक भाषा से है, जिसकी अनेक विभाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। सुविधा की दृष्टि से इसे पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी वर्गों मे विभाजित करते हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत १. खड़ी बोली, २ ब्रजभाषा, ३. बुन्देली, ४. बाँगरू, ५. कन्नौजी आदि विभाषाएँ एव बोलियाँ आती है। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत १. अवधी, २. बघेली, ३. छत्तीसगढ़ी आदि आती है। कतिपय विद्वानो के मतानुसार राजस्थानी एवं बिहारी की भोजपुरी, मगही तथा मैथिली भी हिन्दी की विभाषाएँ है। उपर्युक्त विभाषाओं एवं बोलियों मे खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा अवधी मे विपुल साहित्य है। अतः इनका भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व भी निर्विवाद है। खडी बोली का परिचय हम अग्रिम पृष्ठो मे विस्तार से दे रहे है। अतः यहाँ पर शेष विभाषाओं पर विचार करेंगे।

ब्रजभाषा :

यह ब्रज प्रदेश की भाषा है। 'ब्रज' शब्द संस्कृत 'व्रज' शब्द का तद्भव रूप है, जिसकी व्युत्पत्ति 'व्रज्' धातु के 'गमन' अर्थ से निष्पन्न होती है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का गायों का गमन, अर्थात् चरागाह या 'बाड़े' के अर्थ में प्रयोग हुआ है; यथा—'गाव उष्णामिव व्रज'।[2] हरिवंश पुराण मे इसका

---

[2] ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ७८।

प्रयोग प्रदेश विशेष के अर्थ मे हुआ है; यथा—'तद् व्रजस्थानमधिकम् 'शुशुभे काननावृत्ताम् ।'[3] आजकल मथुरा प्रदेश के आस-पास के प्रदेशो को व्रज मण्डल कहा जाता है ।

सीमाएँ—व्रजभाषा-भाषी क्षेत्र के उत्तर में खड़ी बोली तथा दक्षिण में बुन्देली बोली जाती है। इसके पूर्व में अवधी भाषा बोली जाती है तथा पश्चिम में राजस्थान की दो बोलियाँ, मेवाती और जयपुरी का क्षेत्र है। व्रजभाषाभाषी क्षेत्र मे मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायू, तथा बरेली के जिले आते है। हरियाणा के गुड़गाँव जिले का पूर्वी भाग तथा राजस्थान के धौलपुर, भरतपुर, करौली एव जयपुर जिले का पूर्वी भाग और मध्यप्रदेश के ग्वालियर जिले का पश्चिमी भाग भी व्रजभाषा क्षेत्र मे आते है। व्रजभाषा अनुमानतः डेढ करोड़ जनता के द्वारा बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—व्रजभाषा की लगभग पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं। नैनीताल की भुक्सा, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेली की अन्तर्वेदी, धौलपुर और पूर्वी जयपुर की डाँगी, गुडगाँव एव भरतपुर की मिश्रित तथा करौली की जादोवाटी आदि प्रमुख है।

व्रजभाषा साहित्य का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है। प्रवृत्तियो की दृष्टि से इसे तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है।

(१) प्राचीन काल—१४०० ई० से पूर्व का साहित्य।

(२) मध्यकाल—१४०० ई० से १८०० ई० तक।

(३) आधुनिक काल—१८०० ई० से आजतक।

प्राचीन काल मे कुछ विद्वानो के अनुसार बीसलदेव रासो सबसे प्राचीन कृति है जिसे कवि नरपति नाल्ह ने लिखी है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा इसे कतिपय भाषा वैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर राजस्थानी की कृति बताते है। द्वितीय पृथ्वीराज रासो है, पर उसकी प्रामाणिकता अभी तक सदिग्ध है। यही स्थिति जयमयक और जस चन्द्रिका तथा आल्ह खण्ड की है। सस्कृत पुस्तको मे कुछ व्रजभाषा के नमूने मिले है जिनका उल्लेख पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' नामक पुस्तिका मे किया है। इसी समय का गुरु गोरक्षनाथ लिखित गद्य भी व्रजभाषा मे उपलब्ध होता है, किन्तु उसे भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नही कहा जा सकता।

मध्यकाल मे पन्द्रहवी शताब्दी के बाद से लेकर अठारहवी शताब्दी के अन्त तक का व्रजभाषा का इतिहास अत्यन्त समृद्ध है। पुष्टिमार्ग के दो महान् कवि सूरदास और नन्ददास इसी समय मे हुए है। गद्य के क्षेत्र मे 'चौरासी

---

3 व्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ७८।

वैष्णवन की वार्ता' गोसाईं गोकुलनाथ कृत ब्रजभाषा का सर्वप्रथम प्रामाणिक गद्य कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेप छः कवियो का भी कम महत्त्व नही है। स्वामी हितहरिवंश, तुलसीदास, नाभादास, नरोत्तम दास आदि ने ब्रजभाषा मे रचनाएँ की हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे जो समय रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है, उसमें प्रायः समस्त कवियों ने ब्रजभाषा मे ही साहित्य साधना की है। विहारी, देव, भूपण, चिन्तामणि, भिखारीदास आदि का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

आधुनिक काल मे ब्रजभाषा मे साहित्य साधना तो होती है, पर कोई उल्लेखनीय कृति या कृतिकार अब तक उत्पन्न नही हो पाया है।

ब्रजभापा का भाषावैज्ञानिक विवेचन—

ध्वन्यामक विशेषताएँ—(१) ब्रजभापा मे अपभ्रश भापा मे प्राप्त सभी स्वर उपलब्ध होते है। इनके अतिरिक्त 'ऐ और औ' ध्वनियाँ भी मिलती हैं। इन सभी ध्वनियो के सानुनासिक और निरनुनासिक दोनो रूप ब्रजभापा मे मिलते है।

(२) प्रायः सभी अपभ्रश कालीन व्यञ्जन ब्रजभापा मे मिलते है। इनके अतिरिक्त 'रह्, न्ह, म्ह तथा ल्ह' ध्वनियाँ और भी है। तीन सकारो— 'श, ष, स'—मे से केवल 'स' मिलता है।

(३) 'ए और ओ' के ह्रस्व रूपो का प्रयोग भी ब्रजभाधा मे हुआ है। 'ऋ' के स्थान पर 'रि' अथवा 'इर' मिलते है।

(४) आदि व मध्यस्थ 'अ' के स्थान पर कभी-कभी 'इ' मिलता है, यथा— तस्य>तिस्स>तिसु

कपाट>कवाड़>किवाड

कायस्थ> X >काइथ

(५) ब्रजभाषा मे 'व' के स्थान पर 'म' का आदेश मिलता है।

पावैगे>पामैगे; आवतु>आम्तु।[1]

(६) आधुनिक ब्रजभाषा मे 'ण' के स्थान पर 'न' मिलता है। यदि 'ण लिखते भी है तो उसका उच्चारण 'न' जैसा ही होता है।

प्रवीण>प्रवीन (घ. क १); वेणु>वैन (घ क. ४)

तरुणी>तरुनि (वि. स ८१); चरण>चरन (वि. स. ११३)

(७) हिन्दी मे शब्द के अन्त मे जहाँ 'ड, ड़' ध्वनियाँ मिलती है, वहाँ ब्रजभाषा मे 'र' ध्वनि मिलती है।

पड़ा>पर्‍यो (वि. स. ६५); उघडी>उघरी (घ. क. १७)

---

[1] ब्रजभाषा—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४२।

(८) ब्रजभाषा मे 'ल' के स्थान पर 'र' का आदेश पाया जाता है—

उलझना>उरझत (वि. स. १६२); जलती>जरति (वि. स. १८४)

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) ब्रजभाषा में दो लिङ्ग—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग—तथा दो वचन—एक वचन और बहुवचन—मिलते है।

(२) खड़ी बोली हिन्दी की आकारान्त संज्ञाओं के स्थान पर ब्रजभाषा मे ओकारान्त संज्ञाएँ मिलती है।

लड़का>लड़को; तिनका>तिनको (सू म. ७), काला>कारो (सू.)

(३) ब्रजभाषा में कर्ता बहुवचन मे 'न, नि', कर्म एक वचन और बहुवचन मे 'हि, हि', करण एक वचन में 'हिं', सम्बन्ध एक वचन मे 'ह' तथा अधिकरण मे 'हि, इ, एँ' आदि विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट है।

दृगनि (वि स. ८१); पुजनि (घ. क. ४२); श्रवनन (भ्रमर गीतसार ७२); कैमासहि (रा. वार्ता ५); तिन्हहिं (छि. वा. १४१); ताहि (भ्र. गी. सा. १७), तिनहिं (वि. स. ३४)।

(४) ब्रजभाषा मे कर्ता के लिए 'ने', कर्म—'कौ कू', करण—सौ, सन, तई, तैं, सम्प्रदान—कहँ, ताई, हेत, लगि, कारण आदि, अपादान—हुँती, तैं, सैं, सम्बन्ध—कउ, का, के, की, अधिकरण—माँहि, माँझि मे, माँ आदि अनुसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(५) ब्रजभाषा मे प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिए 'अ, आ, आउ, व' आदि प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है—'चलइऔ, चलाइ, चलाइहै, चलाउँगो, चलबाइ, चल्वाओ।'[5]

(६) वर्तमानकालिक कृदन्त में 'त, त्' प्रत्यय लगाए जाते है तथा भूतकालिक कृदन्त मे 'ओ, यो, ए' प्रत्यय लगाए जाते हैं।

(७) ब्रजभाषा मे क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'ब तथा न' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

बुन्देली :

बुन्देली समस्त बुन्देलखण्ड की भाषा है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे बुन्देलखण्डी भी कहते है। डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार इण्डिया गजेटियर मे बुन्देलखण्ड की जो सीमाएँ निर्धारित की गई है, वे भाषा की दृष्टि से ठीक नही उतरती। उक्त सीमा मे आवद्ध कुछ स्थानो मे बुन्देली नही बोली जाती और कुछ स्थान ऐसे है जहाँ बुन्देली बोली जाती है, किन्तु उन्हे बुन्देलखण्ड मे सम्मिलित नही किया गया।

सीमाएँ—बुन्देली के पूर्व मे पूर्वी हिन्दी की बघेली बोली बोली जाती है।

---

[5] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा—ब्रजभाषा, पृष्ठ ६२।

इसके उत्तर-पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा और कन्नौजी बोली जाती है। इसके दक्षिण में मराठी और दक्षिण-पश्चिम मे राजस्थानी भाषा का क्षेत्र है। बुन्देली भाषा-भाषी जनो की सख्या लगभग एक करोड है।

बोलियाँ और साहित्य—बुन्देली की कोई विशिष्ट बोलियाँ नही है। न्यूनाधिक अन्तर के साथ सारे प्रदेश मे प्राय. एक ही भाषा का समान रूप से प्रयोग किया जाता है, फिर भी स्थानीय प्रभावो से युक्त बोलियाँ इस प्रकार है—पँवारी बोली ग्वालियर के उत्तर-पूर्व, दतिया तथा उसके पड़ोस मे बोली जाती है। पँवार राजपूतो की प्रधानता के कारण इसे पँवारी कहते है। लोधान्ती अथवा राठौडी, हमीरपुर के राठ परगने तथा जालौन के आस-पास मे बोली जाती है। बुन्देली की खटोला बुन्देलखण्ड के आस-पाल बोली जाती है। ब्रजभाषा का साहित्य मे प्राधान्य हो जाने के कारण बुन्देली मे साहित्य नही लिखा गया। बुन्देलखण्ड के प्रतिभाशाली कवियो ने ब्रज अथवा अवधी मे ही साहित्य-सृजन किया है; यथा—तुलसी, केशव, मतिराम, ठाकुर, पद्माकर आदि। विद्वानो का विश्वास है कि आल्हखण्ड मूलत· बुन्देली मे ही लिखा गया होगा, किन्तु वर्तमान समय मे उसका अत्यन्त विकृत रूप उपलब्ध होता है। केशव की रामचन्द्रिका मे बुन्देली का प्रभाव यत्र तत्र दृष्टिगत होता है। लाल कवि के छत्रप्रकाश मे बुन्देली का पर्याप्त मात्रा मे प्रभाव देखने को मिलता है। वैसे बुन्देली भाषा का प्रभाव महाराष्ट्र प्रदेश तक भली-भाँति चिह्नित किया जा सकता है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) ब्रजभाषा मे पाये जाने वाले सभी स्वर बुन्देली मे मिलते है। जब प्यार सूचक 'या, पा' प्रत्यय शब्द के जोडा जाता है तब आद्य 'ए' का 'इ' और 'ओ' का 'उ' हो जाता है; यथा—बेटी>बिटिया, घोरा>घुरवा।

(२) ब्रजभाषा के 'ऐ तथा औ' क्रमशः 'ए तथा औ' मे परिणित हो जाते है।

(३) व्यञ्जनो के क्षेत्र मे ब्रजभाषा की 'ड़' ध्वनि बुन्देली मे नही मिलती, इसके स्थान पर 'र' मिलता है, यथा—

पड़ो>परो, दौड़>दोर, झगड़ो>झगरो, छोड़ो>छोरो।

(४) डॉ. तिवारी के अनुसार बुन्देली मे जब 'आ' के बाद 'ह' आता है तो 'ह्' का लोप हो जाता है तथा अवशिष्ट 'अ', 'उ' मे बदल जाता है, यथा—चाहत>चाउत। अन्य स्थानो पर 'ह्' का लोप पाया जाता है; यथा—रहि-के>रइ-के, बहुत>भउत, रहती है>रअती है।

(५) शब्द के आदि मे स्थित 'य' को 'ज' का आदेश हो जाता है; यथा—ये>जे।

(६) पद के आदि मे आने वाला 'व' 'ब' मे परिणित हो जाता है।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) बुन्देली मे ब्रजभापा की इकरान्त और उकारान्त संज्ञाओ का अभाव है; तथा—घरु>घर, सौति>सौत।

(२) ब्रजभापा के ओकारान्त संज्ञा शब्द वाकारान्त और इकारान्त सज्ञा शब्द याकारान्त मिलते है; यथा—

घोडो>घुरवा, वेटी>बिटिया। कही-कही 'इवा' अन्त शब्द भी मिलते है; यथा—बिल्ली>बिलइवा, चिडिया>चिरइवा।

(३) बुन्देली मे तिर्यक् बहुवचन मे ब्रजभापा की तरह 'इन, इनि' के स्थान पर केवल 'न्' का प्रयोग मिलता है; यथा—घोड़े>घोरन्, चाकर> चाकरन्, लोरो>लोरन्।

(४) बुन्देली मे कर्ता के लिए 'ने, ने, कर्म मे 'को, खो', सम्प्रदान मे 'को, खो', अपादान मे 'से, से, सो', सम्बन्ध में 'को, के, की, खो' तथा अधिकरण मे 'मे, मैं' आदि अनुसर्गो का प्रयोग किया जाता है।

(५) उत्तम पुरुष सर्वनाम मे 'मैं' के साथ-साथ 'हो' का प्रयोग भी किया जाता है तथा 'अपना' के स्थान पर 'अपनो' एव 'आप' के स्थान पर सम्प्रदान मे 'अपन-खो' का प्रयोग मिलता है।

(६) वर्तमान कालिक सहायक क्रिया 'हूँ' के लिए 'आऊँ, आव तथा 'है' के लिए 'आँय' का एव 'है' के लिए 'आय' का प्रयोग किया जाता है।

(७) भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' के लिए 'हतो, तो', 'थी' के लिए 'हती, ती, 'थे' के लिए 'हते, ते' तथा 'थी' के लिए 'हती' 'ती' का प्रयोग किया जाता है।

(८) भविष्यत् कालिक सहायक क्रिया 'गा' के लिए 'हो', 'गे' के लिए 'हे' (उत्तम पुरुष) मध्यम पुरुष मे 'गा' के लिए 'हे', 'गे' के लिए 'हो' तथा अन्य पुरुष मे 'गा' के लिए 'हे' और 'गे' के लिए 'हे' का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त भविष्यत् काल मे 'गो, गे, गी और गी' के प्रयोग भी मिलते है।

(९) पूर्वकालिक क्रियाओ का निर्माण क्रिया (मूलधातु) के साथ 'क' लगाकर किया जाता है; यथा—करके, मारके, चलके।

(१०) अकर्मक भूतकालिक क्रियाओ के साथ भी बुन्देली मे 'ने' अनुसर्ग का प्रयोग किया जाता है, जबकि खड़ी बोली हिन्दी मे ऐसी स्थिति मे 'ने' का प्रयोग नही होता; यथा—वह चाहता था>वा ने चाउत-तो, वह बैठा>वा ने बैठा।

(११) क्रियार्थक संज्ञा के लिए दो प्रत्ययो 'बौ, नै' का प्रयोग किया जाता है; यथा—मारबौ, मारनै आदि।

कोष—हिन्दी के अनेक ऐसे शब्द है जिनका बुन्देली मे भिन्न अर्थों मे

प्रयोग किया जाता है; यथा—दादा-पितामह (हिन्दी), पिता (बुन्देली), बुवा—पिता की बहन (हिन्दी)—मौसी (बुन्देली)।

कन्नौजी :-

कान्यकुब्ज किसी समय प्रदेश-विशेष का ही नाम था। अब कन्नौज केवल एक सीमित स्थान का ही सूचक है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. ग्रियर्सन के इस मत से सहमत नही है कि कन्नौजी ब्रजभाषा से कोई भिन्न भाषा है। अत. उन्होंने ब्रजभाषा-ग्रन्थ मे कन्नौजी का विवेचन ब्रजभाषा के ही अन्तर्गत किया है।

सीमाएँ—कन्नौजी के पूर्व मे कानपुर, दक्षिण मे यमुना नदी, उत्तर मे गंगा पार हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत और पश्चिम मे मथुरा मण्डल तक इसका क्षेत्र है। कन्नौजी के उत्तर-पश्चिम मे ब्रजभाषा तथा दक्षिण में बुन्देली बोली जाती है और पूर्व मे अवधी भाषा का क्षेत्र है। इसके बोलने वालों की सख्या लगभग साठ-पैंसठ लाख है।

बोलियाँ और साहित्य—कन्नौजी का क्षेत्र सीमित होने के कारण अधिक बोलियों के लिए इसमे अवकाश नही है, फिर भी तिरहारी इसकी प्रमुख बोली है। इसमे साहित्य नाम मात्र को भी नही है। हाँ, लोक साहित्य का प्रकाशन अवश्य अभी-अभी किया गया है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) ब्रजभाषा और कन्नौजी की वर्णमाला मे कोई अन्तर नही है। ब्रजभाषा के सभी स्वर और व्यञ्जन इसमे उपलब्ध हैं।

(२) ब्रजभाषा की तुलना कन्नौजी मे 'ऐ, औ' की अपेक्षा 'ए, ओ' का प्रयोग अधिक मिलता है; यथा—बडो, गओ, चलो।

(३) कन्नौजी मे स्वर मध्यस्थ 'ह' का लोप हो जाता है; यथा—कहिहौ>कैह्यौ।

(४) कन्नौजी मे ब्रजभाषा की 'य, व' श्रुतियो का अभाव पाया जाता है; यथा—गयो, (ब्रज) गओ (कन्नौजी), भवो/भयो (ब्र०) भओ।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) कन्नौजी मे दो लिङ्ग तथा दो वचन होते है। इसमे आकारान्त शब्द बहुवचन मे तिर्यक् रूप मे एकारान्त न होकर आकारान्त ही रहते है; यथा—लरिका, लरिका-को (बहु० व०)।

(२) कन्नौजी में कर्ता में 'ने', कर्म, सम्प्रदान मे 'को, काँ', करण, अपादान मे से, सेती, सन्, ते, करि, करि-के', सम्बन्ध मे 'को, के, की' तथा अधिकरण में 'माँ, मैं, मौ, पर, लौं' आदि परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(३) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया हिन्दी की तरह 'हूँ, है, हैं' आदि ही है।

(४) भूतकालिक सहायक क्रिया के रूप मे 'था, थे, थी' के साथ-साथ 'हतो, हती, हते, हती' का प्रयोग भी मिलता है।

(५) भविष्यत् कालिक सहायक क्रियाओं मे 'गा, गे, गी' के साथ-साथ 'है' युक्त क्रियाओ का प्रयोग भी कन्नौजी मे किया जाता है।

(६) पूर्वकालिक क्रिया की निष्पन्नता 'के' का धातु के साथ प्रयोग कर की जाती है, यथा—मारके/मारिके।

बाँगरू अथवा हरियाणवी :

यह बाँगर प्रदेश की वोली है। इस क्षेत्र मे 'बाँगर' शव्द का प्रचलन अधिक नही है। इस प्रदेश के लिए 'हरियाणा' शव्द अधिक लोक-प्रिय है। राजनैतिक दृष्टि से हरियाणा मे गुड़गाँव तथा महेन्द्रगढ जिला भी सम्मिलित है, पर भापा की दृष्टि से ये दोनो जिले राजस्थानी भाषा की 'मेवाती और अहीरवाटी' के अन्तर्गत आते है।

सीमाएँ—बाँगरु के अन्तर्गत दिल्ली प्रदेश, रोहतक और करनाल के पूरे जिले, जीद, हिसार का पूर्वी भाग, नाभा और पटियाला के दक्षिण भाग आते है। इसके उत्तर मे अम्वाला दक्षिण मे गुडगाँव, पश्चिम मे पटियाला और पूर्व मे यमुना नदी का दोआव आता है। इस प्रकार इसके उत्तर-पश्चिम मे पजाबी भाषा, पूर्व मे खड़ी वोली और दक्षिण-पश्चिम मे मेवाती एव राजस्थानी (मारवाड़ी) आदि भाषाएँ वोली जाती है। इस भाषा के वोलने वालों की जनसंख्या लगभग ४०–४५ लाख है।

वोलियाँ और साहित्य—हरियाणवी/वाँगरू क्षेत्र सीमित होने के कारण इसमे अधिक वोलियाँ नही हैं। रोहतक के आस-पास की वोली को 'जाटू' या हरियाणवी कहते है। चरखी दादरी के आस-पास की बोली मे अहीरवाटी का मिश्रण देखने को मिलता है। वास्तव मे हरियाणा प्रदेश की वोलियाँ जातिगति विशेपताओ से अधिक प्रभावित है। (१) जाटो की बोली—जो बाँगरू की प्रमुख वोली कही जा सकती है। (२) अहीरो की वोली—जो जाटू और अहीरवाटी का अच्छा मिश्रण कही जा सकती है, यथा—रोहतक के आस-पास का व्यक्ति 'कहाँ' के लिए 'कड़ै' शव्द का प्रयोग करेगा, अहीर 'कित', और ब्राह्मण, वैश्य प्राय 'कठै' शव्द का जो राजस्थानी मारवाडी शव्द है, प्रयोग करेगा। 'झज्झर' के आस-पास के लोग 'किग्घै' शव्द का इसके लिए प्रयोग करते है। इसके साथ-साथ चमारों की वोली इनसे भिन्न है। ये लोग 'ड' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग करते है। तोडेगा क्या ? वाक्य जाट लोग कहेगे 'तोडैगा के', अहीर 'तोड़ागो के' और चमार आदि जातियाँ 'तोलागो के' आदि कहेगे। अतः 'हरियाणवी' का समाज-शास्त्रीय अथवा जातीय परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन करना परमावश्यक है। मजेदार वात तो यह है कि रेवाडी, महेन्द्रगढ, और नारनौल तीनो स्थानो की वोलियो मे एक तात्त्विक अन्तर है, जिसका अध्ययन भाषा-वैज्ञानिको के लिए वड़ा मनोरञ्जक हो सकता है।

हरियाणवी मे उत्कृष्ट साहित्य का नितान्त अभाव है, पर इसके लोक गीत एवं लोक कथाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। श्री रणधावा ने हरियाणा के लोक गीतो का एक अच्छा संकलन प्रकाशित किया है तथा श्री शंकरलाल यादव का लोक गीतो पर लिखा गया शोध-ग्रन्थ उल्लेखनीय रचना है। आधुनिक लोक-गीतकारो मे श्री रामानन्द, पं० लखमीचन्द तथा भीष्म आर्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लोक गीत का एक उदाहरण लीजिये जिसमे एक सैनिक का अपनी पत्नी के प्रति कैसा मार्मिक उद्गार है—

"छुट्टी के दिन पूरे हो गे, सिहापुर नैं जाणा होगा।
मेरे नाम की चूडी करदे, वेरा न कद आणा होगा॥"

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) वाँगरू मे प्राय: वे सब ध्वनियाँ वर्तमान हैं जो खडी वोली हिन्दी मे पायी जाती है।

(२) खडी वोली हिन्दी के अन्त्य 'न' को 'ण' उच्चारण करने को प्रवृत्ति वाँगरू में उपलब्ध होती है; यथा—अपना>अपणा, आना>आणा, जाना> जाणा।

(३) वाँगरू मे 'ल' का उच्चारण 'ल' की तरह होता है, पर जब 'ल' द्वित्व होकर आता है तो इसका उच्चारण 'दन्त्य' ही होता है। वाँगरू की [illegible] वात और विचारणीय है कि 'ल' को सर्वत्र 'ल' नही होता, यथा—'घोलना' मे 'ल' को 'ल़' का उच्चारण किया जाता है, यथा—'घोल़ना', पर 'चलना' का 'चल़णा' उच्चारण वाँगरू मे नही होता। इसी प्रकार 'पालना' का 'पाल़णा' हो जाता है, पर 'हालना' का 'हालणा' ही उच्चरित किया जाता है।

(४) 'ड' का वाँगरू मे अधिकाशत: 'ड' उच्चारण किया जाता है; यथा—वडा>वड्डा, गड़ना>गडणा आदि। स्वार्थिक 'ड' प्रत्यय (राजस्थानी) वाँगरू मे मिलता है। तद्धित मे 'ड' प्रत्यय का प्रयोग वाँगरू मे मिलता है; यथा—वड्ड्योडो, वढ्योडो। इसी प्रत्यय का प्रयोग कृदन्त रूप मे भी मिलता है, यथा—कह्योडो/डा, घड्योडा।

(५) वाँगरू मे हिन्दी क्रियाओ के 'त' के स्थान पर पंजावी के अनुकरण पर 'द' मिलता है। भिवानी के आस-पास के गाँवो मे इसका विशेष प्रयोग देखा जाता है; यथा—खाता>खाँदा, जाता<जाँदा, पर कहता का कहँदा नही होता।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) हरियाणवी/वाँगरू मे संज्ञा शब्द व्रजभाषा की तरह ओकारान्त न होकर आकारान्त ही होते है; यथा—घोड़ा, लड़का, पैसा आदि।

(२) वाँगरू मे तिर्यक् वहुवचन के रूपो मे खड़ी वोली हिन्दी के 'ओकारान्त' रूपो का अनुसरण न करके राजस्थानी 'आँकारान्त' रूपो का ही

अनुकरण दृष्टिगत होता है; यथा—(एकवचन) घोड़ा>घोड़ाँ, (बहुवचन) जैसा घोड़ाँ कै मारो, न कि घोड़ो को मारो।

(एकवचन) दिन>दिनाँ, (बहुवचन), जैसे कई दिनाँ तै कोनी मिल्या।

(३) बाँगरू मे कर्ता मे 'ने', नै', कर्म मे 'ने, नै, को, करण में 'सै, सेती, सै', सम्प्रदान मे 'नै, खातिर', अपादान मे 'ती, तै, ते (ये परसर्ग करण मे भी प्रयुक्त होते है), सम्बन्ध में 'का, के, की, को' तथा अधिकरण मे 'मै, मे, माँ, माँह, पर' आदि परसर्गो का प्रयोग किया जाता है।

(४) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'है' के स्थान पर 'सै', 'हो' के स्थान पर 'सो', 'है' के स्थान पर 'सै, साँ' तथा 'हूँ' के स्थान पर 'सूँ' के प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(५) भूतकालिक सहायक क्रिया मे खड़ी बोली के 'थो, था, थी, थे, थीं' आदि का ही प्रयोग किया जाता है।

(६) भविष्यत् कालिक क्रिया के रूप भी हिन्दी की तरह 'गा, गे गी' से सम्पन्न होते है।

(७) क्रियार्थक सज्ञा की निष्पन्नता 'अण' प्रत्यय की सहायता से ही की जाती है, यथा—मरणा>मरण, रोणा>रोण, चलणा>चलण।

पूर्वी हिन्दी :

पश्चिमी हिन्दी और बिहारी के बीच के भू-भाग मे जो बोलियाँ बोली जाती है 'उन्हे पूर्वी हिन्दी' शीर्षक के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। पूर्वी हिन्दी के उत्तर मे पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम मे बुन्देली एव कन्नौजी, पूर्व मे बिहारी एव नागपुर की बोलियाँ तथा दक्षिण मे महाराष्ट्री भाषाएँ बोली जाती है। इस प्रकार पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश का भू-भाग, बघेलखण्ड बुन्देल का कुछ भाग, छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग आते है। मध्यप्रदेश के जबलपुर, मण्डला तथा छत्तीसगढ के जिले पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत आते है। पूर्वी हिन्दी की तीन प्रमुख बोलियाँ है—(१) अवधी, (२) बघेली तथा (३) छत्तीसगढ़ी। डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार 'भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अवधी और बघेली मे कोई विशेष अन्तर नही है। डॉ. ग्रियर्सन ने केवल जनता की भावना के आधार पर ही इसे पृथक् बोली के रूप मे स्वीकार किया है। छत्तीसगढ़ी को आपने महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण अवश्य पृथक् बोली स्वीकार किया है।[6] इन तीनो विभाषाओ मे अवधी ही एक सुसम्पन्न विभाषा है।

---

[6] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ २६४।

अवधी :

अवधी से अवध नगर की भाषा का तात्पर्य कदापि नही लेना चाहिए। अयोध्या का अपभ्रंश अवध है। यह नगर इस भाषा क्षेत्र का केन्द्र स्थल होने के कारण इसे अवधी कहते है। कुछ विद्वान् इसे कोशली तथा कुछ वैसवाटी भी कहते है। अधिकाश विद्वानो के मत से इस भाषा का अवधी नाम ही अधिक उपयुक्त है।

सीमाएँ—अवधी के उत्तर मे पहाडी भाषाएँ, दक्षिण मे महाराष्ट्री, पूर्व में बिहारी की उपभाषा भोजपुरी तथा पश्चिम मे बुन्देली और कन्नौजी बोलियां बोली जाती है। इस प्रकार हरदोई ज़िले को छोड कर समस्त अवध का क्षेत्र अर्थात् लखीमपुर खीरी, बहराइच, गोडा, बारहबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फैजाबाद, सुलतानपुर, रायबरेली के इलाके आते है। जौनपुर और मिर्जापुर के पश्चिमी भाग तथा फतेहपुर और इलाहाबाद में भी अवधी बोली जाती है। इसके बोलने वालों की सख्या लगभग दो करोड है।

बोलियाँ और साहित्य—डॉ. बाबूराम सक्सेना ने अवधी की तीन विभाषाएँ बताई है—(१) पश्चिमी, (२) केन्द्रीय और (३) पूर्वी। खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर की अवधी को पश्चिमी विभाषा कहेगे। बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की अवधी को केन्द्रीय विभाषा कहते है। गोडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर की अवधी को पूर्वी विभाषा कहेगे।

जहाँ तक अवधी के साहित्य का सम्बन्ध है, वह प्रचुर मात्रा में है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की दो शाखाएँ—प्रेममार्गी शाखा और राम-भक्ति शाखा का समस्त साहित्य इसी भाषा मे लिखा गया है। प्रेममार्गी शाखा के कुतबन, मझन, जायसी और उसमान और नूर मुहम्मद उत्कृष्ट कोटि के कलाकार है। इनमे भी जायसी कृत 'पद्मावत' महाकाव्य हिन्दी साहित्य के महाकाव्यो मे अपना तृतीय स्थान रखता है। रामभक्ति शाखा मे हिन्दी साहित्य के कवि-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लोक-विश्रुत तथा भारतीय जनता के गले का हार 'रामचरित मानस' तुलसीदासजी द्वारा इसी भाषा मे लिखा गया है। बात यह है कि इस भाषा मे साहित्य-सर्जना आँधी की तरह प्रारम्भ हुई और तूफान की तरह बन्द हो गई। आज-कल पुन अवधी मे साहित्य लिखने की ओर कुछ लोग उन्मुख हुए है जिनमे वशीधर और रमई काका के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) अवधी मे प्रायः वे सभी स्वर ध्वनियाँ पाई जाती है जो खड़ी बोली मे है, परन्तु अवधी मे 'ए, ओ' का ह्रस्व रूप भी

मिलता है जो खड़ी बोली मे नही है, यथा— **एतना** कहत नीति रस भूला। (रामचरित मानस, अयो कां. २२९/३)

केहि **सोहाति** रथ वाजि-गजाली। (मानस, अ. कां २२८/४)

(२) 'ऐ और औ' को 'अइ तथा अउ' लिखने एवं उच्चारण करने की प्रवृत्ति अवधी भाषा मे लक्षित होती है; यथा—जइसे, अउरत, सराहइ (मा. अ. १९/२), परउ (मा. अ. २१), सकउ (मा. अ. २१)।

(३) अवधी मे 'य और व' श्रुतियो का अभाव मिलता है; यथा—जिआवत (मा. अ. २०/१) (हिन्दी जिवाना); छुअत (मा. अ. २८/२); छुवत (हि.); करिअ (मा. अ. ३९/३); करिये (हि); गनिअ (मा अ का. ४१/१); गिणिये (हि)।

(४) अवधी में 'ण' के स्थान पर 'न' पाया जाता है। यद्यपि तत्सम शब्दावली मे 'ण' लिखा जाता है, तो भी उसका उच्चारण अवधी मे 'न' की तरह ही किया जाता है, यथा—चरण>चरन (मा अ ४३/१); मणि>मनि (मा अ. का. ४३/१), प्राण>प्रान (मा अ का ४५/१)।

(५) अवधी मे 'ड' के स्थान पर प्राय. 'र' मिलता है। कुछ विद्वानो के मत मे अवधी मे 'ड, ढ' के स्थान पर 'ड़, ढ' ध्वनियाँ मिलती है। उघडते है>उघरहिं (मा. वा ५/४), जोड कर>जोरि (मा. वा ७ ग), जुडती> जुरइ (मा वा. ७/४); थोड़े मे>थोरेमहुँ (मा. वा ११/३); पर रामचरित मानस मे मैंने देखा है कि 'ड़' ध्वनि का प्रयोग भी हुआ है, वहाँ 'ड' को 'र' नही हुआ; यथा—

'वड़' (मा. वा ८); छाडि (मा. वा ७/२); वड़े (मा वा ५/३) जड (मा. वा ११/४); उड़ाही (मानस बा. ११/६)।

(६) 'व' ध्वनि अवधी मे 'व' की तरह उच्चरित होती है तथा 'व' 'उ और ओ' मे भी परिवर्तित हो जाता है, यथा—

विधि>बिधि (मा बा ५/२); वारि>बारि (मा वा. ६);
विकार>बिकार (मा वा. ६); वेश>वेष (मा. वा. ६/३);
विदित>बिदित (मा. वा. ६/४), वस्तु>बस्तु (मा वा. ७);
प्रभाव>प्रभाउ (मा वा. १२/१); चाव>चाउ (मा. वा. १४/४)।

(७) अवधी मे 'य' के स्थान पर 'ज' का आदेश होता है तथा स्वर रूप मे 'इ' मे परिवर्तित हो जाती है, यथा—

सुयश>सुजस (मा. अ ३१२), अद्य>अज्ज>आजु (मा. अ ३१२/१); युग>जुग (मा. अ. ३१५/३), कार्य>काज (मा अ. ३१७/३)।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) अवधी मे प्रायः दो लिङ्ग और दो वचनो का प्रयोग किया जाता है। एकवचन से वहुवचन वनाने के लिए 'एँ' प्रत्यय

लगाया जाता है। तिर्यक् रूप एक वचन मे 'हिं और इँ' प्रत्यय जोड़े जाते है और बहुवचन बनाने के लिए 'न, न्ह, नि, न्हि' आदि प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है।

(२) अवधी मे पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए 'नि, इनि तथा आइनि' प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। कही-कही 'इया' प्रत्यय का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है, यथा—मौसा>मउसिया।

(३) अवधी में कर्ता 'परसर्ग रहित, सविभक्तिक या निर्विभक्तिक रहता है, कर्म के लिए 'का, क, का तथा कहुँ', करण-अपादान के लिए 'सउँ, सौ, ते, सेति, हुत', सम्प्रदान के लिए 'बरे, बदे', सम्बन्ध के लिए, के, कर, केर, क, को तथा अधिकरण के लिए 'मे, म, पर, महुँ, महँ, माँहा, माँझ आदि परसर्गो का प्रयोग किया जाता है।

(४) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के लिए 'आटे, बाटे, है तथा अहै' आदि शब्दो का प्रयोग अवधी मे किया जाता है।

(५) भूतकालिक सहायक क्रिया के लिए 'भए, रहे' आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

(६) भविष्यत् काल के लिए मूल धातु के साथ हिन्दी 'गा, गे, गी' के स्थान पर 'बूँ, ब, बे, बो तथा ह' प्रत्यय के विभिन्न विकृत रूपों का प्रयोग किया जाता है।

(७) पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'कै, के' का प्रयोग मूल क्रिया के साथ किया जाता है; यथा—देख-कै, देख-के।

(८) क्रियार्थक सज्ञा के लिए मूल धातु के साथ 'ब' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है; यथा—देखब, कहब, चलब, आदि।

(९) प्रेरणार्थक क्रिया 'आव' प्रत्यय की सहायता से निष्पन्न की जाती है; यथा—सुनार्वाहि, चलार्वाहि, डरार्वाहि, आदि। 'आए और ए' प्रत्ययो का प्रयोग भी अवधी मे लक्षित किया जा सकता है।

बघेली :

बघेलखण्ड मे बोली जाने के कारण इसका नाम बघेली या बघेलखण्डी पड़ा। सोलंकी राजा व्याघ्रदेव के नाम पर इस क्षेत्र का नाम बघेलखण्ड पडा। विद्वान् लोग भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इसे पृथक् बोली न मान कर अवधी की ही दक्षिणी उपशाखा कहते है। बघेलखण्ड के बाहर भी बघेली बोली जाती है।

सीमाएँ—इसके उत्तर मे मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमा, दक्षिण मे बालाघाट, पश्चिम मे दमोह और बाँदा की पूर्वी सीमा तथा पूर्व मे मिर्जापुर, बिलासपुर और छोटा नागपुर की पश्चिमी सीमाएँ आती है। इस प्रकार बघेली के उत्तर-दक्षिण मे अवधी भाषा, और भोजपुरी, पूर्व मे छत्तीसगढ़ी,

दक्षिण में मराठी तथा पश्चिम मे बुन्देलखण्डी बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ७० लाख है।

बोलियाँ और साहित्य—बघेली की दो प्रकार की बोलियाँ देखने में आती है। एक तो शुद्ध बघेली जो सम्पूर्ण बघेलखण्ड मे बोली जाती है और दूसरी मिश्रित बघेली जो समीपस्थ बोलियों से मिलाकर सीमान्तक क्षेत्रों में बोली जाती है। पश्चिम मे फतेहपुर, बाँदा तथा हमीरपुर मे मिश्रित बघेली बोली जाती है। इसमे बुन्देली का मिश्रण हुआ है। दक्षिण की मिश्रित बोली को मण्डला जिले की विभिन्न जातियाँ बोलती है, इसमें मराठी और बुन्देली का मिश्रण हुआ है। जालौन के आस-पास की बोली का नाम निवट्ठा है, इसमें बुन्देली की प्रधानता होने के कारण कुछ लोग इसे बुन्देली की बोली मानते है। इसमें ललित साहित्य का अभाव है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) अवधी में जहाँ 'व' का 'व' उच्चारण मिलता है, वहाँ 'व' ध्वनि की सुरक्षा भी अनेक स्थानों पर दृष्टिगत होती है, परन्तु बघेली में उक्त ध्वनि-सुरक्षा का प्राय: अभाव ही पाया जाता है; यथा—पावा>पाबा, आवा>आबा, आदि।

(२) बघेली मे आद्य-स्वर का लोप देखने में आता है; यथा—घोड़ा>घ्वाड; तुमरे>त्वारे; मोर>म्वार। उक्त नियम की निष्पन्नता यों भी की जा सकती है कि बघेली में 'उ, ओ', को 'वा' का आदेश हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरणो मे यह नियम अधिक अच्छी तरह घटित होता है।

शेष कार्य अवधी की तरह ही सम्पन्न होता है।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) बघेली में वचन और लिङ्ग की प्रक्रिया अवधी की तरह ही होती है।

(२) परसर्गों के क्षेत्र मे अवधी के परसर्गों के साथ-साथ कर्म, सम्प्रदान मे 'कहा और का', करण, अपादान मे 'से और तार', सम्बन्ध मे 'कर' और अधिकरण में 'म' अनुसर्गो का अतिरिक्त प्रयोग लक्षणीय है।

(३) सर्वनामो में 'म्वा, त्वा, वहि, यहि' आदि प्रयोग भी बघेली की अपनी विशेषताएँ है।

(४) विशेषणो मे भी मूल शब्द के साथ 'हा' प्रत्यय जोड़ देने की प्रवृत्ति बघेली मे पायी जाती है; यथा—निकहा।

(५) हिन्दी 'क्या' के स्थान पर बघेली मे 'काह' का प्रयोग किया जाता है।

(६) भूतकालिक सहायक क्रिया मे 'रहा और रहेन' के साथ-साथ बुन्देली 'ता और ते' भी मिलते है।

(७) क्रियार्थक संज्ञा मे 'ब' प्रत्यय के साथ-साथ 'मै' प्रत्यय का प्रयोग भी बघेली मे मिलता है; यथा—'चरामै का'।

(८) भविष्यत् कालिक क्रिया में 'व' प्रत्यय के साथ 'ह' प्रत्यय वाले प्रयोगो की प्रधानता है; यथा—जइहौ, कइहौ।

(६) वघेली मे अवधी 'होब' को 'भ'; 'जाब' को 'ग' का आदेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'देव' के स्थान पर 'दीन्ह'; 'लेब' के स्थान पर 'लीन्ह' और 'करव' के स्थान पर 'कीन्ह' जैसे प्रयोग मिलते है।

छत्तीसगढ़ी :

मध्यप्रदेश के निश्चित भूखण्ड को छत्तीसगढ़ कहा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस क्षेत्र मे कभी छत्तीस गढ़ थे, इसलिए इसे छत्तीस गढ कहा जाता है। कुछ का कहना है कि चेदि राजाओ के गढ यहाँ पर होने से इसे 'चेदीशगढ़' कहा जाता था। बाद में यह विकृत होकर छत्तीसगढ़ हो गया। दूसरा मत भापा-विज्ञान के अधिक समीप है। इस क्षेत्र की बोली को ही छत्तीसगढी कहते है। इसके अतिरिक्त इसे 'लरिया' और 'खल्टाही' भी कहते है। इसमे ललित साहित्य का सर्वथा अभाव है।

सीमाएँ—छत्तीसगढी के उत्तर मे पलामु, दक्षिण मे वस्तर, पश्चिम में बघेलखण्ड और पूर्व मे उडीसा प्रदेश आता है। इस प्रकार इसके उत्तर मे भोजपुरी, पूर्व मे उडिया, पश्चिम में बघेलखण्डी तथा दक्षिण मे हलवी बोली जाती है। अत· छत्तीसगढी के अन्तर्गत, सरगुजा, कोरिया, विलासपुर, रायगढ़, खैरागढ, रायपुर, नदगाँव, वालाघाट का पूर्वीभाग, सक्ति-सारगगढ के कुछ भाग, उदयपुर तथा जशपुर राज्य लिए जा सकते है। इसके वोलने वालों की सख्या लगभग ८० लाख है।

भाषा-वैज्ञानिक विशेषताएँ—(१) छत्तीसगढी मे महाप्राण ध्वनियों के प्रति विशेष आकर्पण की प्रवृत्ति लक्षित होती है; यथा—जन>झन, जात>झाथ, दौड>धौड़, कचहरी>कछेरी।

(२) 'स' के स्थान पर छत्तीसगढी में 'छ' का आदेश हुआ मिलता है; यथा—सीता>छीता, सात>छात।

(३) कर्म-सम्प्रदान मे 'का, ला, वर', करण-अपादान मे 'ले, से', सम्वन्ध मे 'के, अधिकरण में 'माँ' अनुसर्गो का प्रयोग किया जाता है।

(४) एकवचन से वहुवचन वनाने के लिए 'मन्' शब्द साथ जोड़ दिया जाता है। इसके लिए 'अन्' प्रत्यय का प्रयोग भी होता है।

(५) क्रियार्थक-सज्ञा 'ब' प्रत्यय से भी सम्पन्न होती है और 'अण' प्रत्यय से भी।

उपरिकथित व्रज, अवधी आदि हिन्दी की ही विभाषाये है और विस्तृत अर्थ में इन्हे मिलाकर 'हिन्दी भाषा' कहा जाता है।

नवम अध्याय

हिन्दी का उद्भव और विकास

मध्यदेश का महत्त्व—राष्ट्रभाषा की समस्या—संस्कृत, पालि, प्राकृत—मध्यदेश से सम्बद्ध—अपभ्रंश में पश्चिमी हिन्दी के उपकरण—ध्वन्यात्मक उपकरण—रूपात्मक उपकरण—नाम—आख्यात—उपसर्ग—प्रत्यय—हिन्दी शब्द निर्वचन—हिन्दी के प्रयोग एवं प्रारम्भ की कहानी—हिन्दी, उर्दू—समानता—विषमता।

हिन्दी का विकास

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा. ।।"

(मनुस्मृति द्वितीयाध्याय)

(इस देश के ब्राह्मणो से सारे जगत् के लोग अपना-अपना जीवन व्यतीत करने की रीति सीखे) भारत के ऐसे एक निस्पृह तपस्वी और महान् राजनयिक के ये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इससे पूर्व कि इसकी महत्ता पर विचार-विमर्श करे, यह आवश्यक है कि उस देश की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करले । मनु ने ही इस पुण्यभूमि की सीमाएँ इस प्रकार से दी है—

"हिमवत् विन्ध्ययोर्मध्य यत् प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश: प्रकीर्तित: ।।"

यही वह मध्य देश है जो शिक्षा और ज्ञान मे भारत का अग्रणी रहा है । इस स्थान का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है । आर्य जन जब सप्तसिन्धु प्रदेश से फैलते-फैलते आधुनिक बिहार तक पहुँच गए और इसी बीच वे अनेक अनार्य जातियो के सम्पर्क मे आए तथा जलवायु के अनापेक्षित प्रभाव से ग्रस्त हुये, तब आर्यो की महत्त्वपूर्ण भाषा 'छान्दस' का शुद्ध उच्चारण उनके लिए एक क्लिष्ट कार्य हो गया । दूसरे, कुछ सास्कृतिक एव धार्मिक मत-भेदो का भी प्रस्फुटन हुआ । परिणामत एक भाषा की समस्या आर्य परिवार के सामने आ उपस्थित हुई । यह पहला अवसर था कि आर्यों को एक बिल्कुल नवीन समस्या का साम्मुख्य करना पड़ा । प्राच्य जन जो छान्दस का शुद्ध उच्चारण करने मे असमर्थ थे तथा कुछ सीमा तक अपनी बोली के प्रति अभिमान का प्रदर्शन भी कर रहे थे (सम्भवत: ग्लानि को छुपाने हेतु) छान्दस भाषा को स्वीकार करने को तत्पर नही थे । इसमे ब्राह्मणो की धार्मिक कट्टरता भी एक कारण हो सकती है; क्योकि उपनिषदो मे उन्हे व्रात्य कहकर सम्बोधित किया गया है । ये व्रात्य इसलिए थे कि वैदिक धर्म मे दीक्षित नही हुए थे । इसलिए कुछ विद्वान् इन्हे आर्यों से भिन्न प्रजाति के जन मानते है । पर मै ऐसा समझता हूँ कि ये आर्यों की वह शाखा थी जो आलस्यवश ब्राह्मणो द्वारा निर्धारित धार्मिक कृत्यो एवं नियमों का पालन नही कर पा रही थी तथा अनार्यो के सम्पर्क ने उनकी इस प्रवृति को बढावा भी दिया था । खैर ! जो कुछ भी हो, पर एक सर्वमान्य भाषा की समस्या तो प्रस्तुत हो ही गई थी ।

उस समय तक छान्दस भाषा लगभग तीन रूपो मे विकसित हो चुकी थी जिनके उल्लेख एव प्रमाण प्राचीन वैदिक साहित्य मे यत्र-तत्र उपलब्ध हो

जाते है —१. पश्चिमोत्तरीय बोली, छान्दस भाषा के नियमो के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही थी और विकास के चिह्नो से कम से कम प्रभावित थी। २. प्राच्या, छान्दस से पर्याप्त मात्रा मे दूर जा चुकी थी। डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि प्राच्यो के लिए पश्चिमोत्तरीय प्रदेश की भाषा काफी दुर्बोध हो गई होगी। अनेक ध्वन्यात्मक परिवर्तनो की सूचना महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ मे दी है। ३ मध्यदेशीया उक्त दोनो के बीच मे एक बोली और पनप रही थी जो पश्चिमोत्तरी के समान छान्दस के समीप होते हुए भी कुछ विकास के चिह्नो से युक्त थी। छान्दस का 'र्त' प्राच्या मे यदि 'ट्ट' हो जाता है तो इसमे 'त्त' हुआ होगा। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि जब कभी भी किसी प्रदेश या राष्ट्र मे एक से अधिक भाषाएँ प्रकाश मे आती है, तब जनसम्पर्क भाषा का स्थान कौनसी भाषा ले—ऐसा विवाद आता ही है और उनका समाधान भी स्वाभाविक रूप से हो जाया करता है। अत उपरिकथित विवाद का हल इसी उदीच्य मध्यदेश की बोली से विकसित 'सस्कृत' भाषा के प्रादुर्भाव के साथ ही हो गया।'[1] गौतम बुद्ध जो अपने प्रवचनों को प्राच्या के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा मे लिपिबद्ध करने को प्रस्तुत नही थे, उनके अनुयायियो ने भी इस नवीन भाषा को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस भाषा को सम्भवत: ग्रहण करने का एकमात्र कारण मध्यदेशीय विद्वानो के प्रति शेष भारत खण्ड के जनो का अमित विश्वास एव श्रद्धा ही है, अन्य कुछ नही। इसीलिए प्रारम्भ मे मनु द्वारा प्रदत्त मध्य देश की प्रशस्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा गया है। क्योकि उसमे पूर्ण सत्य को उद्घाटित किया गया है, काल्पनिक गौरवगान नही। सस्कृत की स्वीकृति इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। डॉ चाटुर्ज्या के इस विषय पर विचार अत्यन्त विचारणीय है—मध्य प्रदेश वास्तव मे भारत का हृदय एव जीवन सचालन का केन्द्र स्थान था। वहाँ के निवासियो के हाथ मे, एक तरह से *अखिल भारतीय ब्राह्मणीय सस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था तथा* हिन्दू-जगत् के पवित्रतम देश के रूप मे मध्य देश की महत्ता सर्वत्र सर्वमान्य थी। परम्परा एव इतिहास द्वारा वर्णित सार्वभौम साम्राज्यो के केन्द्र मध्यदेश एव तन्निकटस्थ आर्यावर्त्त के अन्य क्षेत्रो मे ही रहे है।[2]

भाषा प्रसार की दृष्टि से मध्य देश का प्रभुत्व आजतक विकास की ओर ही उन्मुख है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो, पर मध्य देश की भाषा सस्कृत-काल से लेकर आज तक अखिल भारतीय जन-सम्पर्क की भाषा के गौरवमय पद से विभूषित होती रही है। समय अपनी अबाध गति से चलता रहा।

---

[1] डॉ. चाटुर्ज्या कृत भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १८५-८६।

[2] वही, पृष्ठ १९१।

संस्कृत ने भारत में ही नहीं, भारत से बाहर जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, चीन, इण्डोनेशिया, बर्मा तथा लंका तक प्रवेश प्राप्त कर लिया। वैयाकरणो ने भाषा की शुद्धता की सुरक्षा हेतु कठोर नियमो का विधान किया, साहित्य-कारों ने शब्दावली का अधिक परिमार्जन एवं परिष्करण कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वैज्ञानिको ने पारिभाषिक शब्दावली से इसके कोष को अक्षय किया। इन सब से भाषा मे नवीन शब्दावली का समावेश हुआ। वहाँ यह विद्वानो की एकमात्र निधि बनकर रह गई तथा जन-साधारण के लिए दुर्बोध होती चली गई और नवीन जन भाषाएँ रगमञ्च पर उपस्थित हुई। पुन भाषागत सघर्ष प्रारम्भ हुआ। जैनो और बौद्धों ने एक बार फिर प्राच्य भाषाओ को प्रश्रय दिया और उन्हे अखिल भारतीय भाषा बनाने का असफल प्रयास किया। अशोक के शासन काल तक ऐसा लगता है कि प्राच्य भाषाओ का प्रभुत्व रहा। अशोक के शिलालेखो की भाषाएँ उनके प्रभुत्व का सकेत देती है, पर जब इनसे काम चलता न देख बौद्ध भिक्षुओ को भगवान् तथागत के प्रवचनो को पुनः मध्यदेशीय भाषा पालि मे अनूदित करना पड़ा। इस प्रकार मागधी भाषा को मध्यदेशीय भाषा के लिए अपना सिंहासन जो कुछ समय के लिए हस्तगत कर लिया था, छोड़ना पड़ा। मध्यदेशीय पालि भी संस्कृत की तरह भारत की ही नही, अपितु लगभग समस्त एशिया (जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म फैला) की धार्मिक भाषा स्वीकृत कर ली गई। यह भ्रम अब प्राय समाप्त हो गया है कि पालि मगध प्रदेश की भाषा थी। अब तक मध्य देश की पृष्ठभूमि इतनी सशक्त हो चुकी थी कि सास्कृतिक क्षेत्र मे उसे अपदस्थ करना सुकर कार्य न रह गया था। द्वितीय, कोई ऐसा चाहता भी न था, क्योकि अखिल भारतीय हिन्दू समाज की सास्कृतिक धरोहर उस पुण्यभूमि मे समायी हुई थी और है। यही कारण है कि पालि के पश्चात् इसी की पुत्री शौरसेनी प्राकृत पुनः समस्त भारत की साहित्यिक भाषा बनी। जैन समाज, जो अभी तक अर्ध मागधी का दामन थामे बैठा था, इस ओर झुक गया और इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत अखिल भारतीय भाषा बन गई। शौरसेनी के पश्चात् महाराष्ट्री, जो इसी का एक पश्चकालीन रूप है, जन सम्पर्क की भाषा बनी। आजकल सभी भाषाविद् इस बात पर एक मत है कि महाराष्ट्री दक्षिण की कोई प्राकृत विशेष नही, बल्कि शौरसेनी का ही विकसित रूप है और मध्यदेशीय भाषा है, तथा दक्षिण मे यह इसी प्रकार पोषित हुई जिस प्रकार नागरी हिन्दी। इसके बाद मे भारत की राष्ट्रीय भाषा का पद जिस भाषा ने सुशोभित किया, वह है पश्चिमी अपभ्रश या परिनिष्ठित अपभ्रश, जो शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है। क्या जैन, क्या बौद्ध, क्या हिन्दू, सभी ने इसे अपने धर्म-साहित्य एवं संस्कृति की अभिव्यञ्जिका भाषा के रूप मे स्वीकारकर लिया। इसी पश्चिमी

अपभ्रंश का विकसित रूप है पश्चिमी हिन्दी, जिसकी एक बोली—नागरी हिन्दी या खड़ी बोली—को नवीन भारत के संविधान में राष्ट्रभाषा का गौरवमय स्थान प्रदान किया गया है, जो परम्परा की दृष्टि से उपयुक्त ही है।

पश्चिमी हिन्दी की यह शाखा पर्याप्त समय तक अपने ही घर मे एक प्रवासिनी का सा जीवन व्यतीत करती रही। क्यो करती रही ? और कब इसके प्रेमियो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ ? इन प्रश्नों पर बाद मे विचार करेंगे। पहले यह देखले कि इस पश्चमी हिन्दी का विकास पश्चिमी अपभ्रंश से किस प्रकार हुआ ?

वैदिक सस्कृत या छान्दस, विकास के अनेक सोपानों को पार करती हुई, पश्चिमी अपभ्रश के नाम से भारतीय समाज के गले का हार बनी। अन्य साहित्यिक भाषाओं की तरह वैयाकरणो ने इसे भी नियमबद्ध किया। चण्ड, मार्कण्डेय, पुरुषोत्तम इत्यादि ने इसका व्याकरण लिखा। इन सबसे महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश का व्याकरण लिखा हेमचन्द्र ने। जब हेमचन्द्र इस भाषा का व्याकरण गुजरात में बैठे लिख रहे थे, उस समय अपभ्रश अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी और सम्भवतः जनसामान्य के लिए दुर्बोध होती जा रही थी। परिणामतः साहित्यकारो ने उसमे देशी तत्त्वों का मिश्रण प्रारम्भ कर दिया था। विद्वानो का मत है कि हेमचन्द्र ने जो उदाहरण हेमशब्दानुशासन में उद्धृत किए है, उनमे से अनेक पद पश्चकालीन अपभ्रश के अथवा नवीन भाषा मे परिवर्तित होने जा रही सी अपभ्रंश का द्योतन कराते है। 'पश्चिमी हिन्दी' के प्रारम्भिक उपकरण हमे इस भाषा मे सरलता से उपलब्ध हो जाते है।

जहाँ तक ध्वनियो का सम्बन्ध है, पश्चिमी हिन्दी में वे सब ध्वनियाँ उपलब्ध होती है, जो पश्चिमी अपभ्रश मे थी। वैदिक छान्दस यहाँ तक आते-आते बहुत कुछ छोड़ चुकी थी और बहु कुछ नवीन ग्रहण कर चुकी थी। अतः केवल खडी बोली हिन्दी की तत्सम शब्दावली को छोड़कर पश्चिमी हिन्दी मे अपभ्रंश की तरह 'श, ष' ध्वनियो का अभाव है। इनके स्थान पर 'स' ध्वनि मिलती है। स्वरों मे ऋ, ॠ, ऌ ॡ' का भी अभाव है। इनके स्थान पर क्रमशः 'इ, उ, ए' तथा 'ल' ध्वनियाँ मिलती है। सबसे महत्त्वपूर्ण ह्रस्व 'ए और ओ' ध्वनियाँ, जिनकी ओर हेमचन्द्र ने भी निर्देश किया है, पश्चिमी हिन्दी मे मिलती है। ह्रस्व 'ए और ओ' लिखने का कोई लिपि चिह्न नही था, तो भी उच्चारण एव छन्द-शास्त्र के नियमो की सहायता से यह सरलता से ज्ञात किया जा सकता है कि यहाँ पर ह्रस्व 'ए या ओ' का प्रयोग हुआ है :—

२ २ ३ ४ ३ २ ३ ५ ४

नहिं रुचि पथ पदादि डरनि छकि पच एकादस ठानै।

(सू. सा. १/६० हिंदी अतीत और वर्तमान १२४ से उद्धृत)

उक्त पद मे 'ए' का ह्रस्व प्रयोग है। अन्यथा पद मे २८ के स्थान पर २९ मात्राएँ हो जायेगी। इसी प्रकार 'ओ' का उदाहरण लीजिए :—

३ ३ ४ २ ४ २ २ २ ६
कपट-लोभ वाके दोउ भैया, ते घर के अधिकारी

(सू. सा. १/१७३, हि. अ. व. से उद्धृत)

यहाँ पर भी 'दोउ' के 'ओ' को यदि ह्रस्व नही माना जायेगा तो पद मे २९ मात्राएँ हो जाने से छन्ददोष आ जायेगा।

परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में पश्चिमी हिन्दी की अनेक ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उपलब्ध होती है जो उसकी बदलती हुई अवस्था की द्योतक हैं :—

(१) समीप में आए दो स्वरो मे सन्धि हो जाती है :—

संस्कृत	**पूर्ववर्ती अपभ्रंश**	**परवर्ती अपभ्रंश**	**पश्चिमी हिन्दी**
रक्षति	रक्खइ	रक्खइ/राखै (की. ल. प्रा. पै. ३/१६१)	राखै (ब्रज०)
भूत्वा	भइ	भइ/भै (की. ल.)	—
करोतु	करउ	करउ/करौ (की. ल. १/७७)	करौ/करो (ब्रज. ख. बो.)
करोति	करइ	करइ/करै (प्रा.पै)	करै (ब्रज.)
अन्धकार	अन्धआर	अन्धआर/अन्धार (प्रा. पै. १/११०)	अन्धर/अन्धड़ (ब्रज. ख. बो.)

(२) द्वित्व की समाप्ति और क्षति पूरक दीर्घीकरण—

संस्कृत	**पूर्ववर्ती अपभ्रंश**	**परवर्ती अपभ्रंश**	**पश्चिमी हिन्दी**
निश्वास.	निस्सास	निस्सास/नीसास (स. रा. ८३ ग.)	नीसास (ब्रज.)
कार्य	कज्ज	कज्ज/काज (की. ल. ३/१३४)	काज (ब्र.ख.बो.)
कर्म	कम्म	कम्म/काम (की ल. २/१८)	काम (ब्रज. ख. बो.)
द्रक्षति (पश्यति)	दिस्सई	दिस्सइ/दीसइ (प्रा.पै. २/१९६)	दीसइ (ब्र.भा.)
तस्य	तस्स	तस्स/तासु (प्रा.पै. १/८२.)	तासु
दीयते	दिज्जइ	दिज्जइ/दीजइ (नेमि. १६) दीजै	दीजिये (ख. बो.) दीजै (ब्र. भा.)

(३) सानुनासिकता की जो प्रवृत्ति अपभ्रंश काल में बढ़ गई थी उसका निर्वाह पश्चिमी हिन्दी में पाया जाता है। सरलीकरण की स्थिति में भी इसे अपना लिया जाता है—चन्द्र>चन्द>चाँद, स्कन्ध>कन्ध>काँध> काँधा, स्तम्भ>खम्भ>खाँभ, आदि।

उपर्युक्त ध्वनि-विचार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि हिन्दी (पश्चिमी) अपभ्रंश की ही विशेषताओं का अनुकरण करती है। भाषा का सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए ध्वनियाँ ही नही, भाषा का रूप गठन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप-विचार की दृष्टि से यदि हम पश्चिमी हिन्दी पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके बीज अपभ्रंश मे निहित हैं। रूप-विचार दो वर्गों में विभाजित कर लिया जाता है—१. नाम २. क्रिया। नाम के अन्तर्गत विभक्ति—प्रत्यय का विचार आता है और क्रिया के अन्तर्गत तिङन्त प्रत्यय—विचार।

रूपतत्त्व—(१) अपभ्रंश मे शब्दो का निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। बिना किसी विभक्ति-प्रत्यय और परसर्ग की सहायता से शब्द का प्रयोग ही अपना अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता हो, उस प्रयोग को निर्विभक्तिक प्रयोग कहा जाता है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश मे करण और सम्प्रदान मे निर्विभक्तिक पद खोजने से मिल सकते है, जबकि अन्य कारको मे सरलता से उपलब्ध हो जाते है। परवर्ती अपभ्रंश मे प्राय सभी कारकों मे निर्विभक्तिक प्रयोग मिल जाते है। पश्चिमी हिन्दी मे, विशेषकर खडी बोली हिन्दी मे, निर्विभक्तिक पदो का धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता है।

(१) कर्ता कारक एकवचन :

(१) केहउ **मग्गण** एहु (हेम-अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६७)

(२) कंप **वियोइणि** हिया (प्रा. पै. २)

(३) **ठाकुर** ठक्क भए गेल (की. लता २/१०)

(४) उधो ! **मन** नाहिं दस बीस (सू सा. भ्रमरगीत सार, २१०)

(५) **राम** जाता है (खडी बोली)

कर्ता-कारक बहुवचन :

(१) **सुपुरिस** कगुहे अणुहरिहिं (हेम. अपभ्रश व्याकरण, पृ० ५२)

(२) बहुनु **पुन** भए। (उक्तिव्यक्ति प्रकरण)

(३) दुज्जन बोलइ मन्द। (की ल. १/५)

(४) थाके ये विकल नैना। (घ क. १०६)

(५) लड़के पढ़ रहे है। (ख. बो.)

(२) कर्म-कारक एकवचन :

(१) लेवि महव्वअ सिवु लहहिं (हेम. अपभ्रश व्याकरण, पृ० १५६)

(२) केवट नाव घटाव। (उक्ति व्यक्ति.)
(३) मञ्जरी तेज्जइ चूआ। (प्रा पैं.)
(४) महुअर बुज्झइ कुसुम रस। (की. ल. १/१७)
(५) जो जिय रावरो प्यार न पावतो। (घ. क. १०८)
(६) राम पुस्तक पढ़ता है। (ख. वो.)

कर्म-कारक वहुवचन·
(१) जो गुण गोवइ अप्पणा। (हेम अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १६)
(२) वह्मण इ पर निवतेसु। (उ. व्यक्ति.)
(३) सक्कतय वाणी बुहअन भावइ। (की. ल. १/२०)
(४) कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै। (घ. क. १०४)
(५) राम पुस्तके पढ़ता है। (ख. वो.)

३. करण-कारक एकवचन :
(१) पीण पओहर भार लोलइ मोतिअहार। (प्रा. पैं.)
(२) महुअर सद्द मानस मोहिआ। (की. ल. २/८२)
(३) रघुवीर कृपा तै एकहि वान निवारो। (सू. सा. ६/१४३)

करण-कारक वहुवचन·
(१) थम्म पराअण हियय विपयकम्म नहु दीन जम्पइ। (की.ल १/२८)
(२) अव सोचन लोचन जात जरे। (घ० कवित्त १३)

४. सम्प्रदान-कारक एकवचन:
(१) दिग्विजय छूट। (की. ल ४/२०)
(२) देहिं विभीषन राई (सू० सा० ६/१४०)

५. अपादान-कारक :
(१) देवनि वैंदि छुड़ाई (सू० सा० ६/१४०)

६. सम्वन्ध-कारक एकवचन :
(१) असुर कुल मद्दणा (प्राकृत)
(२) सुरराय नअर नाअर रमनि। (की० ल० २/६)
(३) विथा विरह जुर भारी। (सूर)
(४) विरह व्यथा सहन नही होती। (ख० वो०)

७. अधिकरण कारक एकवचन :
(१) केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ। (प्राकृत)
(२) गावि केत चरि (उ० व्यक्ति.)
(३) वप्प वैर निज चित्त धरिअ। (की० ल० २/२५)
(४) मथुरा वाजति आज वधाई। (सूर)
(५) वैठ शिला की शीतल छाँह (कामायनी चिन्ता सर्ग)

इस प्रकार हम देखते है कि पश्चिमी हिन्दी ने इस परम्परा का निर्वाह ही नही, विकास भी किया है। निर्विभक्तिक प्रयोगों के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे परसर्गो का स्वच्छन्दता से किया जाने वाला प्रयोग द्रष्टव्य है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश मे परसर्गो की संख्या अधिक नही थी, किन्तु परवर्ती अपभ्रंश मे यह सख्या पर्याप्त मात्रा मे बढ़ी हुई दिखाई देती है। द्वितीय लक्षणीय बात है विभक्ति प्रत्ययों के विना ही केवल प्रातिपादिक के साथ परसर्गों का प्रयोग। डॉ. नामवरसिंह के शब्दो मे "परसर्ग के पूर्व निर्विभक्तिक पद प्रयोग के उदाहरण खोजे-हेरे ही मिल सकते है।" इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा में परसर्गों के प्रयोग से पूर्व विभक्ति-प्रत्यय लगाने की प्रथा का प्रचलन था। परवर्ती अपभ्रंश मे इसमें शिथिलता आई और 'न भा. आ' में आकर यह प्रायः समाप्त ही हो गई। खड़ी बोली हिन्दी ने तो विभक्ति-प्रत्ययों का पूर्णतः परित्याग ही कर दिया। व्रजभाषा और कन्नौजी मे ये कुछ मात्रा मे अवशिष्ट है। बाँगरू मे भी विभक्ति-प्रत्ययो के दर्शन नही होते। शब्द के अर्थ का ज्ञान परसर्गों की सहायता से प्राप्त हो जाता है। परसर्गों से पूर्व पश्चिमी हिन्दी मे बचे हुए कुछ विभक्ति-प्रत्ययों पर विचार करेंगे कि उनका उद्गम कहाँ से हुआ है ?

कर्ता-कर्म एकवचन—उ :

अपभ्रंश मे 'सु और अम्' के आने पर शब्द के अन्तिम स्वर के स्थान पर 'उ' का आदेश होता है। परवर्ती अपभ्रश और उससे व्रज और अवधी में इसका प्रयोग मिलता है। वाद मे सन्धि-नियम के अनुसार व्रज मे 'ओ तथा औ' हो जाते हैं, किन्तु अवधी मे अव तक 'उ' का प्रयोग ही प्रचलित है :

(१) चउ मुहु छमुहु झाइवि एक्कहि लाइवि णावइ दइवे घडिअउ।
(प्रा. व्या., पृ. २०५)

(२) स्यामु हरित-दुति होइ। (वि-रत्नाकर, पृष्ठ १)

(३) मौको राम रजायसु नाही। (सू. सागर, ९/१३२)

खड़ी वोली मे यह प्रयोग सम्भवतः प्रारम्भ से ही प्रचलन मे नही था। सूर सागर मे ऐसे प्रयोगो की स्वलपता व्रजभाषा का भी इस प्रयोग के प्रति अनाकर्षण ही व्यक्त करती है। वैसे सूर सागर मे सम्वन्ध कारक मे इसके प्रयोग उपलब्ध होते है—रे कपि ! क्यो पितु-वैर विसार्‍यौ। (सू. सा. ९/१३४) ऐसा प्रयोग कीर्तिलता मे भी मिलता है—महामासु खडो।

'हि-हिं'—ये दोनों प्रत्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रश मे प्रथम का प्रयोग अधिकरण कारक के एकवचन मे और द्वितीय का करण तथा अधिकरण कारक के वहुवचनो मे प्रयोग किया जाता था। व्रज और अवधी भाषा मे

इन दो कारको मे तो इनका प्रयोग मिलता ही है, इनके अतिरिक्त कर्म और सम्प्रदान मे भी इनका प्रयोग वहुलता से पाया जाता है।

अधिकरण एकवचन :

(१) अह विरल पहाउ जि कलिहि धम्मु। (प्राकृत व्या. पृ., २०९)
(२) सज्जन चिन्तइ मनहि मने मित्त करिअ सव कोए। (की. ल. १/७)
(३) केवट थक्यो, रही अघवीचहि, कौन आपदा आई। (सू. सा. ९/१६)

करण बहुवचन :

(१) गुणिहिं ण सपइ कित्ति पर। (अपभ्रंश व्या., २६)
(२) वे वहार मुल्लहिं वणिक विक्कण। (की. ल. २/९०)
(३) तातै कहौ उनहि सो जाई। (सूर सागर, ९/५)

अधिकरण वहुवचन .

(१) भाई रहि जिव भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ।
(प्राकृत व्याकरण पृ. २७)
(२) और पतित तुम जैसे तारे, तिनहिं मैं लिख काढौ।
(सू. सागर, १/१३७)

इसके अतिरिक्त कर्म, करण (एकवचन), सम्प्रदान, अपादान तथा सम्वन्ध कारक मे 'हिं' विभक्ति के प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश तथा व्रजभापा मे पाये जाते है—

कर्म : एकवचन

(१) भीचहिं ताड। (उक्ति व्यक्ति.)
(२) सत्तुहि मित्र कए। (की. लता, २/२७)
(३) कहौ तौ कालहिँ खण्ड-खण्ड करि टूक-टूक करि काटौ।
(सू. सा. ९/१४८)

करण : एकवचन :

(१) वज्रहि तिनकहि मारि उडाई। (पद्मावत)
(२) एकहि वान निवारौ। (सूर सा. ९/१३७)

सम्प्रदान :

(१) वरहिं कन्या दे। (उक्ति व्यक्ति.)
(२) विनु रघुनाथ मोहिँ सव फीके। (सू. सा. ९/१६१) एकवचन
(३) दैहौ तुमहि अवसि करि भाग। (सूर सागर, ९/३) वहुवचन

अपादान :

(१) वाघहि डर। (उक्ति व्यक्ति.)

(२) दूरिहिं तैं दुतिया के ससि ज्यो, व्योम विमान महा छवि छावत।
(सूर सागर १६६/१)

सम्बन्ध :

(१) राय घटहि का पुव्व खेत। (की. ल. ४/६१)

(२) अब किहिं सरन जाउँ जादीपति। (सूर सागर, १/१६०)

उपर्युक्त उदाहरणो के अतिरिक्त सूरसागर मे कर्ता कारक में भी 'हि, हिं' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग देखने को मिलता है (जब नृप ओर दृष्टि तिहिं करी, सूरसागर ९/५)। विशेष लक्षणीय बात यह है कि व्रजभाषा मे, विशेषकर सूरसागर मे 'हि, हिं' दोनो प्रत्ययो के प्रयोग बहुवचन मे अत्यल्प मात्रा में मिलते है। द्वितीय, जितना अधिक प्रयोग कर्म कारक में किया गया है उतना अन्य कारकों मे नही। एक यह बात भी विचारणीय है कि व्रजभाषा मे सानुनासिक और निरनुनासिक का कोई अन्तर नही रखा गया। कही एकवचन मे 'हिं' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है तो कही बहुवचन में 'हि' मिल जाता है। कहा नही जा सकता कि इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन ही हो गया था अथवा यह लिपिकारो एवं सम्पादको के प्रमाद का परिणाम है। इन्ही उपर्युक्त विभक्तियो के रूपान्तर 'इ, ए' जो भाषा-वैज्ञानिक नियमो के अनुकूल ही विकसित हुए हैं, व्रजभाषा और अवधी मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगो का प्रचलन वैसे तो अवहट्ठ भाषा से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु अत्यन्त न्यून मात्रा मे।

उपर्युक्त प्रत्ययो के अतिरिक्त 'न्ह, न्हिं' विभक्तियाँ भी व्रजभाषा मे कम और अवधी मे अधिक मात्रा मे पाई जाती हैं। डॉ नामवरसिंह ने पर्याप्त विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि इन प्रत्ययो का विकास प्राकृत 'णाम्' (षष्ठी) और करण कारक बहुवचन 'हिं' के योग से हुआ है। यह युक्तिसगत प्रतीत नही होता। मेरे विचार मे अवहट्ठ से ही बहुवचन मे 'न, नि' का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था तथा इनके साथ 'हिं' विभक्ति—प्रत्यय का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया था। अत इन दोनो के मिश्रित रूप ही बाद में 'न्हि और न्ह' के रूप मे प्रयुक्त होने लगे होंगे। इसकी पुष्टि मे यह प्रमाण दिया जा सकता है कि उपर्युक्त विभक्तियो का प्रयोग अपभ्रंश मे उपलब्ध नही होता। यदि प्राकृत और अपभ्रंश के प्रत्ययो के मेल से इसका निर्माण हुआ होता तो निश्चय ही इसके और कुछ नही तो वैकल्पिक प्रयोग तो प्रारम्भ हो ही गए होते। अतः इस तर्क पर भी विशेष विचार की आवश्यकता है। इन विभक्तियो का प्रयोग अधिकतर कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण तथा सम्बन्ध कारको मे परसर्ग रहित और परसर्ग सहित दोनो रूपो मे उपलब्ध होता है; किन्तु व्रजभाषा मे कम और अवधी मे अधिक। खड़ी बोली मे कुछ

हिन्दी व्यञ्जन ध्वनियों की उत्पत्ति

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) भाषा का शब्दकोष इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी भाषा के प्रकाश में आने तक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ प्राचीन परम्परा के आधार पर ही विकसित नहीं हो रही थी, अपितु अन्य क्षेत्रों से भी सामग्री का चयन कर रही थी। यहाँ तक प्राकृतों की उपेक्षा कर इन भाषाओं ने अपना सीधा सम्बन्ध संस्कृत भाषा से जोड़ने का उपक्रम भी कर लिया था। यह प्रयास हिन्दी भाषा में दो रूपों में देखने को मिलता है। एक तो उसके शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करने के रूपों में, जिसको विद्वानों ने 'तत्सम शब्दावली के नाम से अभिहित किया है और दूसरे संस्कृत के कतिपय शब्दों में अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन कर ग्रहण करने के रूप में। इसे 'तद्भव शब्दावली' कहते हैं। द्वितीय प्रकार के शब्द अपनी पूरी मंजिल तय किये बिना ही सीधे हिन्दी भाषा में आ जाने के कारण मध्यकालीन आर्य भाषाओं के नियमों को चुनौती देते हुए से दिखाई देने लगे। अतः विद्वानों ने ऐसे शब्दों के लिए एक नए वर्ग की स्थापना की, जिसे 'अर्ध तत्सम' की संज्ञा मिली। इसके साथ-साथ अंग्रेजी, उर्दू, पोर्तगीज, फ्रेंच आदि भाषाओं की शब्दावली ने भी हिन्दी भाषा में प्रवेश प्राप्त किया और अभी तक हिन्दी भाषा-भाषियों का यह प्रयत्न दिखाई देता है कि उनकी शब्दावली में प्रयुक्त ध्वनियों को उसी रूप में सुरक्षित रखा जाए। अतः उन ध्वनियों के सही उच्चारण को बनाए रखने के लिए हिन्दी के कतिपय ध्वनि-चिह्नों के नीचे बिन्दु लगाकर उन ध्वनि चिह्नों का निर्धारण भी किया जा चुका है; किन्तु अब भी विद्वानों में मतभेद है कि इन ध्वनियों को यथातथ्य रूप में रखा जाए अथवा इनका हिन्दीकरण कर लिया जाए। मैं डॉ. देवेन्द्रनाथ से अक्षरशः सहमत हूँ कि इन ध्वनियों का हिन्दीकरण कर लेना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।[16] इससे एक तो यह लाभ होगा कि उक्त शब्दों का विदेशीपन समाप्त हो जाएगा और दूसरे उन व्यक्तियों को भी जो फारसी, अरबी आदि भाषाओं के ज्ञाता नहीं हैं, सन्देह की स्थिति से मुक्ति प्रदान करेगी। अन्यथा वे शब्दों का अशुद्ध उच्चारण कर उपहास के पात्र बनने के भागी होंगे; यथा—जलील (तुच्छ) और जलील (श्रेष्ठ)। हिन्दी में यदि इस चिह्न की स्थिति को हटा दिया जाए और ठीक उर्दू उच्चारण पर बल न दिया जाए तो श्रोता/पाठक, यथास्थिति जिस अर्थ की आवश्यकता होगी, ग्रहण कर लेगा और यदि इस पर बल

---

[16] डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा-हिन्दी, समस्याएँ और समाधान, पृष्ठ ११८।

	हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[आदि क]	कड़ुआ	कड़ुअ	कटुक
	काग	काग	काक
[मध्य क]	तिलकुटनी (चतुर्थीकाव्रत)	तिलकुट्टिणी	तिलकुट्टिनी
[पदान्त क]	चाक	चक्क	चक्र
	[क]	[क्क]	[स्क]
	कन्धा	खंधअ	स्कन्धक
	कंधार	खधावार	स्कन्धावार
	कन्द	खद	स्कन्द

'ख्'—हिन्दी 'ख' ध्वनि, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'क्, ख्, क्ष्, स्क्, ष्क्, ष्, आदि ध्वनियों से उत्पन्न हुई है। 'ष' ध्वनि से 'ख' की व्युत्पत्ति सीधी संस्कृत से हिन्दी में कर ली गई है। शेष ध्वनियाँ मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित होती हुई आई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[आदि ख]	[आदि ख]	[आदि ख]
खाज	खज्जु	खर्जू
खीज	खिज्ज	खिद्य
[मध्य ख]	[मध्य ख]	[मध्य ख]
लिखवाया	लिखापित	लेखापित
लेखक	लेखक	लेखक
वखान	वक्खाण	व्याख्यान
[पदान्त ख]	[पदान्त ख]	[पदान्त ख]
दु.ख	दुक्ख	दुःख
सुख	सुख	सुख
[ख]	[क्ख]	[स्क]
खंभा	खभअ	स्कम्भक
[ख]	[क्ख]	[ष्क]
पोखर	पोक्खर	पुष्कर
सूखा	सुक्खअ	शुष्कक
[ख]	[क्ख/ख]	[क्ष]
खेत	खेत्त	क्षेत्र
आखर	अक्खर	अक्षर
चख	चक्खु	चक्षु
भखना	भक्खण	भक्षण

सूचना—जब 'क्ष' प्राचीन आर्य भाषाओ मे आद्य मे होता है, तो मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषाओ में उसे 'ख' आदेश होता है और यदि मध्य में होता है तो उसे 'क्ख' आदेश होता है।

हिन्दी	**म. भा. आ.**	**प्रा. भा. आ.**
[ख]	[ख]	[क]
खप्पर	खप्पर	कर्पर:
खाज	खज्जु	कच्छु:
खोजा	खुज्जअ	कुब्जक:

हिन्दी (अर्धतत्सम)	**प्रा. भा. आ.**
वरखा	वर्षा
भाखा	भाषा
हरख	हर्ष

'ग' : 'ग'—ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'क, ग' तथा अर्ध तत्सम शब्दों मे 'ज्ञ' से उत्पन्न हुआ है। 'क्' का 'ग्' मे स्वर आगे होने पर परिवर्तित होना सस्कृत मे भी पाया जाता है, पर आ. भा. आ. तक स्वर का बन्धन समाप्त सा कर दिया गया है।

हिन्दी	**म. भा. आ.**	**प्रा. भा. आ.**
[ग]	[ग]	[ग]
गधा	गद्दह	गर्दभ:
गेडा	गडअ	गण्डक.
गागर	गग्गरी	गर्गरी
अंग	अग	अंग
[ग]	[ग]	[क]
काग	काग	काक
साग	साग	शाक
सगला	सगल्लअ	सकल
[ग]	×	[ज्ञ]
ग्यान	×	ज्ञान
आग्या	×	आज्ञा
संग्या	×	संज्ञा

'घ'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे 'घ तथा 'ग' के साथ 'ह' ध्वनि होने पर 'घ' की उत्पत्ति होती है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[घ]	[घ]	[घ]
घी	घिअ	घृत
घाव	घाअ	घात
घिन	घिणा	घृणा
[घ]	[घ]	[ग+ह]
घर	घर	गृह

'ङ'—यह ध्वनि अब हिन्दी मे केवल तत्सम शब्दावली मे ही मिलती है और इसका सही उच्चारण भी प्राय. समाप्त सा हो गया है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग तो सस्कृत मे ही अत्यल्प हो गया था। आदि मे तो इसका प्रयोग मिलता ही नही और मध्यकाल मे आकर इसे पूरी छुट्टी दे दी गई।

'च'—'च' का विकास प्राचीन आर्य भाषा 'च, त्य' तथा कहीं-कही 'त्व' से हुआ है।

हिन्दी	म भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[च]	[च]	[च]
चाक	चक्क	चक्र
चख	चक्खु	चक्षु
काँचली	कचुलिअ	कञ्चुलिका
कचनार	कंचणार	कञ्चनार
पाँच	पंच	पञ्चन्
[च]	[च्च]	[त्य]
सांच/सच	सच्च	सत्य
नाच	नच्च	नृत्य
[च]	[च्च]	[त्व]
सोच	सोच्चा	श्रुत्वा

'छ'—'छ' की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'छ', श, ष' तथा 'क्ष' से हुई-है। इनके अतिरिक्त 'थ्य, श्च, त्स प्स तथा ध्व' से भी 'छ' की उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी	म भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[छ]	[छ]	[छ]
छाना	छण्ण	छन्न
छावन	छाअण	छादन
छूटन	छुट्टण	छोटन

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[छ]	[छ]	[श]
छकड़ा	छक्कडअ	शकटक:
छाल	छाल	शाल (चुरादिगणीय शल्+घञ्)
[छ]	[छ]	[ष]
छ.	छह्	षट्
छठा	छट्ठअ	षष्ठक:
[छ]	[छ]	[क्ष]
छमा	छमा	क्षमा
लच्छन	लच्छण	लक्षण
लिछमी/लच्छी	लच्छमी/लच्छी	लक्ष्मी:
छार	छार	क्षार
[छ]	[च्छ]	[थ्य]
राछ	रच्छ	रथ्य
पछ/पच	पच्छ	पथ्य
[छ]	[च्छ]	[श्च]
पछताव	पच्छितअ	प्रायश्चित्तक:
पच्छिम	पच्छिम	पश्चिम
पाछै/पीछे	पच्छअ/पच्छइ	पश्चक/पश्चात
बिच्छु	विच्छुअ	वृश्चिक:
[छ]	[च्छ]	[प्स]
इच्छित	इच्छित/इच्छिय	ईप्सित
अच्छरा	अच्छरा	अप्सरा

'ज्'—'ज्' ध्वनि 'ज्, य, र्य, द्य' से विकसित हुई है।

हिन्दी	म भा आ.	प्रा भा. आ.
[ज]	[ज]	[ज]
जबू	जंबुअ	जम्बुक
जड	जड़	जड
जमाई	जामाइअ	जामातृक.
[ज]	[ज]	[य]
जम	जम	यम
जमना	जमुणा	यमुना
जूं	जूआ	यूका
सेज	सेज्ज	शय्या

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ज]	[ज्ज]	[र्य]
काज	कज्ज	कार्य
[ज]	[ज्ज]	[द्य]
आज	अज्ज	अद्य
जुआ	जुअं	द्यूतं

'झ्'—आद्य 'झ' जो मिलता है उसमे विद्वानो का मत है कि यह प्राकृत प्रभाव है और अधिकाश देशी शब्द हैं जो संस्कृत मे अपना लिए गये है और हिन्दी मे भी प्रायः उसी रूप में अपना लिए गये हैं; यथा—झञ्झा, झिल्ली, झंकार आदि। हिन्दी मे 'ध तथा ध्य' से 'झ' ध्वनि अवश्य आई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[झ]	[ज्झ]	[द/ध]
जूझ(ना)	जुज्झ	युध्
बूझ(ना)	बुज्झ	बुध्
[झ]	[ज्झ]	[ध्य]
साँझ	सज्झा	सन्ध्या
बाँझ	वंज्झा	वंध्या

'ञ'—इस ध्वनि का उच्चारण हिन्दी मे समाप्त हो गया है। इसका उच्चारण 'न' की तरह किया जाता है और यह केवल तत्सम शब्दावली में ही प्रयुक्त होती है। अनुस्वार के लिए सवर्णो के साथ भी इसका प्रयोग तद्भव शब्दावली मे देखा जाता है, जो कि उचित नही है।

'ट्'—इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'ट्' और 'त्' से हुई है। विदेशी शब्दो के साथ भी 'ट्' ध्वनि का प्रवेश हिन्दी मे हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ट]	[ट्ट]	[ट्ट/ट]
टूट(ना)	टुट्ट	त्रुट्
अटारी/अटाली	अट्टालिअ	अट्टालिका
घटना	घट्टण	घटना
काँटा	कट्टअ	कण्टक
[ट]	[ट्ट]	[त/र्त/र्त्म]
भट	भट्ट	भर्तृ
केवट	केवट्ट	कैवर्त
टल(ना)	टल (इ)	तर
बाट	वट्ट	वर्त्म

'ठ्'—इसकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'ठ्, स्थ, ष्ट, तथा थ' से हुई है।

हिन्दी	**म. भा. आ.**	**प्रा. भा. आ.**
[ठ]	[ठ]	[ठ]
कठ	कट्ठ	कण्ठ
ठाकुर	ठक्कुर	ठक्कुर
सोठ	सुण्ठिअ	शुण्ठिका
[ठ]	[ठ/ट्ठ]	[स्थ]
ठग	ठग	स्थग
ठान (पशुओ का स्थान)	ठाण	स्थान
[ठ]	[ठ]	[न्थ]
गाँठ	गँठि	ग्रन्थि
[ठ]	[ट्ठ]	[ष्ट]
कोठा	कोट्ठअ	कोष्ठक
मीठा	मिट्ठअ	मिष्टक
ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट

'ड्'—'ड्' ध्वनि का विकास सस्कृत 'ट, ड, द' से हुआ है।

हिन्दी	**म. भा. आ.**	**प्रा. भा. आ.**
[ड]	[ड]	[ड]
डायन	डाइण	डाकिनी
निडर	णिडर	निडर
डमरू	डमरूअ	डमरुक
[ड]	[ड]	[ट]
कडाह	कडाह	कटाह
कडवा	कडुआ	कटुक
[ड]	[ड]	[द]
डाँस	डंस	दंश
डसना	डसण	दंशन
डोल (ना)	डोल	दोलय
डंडा	डडअ	दण्डक
डाभ	डब्भ	दर्भ

नोट—प्राकृतो मे प्राप्त अनादि 'ड' हिन्दी मे 'ड़' हो जाता है—

कौड़ी	कवड्डिअ	कपर्दिका
घोड़ा	घोडअ	घोटक
पड़ (ना)	पड (इ)	पत

'ढ्'—संस्कृत 'ठ्' तथा ध् से इस ध्वनि का विकास हुआ हैं। देशी शब्दो के माध्यम से उक्त ध्वनि हिन्दी भाषा मे आई है।

हिन्दी	म भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ढ्]	[ढ्]	[ठ्]
पढ(ना)	पढ(इ)	पठ्(ति)
[ढ्]	[ढ्]	[ध्]
डेढ़	द्विड्ढ	द्वि-अर्ध
वढ(ना)	वड्ढ़	वृध् (वर्धते)
वूढा	वुड्ढअ	वृद्ध
ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट

नोट—अनादि 'ढ' को छोड़कर मध्यकालीन आर्यभाषा का 'ढ' हिन्दी मे 'ढ' उच्चरित होता है। अनादि, जैसे—ढीठ।

'ण्'—यह अनुनासिक स्पर्श ध्वनि भी 'ङ् और ञ्' की तरह हिन्दी में अपना अस्तित्व खो चुकी है। हाँ, तत्सम शब्दावली मे अव इसका शुद्ध मूर्धन्य उच्चारण होता है, परन्तु तद्भव शब्दो मे इसके स्थान पर प्राय. 'न' मिलता है। जव यह स्वर रहित अन्य मूर्धन्य ध्वनियो के साथ प्रयुक्त होती है, तव तो तत्सम शब्दावली में भी इसका उच्चारण 'न्' जैसा ही सुनाई देता है; यथा—'पण्डित'। परन्तु उच्चारण होता है, 'पन्डित', पुण्य>पुन्य।

'त्'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'त्, त्र्' से माना जाता है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[त]	[त/त्त]	[त]
तेल	तेल्ल	तैल
ताला	तत्तअ	तप्तक
तौंद	तुंद	तुन्द
[त]	[त्त]	[त्र]
गात	गत्त	गात्र
पात	पत्त	पत्र
पूत	पुत्त	पुत्र

'थ्'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं आदि मे 'थ्' का अभाव है। मध्य में तथा पदान्त मे अवश्य मिलता है। हिन्दी 'थ्' की उत्पत्ति 'थ, स्त, स्थ, से हुई है।

हिन्दी	म. भ. आ.	प्रा. भा. आ.
[थ]	[त्थ]	[त्थ/र्थ]
चौथ	चउत्थ	चतुर्थ
मथनी	मत्थणिअ	मन्थनिका
[थ]	[त्थ]	[स्त]
पोथी	पुत्थी	पुस्ती
थन	थण	स्तन
हाथी	हत्थी	हस्ती
[थ]	[त्थ]	[स्थ]
थान	थाण	स्थान
ऊथल/उथला	उत्थल/उत्थलअ	उत्स्थलक
थापना	थप्पणअ	स्थापनक
थूणी	थूणी	स्थूणी

'द'—इसका विकास सयुक्त एवं असंयुक्त 'द्' से हुआ है। संयुक्त 'द' ध्वनि से 'द' का विकास उसी अवस्था में हुआ है, जब दूसरी ध्वनि का विकास किसी अन्य मे सम्भावित न था।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[द]	[द/द्द]	[द, द्र, र्द, न्द्र]
दुबला	दुब्बलअ	दुर्बलक
दुःख	दुक्ख	दुःख
दीवा	दीवअ	दीपक
दादुर	दद्दुर	दर्दुर
दोना	दोणअ	द्रोणक
कादा	कद्दम	कर्दम
भद्दा	भद्दअ	भद्रक
चाँद	चंद	चन्द्र

'ध'—'ध' ध्वनि का असंयुक्त और सयुक्त 'ध' ध्वनियो से विकास हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[घ]	[घ/द्ध]	[घ/र्घ/ग्घ/द्ध/ध्र]
घाम	घम्म	घर्म
घाड़ी	घाडी	घाटी
धनी		धनिक
आधा		अर्धक

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
दूध	दुद्ध	दुग्ध
गीध	गिद्ध	गृध्र
बँधा (हुआ)	बन्धिअ	बद्ध

'न'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'न्, ण, ल्, तथा ज्ञ' से इसकी उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[न]	[ण]	[न]
नाच	णच्च	नृत्य
निवटना	णिवट्टण	निवर्तन
नारंगी	णारंगिआ	नारङ्गिका
[न]	[ण]	[ण]
कान	कण्ण	कर्ण
कनेर	कण्णिआर	कर्णिकार
नितारना	णित्थारणा	निस्तारणा
[न]	[ल]	[ल]
नोन	लोण/लूण	लवण
नोचा (हुआ)	लुंचिअ	लुञ्चित
[न]	[ण]	[ज्ञ]
नैहर	णाइहर	ज्ञातिगृह
आन (महादेवजी की आन आदि के अर्थ मे)	आणा	आज्ञा

'प'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के असंयुक्त एवं संयुक्त 'प' से इसका विकास हुआ है। संस्कृत के 'त्व' के लिए भी 'पण' का प्रयोग 'त्' से 'प' का विकास सूचित करता है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[प्]	[प्प्]	[प्, त्प, प्र, म्प, र्प]
पका	पक्कअ	पक्वक
पाँख	पक्ख	पक्ष
ऊपल	उप्पल	उत्पन्न
पैर	पयर	प्रदर
काँप(ना)	कंप	कम्प्
साँप	सप्प	सर्प
खप्पर	खप्पर	कर्पर

'फ'—इसकी उत्पत्ति भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के असयुक्त और सयुक्त 'फ्' से हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[फ]	[फ]	[फ्, स्फ, प]
फाग	फग्गु	फल्गु
फूल	फुल्ल	फुल्ल
फूंकाड़	फुक्कार	फूत्कार
फोड़(ना)	फोड	स्फोट
फूट(ना)	फुट्ट	स्फुट्
फरशा	फरसु	परशु

ब्'—इसका विकास मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के 'व्, व्, द्व' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[व]	[व]	[व]
वेर	वयर	वदरी
वांझ	वझा	वन्ध्या
वहरा	वहिरअ	वधिरक
[व]	[व]	[व]
वांदर	वाणर	वानर
वनिया	वणिअ	वणिक्
वड़	वड	वटः
[व]	[व]	[द्व]
घरवार	घरवार	गृहद्वार
वारह	वारह	द्वादश

'भ्'—इसका विकास संयुक्त और असंयुक्त 'भ' से हुआ है। डॉ. तिवारी ने 'म, व' से भी इसकी उत्पत्ति प्रदर्शित की है; यथा—भेप>वेप>भैंस>महिषः।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[भ्]	[भ्]	[भ, भ्य]
भीत	भित्ति	भित्ति
भोज	भुज्ज	भूर्ज
भंडार	भडाआर	भाण्डागार
भीतर	भितर	आभ्यन्तर

'म्'—असंयुक्त और सयुक्त 'म्' से हिन्दी 'म्' व्युत्पन्न हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा आ.
[म्]	[म्/म्म्]	[म्, र्म्, म्र, श्म्, म्ब]
मीत	मित्त	मित्र
माह (उडद की दाल)	मास	माष
घाम	घम्म	घर्म
काम	कम्म	कर्म
आम	आम्म	आम्र
कैम	कअम्ब	कदम्ब
मसान	मसाण	श्मशान

'य'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'य्' ध्वनि हिन्दी तक आते-आते 'ज्' रूप में उच्चरित होने लग गई। कुछ तद्भव शब्दो मे ही इसका रूप देखने को मिलता है। पर उद्वृत स्वरो के साथ आई हुई 'य' ध्वनि लगभग हिन्दी मे सुरक्षित है; यथा—लिये, पाया, गया, अंघियारा आदि।

'र्'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के 'र्' से हुआ है। संख्यावाचक शब्दो मे प्राप्त 'र्' की व्युत्पत्ति के लिए स्पष्ट रूप मे कुछ कहना खतरे से खाली नही है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[र]	[र]	[र]
रात	रत्ति	रात्रि
रुपया	रुप्पय	रूप्यक
रोस	रोस	रोष
गहरा	गहिरअ	गभीरक
क्वारी	कुआरी	कुमारी

'ल्'—इसका विकास 'ल्, ड्, र्' तीन ध्वनियो से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ल]	[ल]	[ल]
लौंग	लउग/लवंग	लवग
लगूर	णागूल	लाङ्गूल
लास	लास्स/लास	लास्य
[ल]	[ल]	[ड]
सोलह	सोडस	षोडश
[ल]	[ल]	[र]
चालीस	चालीस	चत्वारिंशत्
लेखा	लेखा/लेहा	रेखा
टल (ना)	टल (इ)	तर्

'व'—इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'व् तथा म्' से हुआ है, किन्तु साहित्यिक हिन्दी मे 'म' से व्युत्पन्न शब्दो के प्रयोग का प्रचलन नही के वरावर है। उन शब्दों के स्थान पर प्राय. तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक मिलता है। वैसे प्राय' देखा यह जाता है कि कतिपय स्थलो को छोड़कर अधिकांश लोग (विद्वान् भी) 'व' का उच्चारण 'व' सदृश ही करते है। 'कुमार' शब्द से बना कँवर तथा कमल से बने 'कवल' का प्रयोग प्रायः नही के बराबर है। सस्कृत 'वन' को अच्छे-अच्छे विद्वान् 'बन' ही कहते सुने जाते है। अतः कहा जा सकता है कि 'व' की स्थिति अभी अस्थिर सी ही है।

'स'—हिन्दी भाषा मे लिखने में 'श्, ष्, स्' तीन का ही प्रयोग देखा जाता है; पर उच्चारण मे केवल 'श, स' अवशिष्ट है। 'ष्' का उच्चारण प्रायः 'श्' की तरह किया जाता है। 'श्' का लेखन एव उच्चारण बस केवल तत्सम शब्दो मे ही देखने को मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी मे 'स' ध्वनि ही उत्पत्ति की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। इसका विकास असयुक्त एव संयुक्त 'श्, ष्, स्' से सम्पन्न हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[स]	[स]	[श, श्र्व, श्व]
दस	दस	दश
सौ/सै	सअ	शत
पास	पस्स	पार्श्व
परमेसर	×	परमेश्वर
[स]	[स]	[ष, र्ष] .
कसनी	कस्सणी	कर्षणी
पूस	पोस	पौष
[स]	[स]	[स, स्य]
सात	सत्त	सप्त
साँप	सप्प	सर्प
हास	हस्स	हास्य

'ह'—'ह' ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'ह्, श्, ख्, घ्, थ्, ध् तथा भ्' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ह]	[ह]	[ह]
हाथ	हत्थ	हस्त
हरि	हरि	हरि
हास	हस्स	हास्य

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
हिंगलू	हिंगुल	हिङ्गुल
[ह]	[ह]	[श]
बारह	बारह	द्वादश
तेरह	तेरह	त्रयोदश
[ह]	[ह]	[ख, घ, थ, ध, भ]
सहेली	सही+ली	सखी
नूह	णह	नख
रहट	रहट्ट	अरघट्ट
नाह	णाह	नाथ
सौह	सवह/सउह	शपथ
बहू	बहू	वधू
वीरवहूटिका	वीरवधूटिका	वीरवधूटिका
अहीर	आहीर	आभीर
हुआ	हूआ	भूत

हिन्दी भाषा की स्वरूप निर्मात्री प्रवृत्तियाँ—जैसाकि पूर्व पृष्ठो मे देख चुके है, हिन्दी भाषा का स्वरूप निर्माण ईसा की आठवी-नवी शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था, फिर भी उसका स्पष्ट रूप हमे बारहवी-तेरहवी शताब्दी के आस-पास से 'मियाँ अमीर खुसरो' और 'कबीर' के साहित्य में देखने को मिलता है, पर इसके तुरन्त बाद हिन्दी साहित्य के सिंहासन पर ब्रजभाषा को आसीन करा दिया गया और खड़ी बोली केवल एक प्रदेश-विशेष की ही बोली बन कर रह गई। इसके कुछ समय पश्चात् यह मुसलमान लोगो के साथ दक्षिण मे चली गई और वहाँ पर रेख़्ता के नाम से पलती रही और फिर साहित्य मे उर्दू के नाम से प्रादुर्भूत हुई। जब यह 'उर्दू' के नाम से प्रख्यात हुई, उस समय इसका स्वरूप अरबी-फ़ारसी की शब्दावली से इतना आवृत्त हो गया था कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा को यह कहना पडा कि खड़ी बोली ने जब 'बुर्का' पहन लिया तो उर्दू कहलाई। इधर विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे, अथवा यो कहिए कि अन्तिम वर्षों मे उत्तर भारत की इस समर्थ भाषा की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ और इसे साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ़ करने का उपक्रम इन्होने प्रारम्भ किया।

विक्रम की बीसवी शताब्दी भारत के सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनीतिक उत्थान की शताब्दी है। इसी सदी मे राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारक बगाल में और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रकाण्ड पण्डित एवं मनीषी गुजरात मे अवतरित हुए और इन्होने

क्रमशः ब्रह्मसमाज एव आर्यसमाज की स्थापना की, जिसके माध्यम से विस्मृत जनता को उनके गौरवमय अतीत का प्रत्यभिज्ञान कराना ही इनका परमोद्देश्य था। अतः संस्कृत भापा के अध्ययन और अध्यापन का कार्य तीव्रता के साथ प्रारम्भ हुआ। इधर श्रृंगार की रसिकता से आलिप्त व्रजभापा को, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, साहित्य के आसन से च्युत कर खडी वोली का साहित्याभिषेक किया। खड़ी वोली को साहित्य की भापा वनाने का एकमात्र उद्देश्य था—सोयी हुई जनता को जगाना, क्योकि खडी वोली मे पौरुप की झलक थी और मानव हृदय की शिथिल तन्त्रियो को झकृत करने की शक्ति। अतीत के प्रति आस्था ने खडी वोली के कोष को सस्कृत शव्दावली से आपूरित कर दिया और परिणाम स्वरूप आज की साहित्यिक हिन्दी मे ७५% तत्सम शव्द आ गये। वुद्धिजीवी वर्ग की इस सस्कृत प्रियता का प्रभाव जनसाधारण पर भी पड़ा और ये लोग अपने प्रतिदिन के जीवन मे सस्कृत शव्दावली का प्रयोग करने मे गौरव का अनुभव करने लगे। यह वात दूसरी है कि वे लोग अपनी अज्ञता अथवा अशिक्षा के कारण उन शव्दो का शुद्ध उच्चारण नही कर पा रहे थे। परिणामतः हिन्दी आदि आधुनिक भापाओ मे इस प्रकार की शव्दावली का भी जाने-अनजाने मे प्रवेश होने लगा और विद्वानो ने इन्हे 'अर्ध तत्सम' शव्द कहा। कुछ अर्ध तत्सम शव्द सीधे प्राकृत से भी इन भापाओ मे आये है, परन्तु वाहुल्य प्रथम प्रकार की शव्दावली का ही है। इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि हिन्दी भापा को विकसित करने मे हमारी सास्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति भी सक्रिय रही है।

सास्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति ने संस्कृत भापा के प्रति जो अनुराग की भावना जागरित की, उसका प्रभाव भापा पर भी पड़ा और उसके दो परिणाम हमारे सामने आये—(१) व्यञ्जन ध्वनियो के प्रति अनुराग। (२) पास-पास मे आये स्वरो का समीकरण। यदि अर्ध तत्सम शव्दावली का हम सूक्ष्म अध्ययन करे तो प्रतीत होगा कि उनमे स्वरो के लोप, आगम आदि तो हुए, पर व्यञ्जन ध्वनियों को सुरक्षित रखा गया, यथा—'तीक्ष्ण' शव्द लीजिये। प्राकृत भापा के नियमो के अनुसार 'तीक्ष्ण>तिक्ख>तीखा' वनना चाहिए, पर इसका 'तिखिण' रूप भी हिन्दी मे प्रचलित हो गया। इसी प्रकार 'चन्द्र' शव्द का 'चाँद' और 'इन्द्र' का इन्द/ईद वनना चाहिए, पर प्रयुक्त होते है चन्दर, इन्दर आदि। 'कृष्ण' शव्द का 'किशन' पर्याप्त मात्रा मे प्रचलित है। वरसा, विसणु, सुरसती आदि अनेक शव्द उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है।

सस्कृत भापा मे व्यञ्जनो को सुरक्षित रखने तथा दो स्वरो को साथ-साथ न आने देने की प्रवृत्ति इस भाषा की सर्वज्ञात प्रवृत्ति है। यद्यपि सस्कृत-प्रियता की इस प्रवृत्ति का उन्मेप तो मुगल शासनकाल से ही प्रारम्भ हो गया

था, क्योकि यह काल भी सांस्कृतिक संघर्ष का काल कहा जा सकता है, तथापि इसकी दुर्बलता यह रही कि राजनैतिक दृष्टि से हम अति शीघ्र ही धराशायी हो गए और यह प्रवृत्ति जनसाधारण तक न पहुँच सकी। फलतः उदीयमान भाषाओ पर जो उचित प्रभाव उस समय पड़ना चाहिए था, वह नही पड़ सका। बीसवी शताब्दी की कहानी इससे पूर्णतः भिन्न रही। एक तरफ साहित्यकार एवं समाज सुधारक सांस्कृतिक पुनरुत्थान में तल्लीन थे, दूसरी ओर बालगंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष पूर्ण स्वराज्य की मांग प्रस्तुत कर रहे थे। उस युग मे और इस युग जो सैद्धान्तिक अन्तर था, वह यह था कि मध्यकाल धार्मिक सघर्ष का युग था और उसके प्रतिनिधि थे केवल आभिजात्य वर्ग के लोग, जो जनसाधारण को स्वय कोई महत्त्व देने को तैयार न थे, परन्तु इस युग के महापुरुष समस्त जनता में एक नई चेतना की लहर दौड़ा देना चाहते थे। प्रत्येक व्यक्ति को समान स्तर पर ले आना चाहते थे। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि हम समस्त दबावो से मुक्त होना चाहते थे और इस मुक्ति का सबसे बड़ा अस्त्र था प्राचीन गौरव। उपरिकथित दोनों महापुरुष सस्कृत ग्रन्थो एव उसकी सस्कृति को लेकर ही आगे बढ रहे थे। गीता के प्रति इनकी श्रद्धा इसका सबल प्रमाण है। अत. सास्कृतिक पुनरुत्थान की इस प्रवृत्ति को आधुनिक भाषाओ के ध्वनि-विकास का मूल कारण कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति ने भाषा की ध्वनियो को विकसित करने की निम्न प्रणालियो को जन्म दिया—(१) द्वित्व को समाप्त करना; (क) पूर्व स्वर को दीर्घ बनाकर, (ख) बिना पूर्व स्वर को दीर्घ किये ही। (२) महाप्राण ध्वनियो की सुरक्षा (केवल उन भाषाओ मे जो विशेषकर बीसवी शताब्दी मे अत्यधिक मात्रा मे विकसित हुई)। (३) स्वरभक्ति (विशेषकर अर्धतत्सम शब्दावली मे)। (४) समीकरण की प्रणाली। (५) विपर्यय की प्रणाली।

एकादश अध्याय

हिन्दी भाषा का रूपात्मक विकास

प्राचीन भारत में भाषा-अध्ययन के प्रकार—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात—संज्ञा, वचन, लिङ्ग, कारक, परसर्ग—सर्वनाम—विशेषण—आख्यात—धातु—सिद्ध और साधित—अकर्मक, सकर्मक, प्रेरणार्थक और नामधातुओं का विकास—काल विस्तार—कृदन्त काल और तिङन्त काल—पूर्वकालिक क्रियायें; क्रियात्मक संज्ञायें; संयुक्त क्रियायें; उपसर्ग से तात्पर्य, तद्भव उपसर्ग—अव्यय—क्रिया विशेषण, और अन्य अव्यय।

प्राचीन भारत में भाषा-अध्ययन के प्रकार

प्राचीन भारत मे भाषा के अध्ययन को तीन भागो मे विभाजित किया गया था : (१) शिक्षा, (२) निरुक्त और (३) व्याकरण। शिक्षा मे भाषा की ध्वनियो पर, निरुक्त मे शब्दो की व्युत्पत्ति पर और व्याकरण मे शब्द के रूपो पर विचार किया गया है। आज की पद्धति के अनुसार शिक्षा को ध्वनि-विज्ञान, निरुक्त को व्युत्पत्ति-विज्ञान और व्याकरण को रूप-विज्ञान की सज्ञा दी जा सकती है। भाषा के रूपात्मक अध्ययन मे उसके प्रकृति और प्रत्यय का, अथवा यो कहिये कि उसके अर्थतत्त्वो एव सम्बन्धतत्त्वो का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इन्ही तत्त्वो का सयोग और वियोग भाषा के रूप का निर्माण करता है। किन्ही भाषाओ मे दोनों तत्त्व मिले हुए होते है और किन्ही मे ये पृथक्-पृथक् रहते है, अथवा कुछ सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व से मिल जाते है, कुछ पृथक् ही रहते है। इन सब बातों एव इनके कारणो का विश्लेषण करना ही भाषा का रूपात्मक अध्ययन होता है। इसे दो रूपो मे प्रस्तुत किया जाता है : (१) विश्लेषण और (२) विकास। विश्लेषण मे आलोच्य भाषा के उक्त तत्त्वो की उस भाषा मे क्या स्थिति है ? उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके स्थान का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। विकास मे इन तत्त्वो के मूल रूपो का अध्ययन कर यह भी देखा जाता है कि इन्हे प्रस्तुत रूप, स्थिति एव स्थान प्राप्त करने मे कितने उत्थान-पतनो का साम्मुख्य करना पडा है। प्रस्तुत अध्ययन मे हम हिन्दी भाषा के रूप का इन दोनो दृष्टिकोणो से ही विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

महर्षि यास्क ने समस्त शब्दो को चार भागो मे विभाजित किया है; यथा—'नामाख्याते-चोपसर्गनिपाताश्च' अर्थात् (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, और (४) निपात। नाम के अन्तर्गत तीन प्रकार के शब्दो की गणना की जाती है—(१) सज्ञा, (२) सर्वनाम, और (३) विशेषण। आख्यात के अन्तर्गत क्रियापद आते है। उपसर्ग, शब्द के आदि मे लग कर अर्थ मे परिवर्तन प्रस्तुत करते है। 'निपात' के अन्तर्गत अव्यय शब्द लिये जाते है। नाम के अन्तर्गत शब्द के दो रूप बनाये गये है—(१) प्राति-पदिक और (२) पद। प्रातिपदिक वे शब्द होते है जो अर्थवान् है, पर न धातु है और न प्रत्यय। इसके साथ-साथ कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त (समास युक्त) शब्द भी प्रातिपदिक ही होते है। महामुनि पाणिनि ने इसके लिए दो सूत्र प्रस्तुत किये है—(१) अर्थवदधातुरप्रत्ययः

प्रातिपदिकम् ।[1] (२) कृत्तद्धितसमासाश्च ।[2] आधुनिक शैली मे प्रातिपदिक को अर्थतत्त्व कहा जा सकता है। 'पद' उसे कहते है जब प्रातिपदिक के साथ 'सुप्' (विभक्ति प्रत्यय) प्रत्यय जोड दिये जाते है। इसी प्रकार 'धातु' के साथ 'तिङ्' प्रत्यय जोड देने पर 'धातु' की भी 'पद' संज्ञा हो जाती है।[3] चूंकि हिन्दी प्रयोगात्मक भाषा है, इसलिए इसमें 'पद' की वैसी व्यवस्था नही है, जैसी सस्कृत भाषा मे। अत: इसमें सभी के लिए 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'नाम' शब्दो का प्रयोग तीन वचनों, तीन लिङ्गों एवं आठ कारको मे किया जाता है। संज्ञा शब्दो मे प्रत्येक शब्द का लिङ्ग निश्चित है; यथा—देव, (पुल्लिङ्ग); लता (स्त्रीलिङ्ग); फल (नपुसकलिङ्ग) प्रत्येक लिङ्ग के शब्द एकवचन, द्विवचन और बहुवचन मे यथास्थिति प्रयुक्त होते है। आठो कारको में भिन्न-भिन्न विभक्ति-प्रत्ययो के सहयोग से इनका रूप निर्माण होता है और प्रत्येक कारक तीन वचनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार एक शब्द के कुल मिलाकर '२४' रूप बनते है। सर्वनाम एव विशेषण शब्दो की स्थिति इनसे कुछ भिन्न है। 'अस्मद् तथा युष्मद्' सर्वनाम शब्दों को छोड़कर जो तीनो लिङ्गो मे समान रूप रहते हैं; शेष सर्वनाम एव विशेषण शब्द त्रिलिङ्गी है अर्थात् एक शब्द के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग तीनो लिङ्गो मे चलते है; यथा 'तद्' शब्द लीजिये—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
पुल्लिङ्ग—कर्ताकारक	स:	तौ	ते
स्त्रीलिङ्ग—कर्ताकारक	सा	ते	ता:
नपुसकलिङ्ग—कर्ताकारक	तत्	ते	तानि

इसी प्रकार सस्कृत मे विशेषण शब्दो का लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि 'नाम' शीर्षक के अन्तर्गत (१) वचन, (२) लिङ्ग, और (३) कारको का अध्ययन भी अपेक्षित है।

संज्ञा—सज्ञा शब्द किसी व्यक्ति, जाति और उनके समूह तथा भाव का द्योतन कराते है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ मे संज्ञा शब्द दो रूपो में उपलब्ध होते है; एक तो स्वरान्त और दूसरे व्यञ्जनान्त। मध्यकालीन भाषाओं मे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वरो के प्रति अनुराग और

---

1 अष्टाध्यायी, १/२/४५।

2 वही, १/२/४६।

3 सुप्तिङन्त पदम्—पाणिनि अष्टाध्यायी, १/४/१४।

व्यञ्जनो के प्रति विरक्ति का भाव आ गया था, इसलिए केवल स्वरान्त प्रातिपदिक ही मिलते है। इन भाषाओ ने संस्कृत प्रातिपदिको के अन्त्य व्यञ्जन का लोप कर अथवा उनमे स्वर का आगम कर, सभी प्रातिपदिको को स्वरान्त बना डाला। यह स्थिति अपभ्रंश काल के अन्तिम समय तक प्रचलन मे रही, परन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे पुन. व्यञ्जन-प्रियता का उन्मेष हुआ और पदान्त स्वर (अ) के लोप की प्रवृत्ति चल पड़ी। यद्यपि लेखन मे अभी इस प्रवृत्ति के दर्शन नही हुए है, किन्तु उच्चारण एव प्रयोग से इसकी पुष्टि भली प्रकार हो रही है और हिन्दी भाषा को इनकी अग्रणी कहा जा सकता है। अतः हिन्दी के प्रातिपदिकों को भी दो भागो मे बाँटा जा सकता है, (१) स्वरान्त और (२) व्यञ्जनान्त। अकारान्त शब्दो (लेखन मे) को छोडकर अन्य समस्त शब्द स्वरान्त कहे जा सकते है; यथा—

(१) स्वरान्त शब्द :

आकारान्त—घोडा, माता, पिता, कुल्हाड़ा, जनता आदि।

इकारान्त—भक्ति, शक्ति, रीति, नीति आदि (इकारान्त शब्द प्रायः तत्सम ही मिलते है)।

ईकारान्त—चाची, चक्की, गड़ी, रानी, दही, मथानी आदि।

उकारान्त—धेनु, भानु आदि (उकारान्त शब्द भी प्राय· तत्सम ही मिलते है)।

ऊकारान्त—कालू, झगड़ालू, नक्कू, उल्लू आदि।

एकारान्त—चौबे, पाण्डे, दुबे आदि।

सूचना—ऐकारान्त, ओकारान्त शब्दो का प्राय. अभाव सा ही है। हाँ, कतिपय शब्द; जैसे कै (वमन); प्यानो (अग्रेजी शब्द) आदि देशज और विदेशज शब्दो का प्रयोग अवश्य देखने मे आता है।

औकारान्त—जौ, सौ, बौ आदि कुछ शब्द ही मिलते है।

(२) व्यञ्जनान्त शब्द :

हिन्दी के समस्त अकारान्त शब्द व्यञ्जनान्त कहे जा सकते हैं; यथा—नाक्, राख्, साग्, बाघ्, छाछ्, आँच् आदि।

वचन—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ मे तीन वचनो का प्रयोग मिलता है। प्राचीन समय मे 'दो' सख्या को बहुवचन क्यो नही माना जाता था और तीन सख्या से ही बहुवचन का प्रारम्भ क्यों होता था? इस पर अभी तक विद्वानो का ध्यान सम्भवत. नही गया है। यह विषय अवश्य ही विचारणीय है। इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य रहा होगा, जो अभी तक हमारी दृष्टि से

अलक्षित है। मध्यकाल में आते-आते द्विवचन का अस्तित्व समाप्त हो गया और केवल 'एकवचन और वहुवचन' दो वचन ही शेप रह गये। हिन्दी भापा ने मध्यकालीन भाषाओं का ही अनुसरण कर दो वचनो (एकवचन, वहुवचन) की स्थिति को ही वनाये रखा। वचनो के क्षेत्र में एक वात और विचारणीय है। प्राचीन काल मे कुछ मात्रा मे मध्यकाल मे भी वचनों का भाग्य विभक्ति-प्रत्ययों के साथ अधिक जुडा हुआ था; यथा—कर्ता-कारक के वहुवचन का रूप कुछ और होता था और कर्म-कारक का कुछ और। हां! सम्प्रदान और अपादान कारकों मे अवश्य ही इनका रूप समान रहता था। प्राकृतो में यह केवल तीन वर्गों मे विभाजित हो गया और हिन्दी तक आते-आते 'वचन' ने अपना रूप स्थिर कर लिया और कुछ ऐसे प्रत्ययो का निर्माण हो गया, जो प्रत्येक कारक मे उपस्थित रहने लगे। संक्षेप मे कह सकते है कि 'वचन' ने सरलीकृत रूप धारण कर लिया।

प्राचीन भारतीय आर्य भापाओ के वचनों की कुल मिला कर २० की औसत निकाली जा सकती है, जो घिसती-पिटती आधुनिक भारतीय आर्य भापाओ तक ४/५ तक ही रह गई। हिन्दी इसमे सव से सरल है। हिन्दी मे वचन सूचक केवल पाँच प्रत्यय है, जिनका प्रयोग भी अत्यन्त सरल है। वचन के दो रूप है एक ऋजु और दूसरा तिर्यक्। इन दोनों आधारो पर इन प्रत्ययो का प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है—

प्रातिपदिक	ऋजु रूप		तिर्यक् रूप	
	एकवचन	वहुवचन	एकवचन	वहुवचन
आकारान्त पुल्लिङ्ग	शून्य	ए	ए	ओं (अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है)
ईकारान्त पुल्लिङ्ग	शून्य	शून्य	शून्य	यो
स्वरान्त व व्यञ्जनान्त (पुल्लिङ्ग)	शून्य	शून्य	शून्य	ओं (अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है)

सूचना—ईकारान्त और ऊकारान्त प्रातिपदिक जव वहुवचन मे प्रयुक्त होते है, तव क्रमशः इकारान्त और उकारान्त हो जाते है; यथा—'हाथी' का 'हाथियो' (व. व.) 'उल्लू' का 'उल्लुओं' आदि। स्त्रीलिङ्ग में भी यही नियम लागू होता है।

प्रातिपदिक	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
इकारान्त, ईकारान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	याँ	शून्य	यों
ऐकारान्त, ओकारान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	शून्य	शून्य	ओं
शेष स्वरान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	एँ	शून्य	ओं
व्यञ्जनान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	एँ ('अ' लोपहो जाता है, लेखन के अनुसार)	शून्य	ओ (अ लोप)

उपर्युक्त चक्र को दृष्टि मे रखते हुए विशुद्ध भाषा-वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार हम कह सकते है कि हिन्दी मे केवल पाँच प्रत्यय वचन सूचक हैं; यथा—(१) ए, (२) एँ, (३) आँ (४) ओ, (५) ए/'य्' श्रुति का आगम प्रातिपदिक मे वर्तमान 'इ, ई' के कारण हो जाने से इनमे 'यों, याँ' दिखने लगते है और इसी आधार पर इन्हे पाँच कहा गया है।

प्रत्ययों का विकास—एकवचन का सूचक प्रत्यय केवल 'ए' है जो तिर्यक रूप मे प्रयुक्त होता है और शेष शून्य प्रत्यय होते है।

शून्य प्रत्यय—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'सु' प्रत्यय से इसका विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे कर्ता-कारक एकवचन में 'सु' को विसर्ग हो जाती है। यही विसर्ग प्राकृत काल में 'ओ' और अपभ्रंश काल में 'उ' के रूप मे सामने आती है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे पदान्त स्वर-लोप के नियम के अधीन 'उ' का लोप कर दिया जाता है और इस प्रकार शून्य प्रत्यय निष्पन्न होता है। वैसे कर्ता-कारक एकवचन मे व्यञ्जनान्त शब्दों मे तथा आकारान्त और ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दो में शून्य प्रत्यय का प्रारम्भ हो गया था, जो अपभ्रंश काल में आकर अपनी चरम परिणति मे दृष्टिगत होता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे, विशेषकर हिन्दी मे, प्रायः सभी प्रातिपदिको और कारको के एकवचन मे शून्य प्रत्यय का प्रयोग इस प्रवृत्ति की लोक-प्रियता का सूचक है।

'ए'—हिन्दी मे आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के एकवचन मे तिर्यक् रूप के लिए 'ए' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वान् लोग सप्तमी

के सर्वनाम रूप 'स्मिन्' से मानते है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल मे 'कर्म, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण' आदि कारकों में 'हि' का प्रयोग होने लगा था। आगे चल कर 'ह' लोप की प्रवृत्ति ने अकारान्त शब्दो के साथ 'इ' का प्रयोग ही प्रारम्भ कर दिया और यही 'अइ' आगे चल कर 'ए' प्रत्यय के रूप में सामने आया; यथा—स्मिन्>हि/हिं>इ>अ+इ=ए।

बहुवचन प्रत्यय :

'एँ'—इस प्रत्यय का विकास नपुसक रूप 'आनि' (कर्ता, कर्म वहुवचन) से हुआ है; यथा—(स.) आनि>म. भा. आ. आइँ>हि. एँ।

'आँ'—इसका विकास भी नपुसक लिङ्ग के वहुवचन रूप 'आनि' से ही हुआ है। (स.) आनि>(म. भा. आ.) आइँ>(हि.) आँ।

'ओं'—इसका विकास सस्कृत सम्बन्ध कारक वहुवचन के प्रत्यय 'आनाम्' से बताया जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ को इसके घिसे हुए रूप के साथ 'हु' भी लगाया जाने लगा और इस प्रकार हिन्दी का 'ओं' प्रत्यय सामने आया; यथा—

(सं) आनाम्>(म. भा. आ.) आनं>आणं+हु>अउँ>(हिं.) ओं।

'ए'—इस प्रत्यय के विकास मे विद्वानो का मतभेद है। हार्नले ने विकारी एकवचन के प्रत्यय 'ए' को ही वहुवचन मे प्रयुक्त माना है, परन्तु डॉ. चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति करण कारक के वहुवचन प्रत्यय 'एभिः' से करते है; यथा—

(स.) एभि·>(म भा. आ.) अहि/अही>(अप.) अइ>(हि) ए।

'लिङ्ग'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ मे तीन लिङ्ग पाये जाते है; (१) पुल्लिङ्ग, (२) स्त्रीलिङ्ग और (३) नपुसकलिङ्ग। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे भी तीन ही लिङ्ग है, परन्तु ऐसा लगता है कि अपभ्रश काल तक आते-आते लिङ्ग व्यवस्था कुछ शिथिल हो गई थी। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने इसका संकेत दिया है।[4] अपभ्रश मे पुल्लिङ्ग शब्दो का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मे होने लगा था और इन लिङ्गो का पुल्लिङ्ग मे। इस प्रकार कुछ आपसी घोल-मेल होने लग गया था · इस पारस्परिक मिश्रण ने ही सम्भवतः नपुसकलिङ्ग की जड़े हिला दी और गुजराती, मराठी आदि भाषाओ को छोड कर शेष आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ ने नपुसकलिङ्ग का पल्ला छोड़ दिया। हिन्दी मे केवल दो लिङ्ग है—(१) पुल्लिङ्ग और (२) स्त्रीलिङ्ग।

---

[4] लिङ्गमतन्त्रम्, हेमशब्दानुशासन, सूत्र सख्या ४४५।

हिन्दी भाषा की लिङ्ग व्यवस्था को लेकर विद्वत्समाज मे बड़ी आलोचना एवं प्रत्यालोचना होती है। उनका कहना है कि हिन्दी की लिङ्ग व्यवस्था ठीक नही है। इसमे एक शब्द पुल्लिङ्ग है और उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द स्त्रीलिङ्ग। इसी प्रकार समान धर्म का सूचक एक शब्द पुल्लिङ्ग और दूसरा स्त्रीलिङ्ग। साथ ही यह भी कहना है कि हिन्दी की क्रियाओ मे भी लिङ्ग घुसा हुआ है। अन्य भाषाओ में ऐसा नही है। इन तीनों तर्कों को यदि हम युक्ति की कसौटी पर कसते हैं, तो खरे नही उतरते। कारण स्पष्ट है कि ये तर्क अध्ययन के आधार पर नही, बल्कि हिन्दी भाषा का मजाक उड़ाने के लिये कहे जाते हैं। इससे पूर्व कि इन तर्कों का उत्तर दिया जाय, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'लिङ्ग' का अर्थ होता है चिह्न। इन चिह्नो का निर्धारण दो प्रकार से होता है, एक प्रकृति के द्वारा और दूसरा व्याकरण के द्वारा। पहले को 'लौकिक लिङ्ग व्यवस्था' और दूसरे को 'व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था' कहते हैं। लोक के अनुसार पुरुष चिह्नों से युक्त चेतन तत्त्व पुल्लिङ्ग और स्त्री चिह्नों से युक्त चेतन तत्त्व स्त्रीलिङ्ग और अचेतन पदार्थ नपुंसक लिङ्ग होता है। लेकिन भाषाएँ इस व्यवस्था से निर्देशित नही हो सकती। अत: उसमे व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था को महत्त्व मिलता है। वैयाकरण लोक-व्यवस्था को दृष्टि मे रखता हुआ अन्य दूसरे उपादानो से भी संचालित होता है; यथा—(१) व्याकरणिक प्रत्यय, (२) वस्तुओ का धर्म, (३) अन्य भाषाओ का प्रभाव। इन सब का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि भाषा मे लिङ्ग निर्धारण ठीक नही बैठता है, तो कहा जा सकता है कि अमुक भाषा मे कही न कही कोई न कोई अव्यवस्था है। हिन्दी भाषा के लिये कहा जा सकता है कि इसमे कही पर लिङ्ग व्यवस्था दूषित नही है।

अब उपर्युक्त तर्कों पर विचार कीजिये कि वे कहाँ तक युक्तिसंगत हैं। दो शब्द हैं, एक 'पुस्तकम्' और दूसरा 'ग्रन्थ'। एक नपुसक लिङ्ग है, दूसरा पुल्लिङ्ग। क्या कारण है कि एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले ये दो शब्द भिन्न लिङ्गी है। उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम मे 'कन्' प्रत्यय लगा है, जो नपुसक लिङ्ग शब्दो का भी निर्माण करता है और दूसरे मे 'घञ्' प्रत्यय है, जो पुल्लिङ्ग शब्दो का निर्माण करता है और यही कारण है कि दोनो शब्दो का एक अर्थ होते हुए भी लिङ्ग भिन्न-भिन्न है। अब ये शब्द मंजिल तय करते हुए हिन्दी मे भी आए। 'ग्रन्थ' शब्द का लिङ्ग वही रहा, पर 'पुस्तक' स्त्रीलिङ्ग बन बैठी। सस्कृत मे उक्त अर्थ के लिए एक शब्द और आता है, और यह है, 'पुस्ती', जिसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने 'पुत्थी' रूप मे स्वीकार किया और हिन्दी मे 'पोथी' बना। उक्त शब्द सस्कृत में स्त्रीलिङ्ग था। अत: इसका तद्भव रूप भी स्त्रीलिङ्ग ही रहा और इसके पश्चात् सांस्कृतिक

पुनरुत्थान ने 'पुस्तक' 'शब्द दिया तो हिन्दी मे नपुंसक लिङ्ग के अभाव के कारण इसे 'पोथी' के यहाँ आश्रय मिला और स्त्रीलिङ्ग बन बैठा। इसी प्रकार अन्य शब्दो को भी समझा जा सकता है। यही स्थिति समानधर्मी शब्दो की भी है। जहाँ तक क्रियाओ मे लिङ्ग व्यवस्था की बात है, वह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। हिन्दी भाषा संस्कृत भाषा का विकसित रूप है। संस्कृत मे क्रियाओ के दो रूप प्रचलित थे, एक तिडन्त और दूसरा कृदन्त। संस्कृत मे तिडन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था नही है, अर्थात् वे सभी लिङ्गो मे एकरूप रहते हैं; यथा—स चलति, सा चलति आदि। कृदन्त रूपो के साथ लिङ्ग व्यवस्था है; यथा—तेन खादित', तया पक्वालु: (आलू की टिकिया) द्राक्षा च (अंगूर) खादिता। ठीक यही स्थिति हिन्दी की भी है। जो शब्द (क्रिया) तिडन्त रूपो से विकसित होकर आये हैं, उनके लिए लिङ्ग का झगडा नही है और जो कृदन्तो से विकसित होकर आये है उनके लिए लिङ्ग का ध्यान रखना परमावश्यक है; यथा—सीता खाये, राम खाये। इनमे 'खाये' क्रिया सस्कृत की 'खाद्' धातु के विधिलिङ्ग का विकसित रूप है, अत. लिङ्ग की उलझन नही है। परन्तु जब हम कहते है, 'सीता खाती है' तो कहना पडेगा कि 'राम खाता है'। 'खाना' क्रिया मे लिङ्ग का निर्धारण कर्ता के अनुसार हो गया। कारण स्पष्ट है कि इसका विकास सस्कृत के 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्त 'खादत्' से हुआ है। अब तुलना कीजिये—

हिन्दी	संस्कृत
सीता खाये	सीता खादेत्
राम खाये	रामः खादेत्
सीता खाती हुई है	सीता खादन्ती अस्ति (यद्यपि अर्थ मे कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी)
राम खाता हुआ है	रामः खादन् अस्ति।

हिन्दी में लिग निर्धारण की प्रणाली—हिन्दी भाषा मे लिङ्ग निर्धारित करने से पूर्व हमे उसके शब्दकोश पर विचार करना चाहिये। हिन्दी मे मुख्यत: पाँच प्रकार के शब्द मिलते है—(१) तत्सम, (२) अर्ध तत्सम, (३) तद्भव, (४) देशज और (५) विदेशज—

(क) अरबी, फारसी, तुर्की,

(ख) अग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली।

(१) तत्सम शब्द—तत्सम शब्दो का लिङ्ग वही है, जो उनका संस्कृत मे था। केवल नपुसक लिङ्ग शब्द हिन्दी मे पुल्लिङ्ग हो गये है। कुछ नपुसक लिङ्ग शब्द अवश्य ऐसे है, जो हिन्दी मे आकर स्त्रीलिङ्ग भी हुए है; जैसे—वस्तु, शरण, दधि आदि। इन पर क्रमश. अन्य शब्दो का प्रभाव दिखाई देता है;

यथा—'वस्तु' पर 'चीज' का, 'शरण' पर 'पनाह' का और 'दधि' के विकसित रूप 'दही' पर 'छाछ' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा संस्कृत तत्सम शब्दावली मे प्राकृतिक लिङ्गो को छोड़ कर आकारान्त ईकारान्त, 'क्तिन्' प्रत्ययान्त तथा 'ता' प्रत्ययान्त शब्द हिन्दी मे स्त्रीलिङ्ग होगे; शेष सब शब्द पुल्लिङ्ग। संस्कृत के 'घञ्' प्रत्ययान्त तथा ल्यु (अन) प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होंगे; यथा—हास, नाश, लाभ, काल और करण, भरण, तरण आदि।

अर्ध तत्सम शब्द—इन पर भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा, किन्तु तब तक, जब तक उनके साथ हिन्दी का कोई कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्यय न लगाया गया हो; क्योकि इन प्रत्ययो के लगने पर लिङ्ग परिवर्तन का अवसर उपस्थित हो सकता है। यथा—(सं.) चातुर्य (नपुसक) (हि.) चतुराई (स्त्रीलिङ्ग)। यहाँ पर हिन्दी का तद्धित 'आई' प्रत्यय लगने से उक्त शब्द स्त्रीलिङ्गवाची हो गया।

तद्भव—तद्भव शब्दों ने [जहाँ तक अन्य भाषाओ का प्रभाव और हिन्दी तद्भव प्रत्ययों के योग से दूर रहे है, वहाँ तक] अपने तत्सम रूपों के लिङ्गों को ही बनाये रखने का प्रयत्न किया है। हिन्दी प्रत्ययो के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है—जिस शब्द के साथ तद्धित प्रत्यय 'पन, पा, ना, अन्त, इला, अन, अता, अक्कड' आदि का प्रयोग होगा, वे पुल्लिङ्ग होगे। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हो सकते है; यथा—लडकपन, बुढ़ापा, ढकना, गढन्त, रंगीला, चलन, उडता, घुमक्कड़ आदि। इसी प्रकार जिन शब्दो के साथ, अती, ती, वट, हट, आई, आरी, आल्, आवनी, आस, आइन, इन, अक, इक, उक, जी, डी, ती, थी आदि प्रत्यय युक्त शब्द प्राय: स्त्रीलिङ्ग होगे। ऐसे ही अन्य प्रत्ययो को भी लिङ्गानुसारी उपस्थित किया जा सकता है।

देशज/विदेशज—इन शब्दों का लिङ्ग भी इनकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही हिन्दी में अपनाया गया है; अन्य शब्दो के प्रभाव से युक्त शब्दो को छोड कर।

उपर्युक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा मे अनेक स्रोतो से शब्दो का आगमन हुआ है और वे अपने साथ, रूप के साथ-साथ अपने लिङ्ग और वचन भी लेकर आये और हिन्दी भाषा ने अपनी उदारनीति के कारण उन्हे उसी रूप मे स्वीकार भी कर लिया। अत: हिन्दी भाषा के विद्यार्थी को इन बातो का ध्यान भी रखना पड़ेगा।

स्त्रीलिंग निर्माता प्रत्यय—स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले केवल सात प्रत्यय हिन्दी मे पाये जाते है। (१) आ, (२) ई, (३) आनी, (४) नी, (५) इन, (६) आइन और (७) इया।

'आ'—यह प्रत्यय अधिकतर तत्सम शब्दो मे पाया जाता है। संस्कृत मे

इस प्रत्यय को 'टाप्' की संज्ञा दी है। 'अजाद्यतस्टाप्' सूत्र पुल्लिङ्ग शब्दों मे 'आ' बढा कर स्त्रीलिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है। हिन्दी मे अन्य उद्गम से भी यह प्रत्यय आया है, जो विशेषण शब्दो का निर्माण करता है; यथा—प्यासा, भूखा, रूखा, सूखा आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द; यथा—बाला, अजा, अध्यापिका आदि।

'ई'—यह भी संस्कृत का 'ङीप्' प्रत्यय है जो संस्कृत 'ई' के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी मे यह सबसे अधिक लोक-प्रिय प्रत्यय है। तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव शब्दों में भी इसका प्रयोग धडल्ले के साथ किया जाता है। क्रियाओं का तो एकमात्र प्रत्यय यही है; यथा—खाती, जाती, रोती, बैठती आदि। तद्भव शब्द; यथा—कुल्हाडी, चाची, मामी, दादी, कुबडी (सं. कुब्जा), घोड़ी आदि। अन्य उद्गम से आया हुआ 'ई' प्रत्यय पुल्लिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है; यथा—माली, धोबी, तेली आदि व्यापार सूचक शब्द।

'आनी'—यह प्रत्यय भी सस्कृत से निसृत है। सस्कृत मे भवानी, रुद्राणी, इन्द्राणी आदि अनेक शब्द स्त्रीलिङ्गवाची मिलते है। अतः इन तत्सम शब्दों के आधार पर तद्भव शब्दों मे भी इसका प्रयोग चल पड़ा; यथा—देवरानी, जेठानी, कुँवरानी आदि।

'नी'—संस्कृत में 'इनी' प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से मिलता है और उन तत्सम शब्दो का प्रयोग मध्यकाल मे भी कुछ विकास के साथ चलता रहा, पर अपभ्रंश तक आते-आते 'इ' अपनी सत्ता खो बैठी और केवल 'नी' शेष रह गया। 'इ' ध्वनि के लोप के उदाहरण 'कृत' 'क्त' प्रत्यय मे भी लक्षित किये जा सकते है। अतः हम कह सकते है कि 'नी' 'इनी' का ही विकसित रूप है। तत्सम शब्द, यथा—भट्टिनी, बिसिनी, भामिनी, कामिनी, लेखिनी आदि। तद्भव शब्द; यथा—मोरनी, ऊँटनी, जाटनी, शेरनी, कुलच्छनी।

'इन'—यह प्रत्यय भी सस्कृत 'इनी' के अन्त्य स्वर का लोप होकर हिन्दी मे आया है। इसका तद्भव रूप भी मिलता है और हिन्दी मे अपनी ओर से भी लगा दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत मे जिस शब्द के साथ 'इनी' न लगकर कोई और प्रत्यय लगा हुआ है, वहाँ हिन्दी मे 'इन' लगा दिया गया है। तद्भव रूप मे विकसित शब्द; यथा—(स) भगिनी>(प्राकृत) बहिणी>(अपभ्रश) बहिणी>(हिन्दी) बहिन; (स.) योगिनी>(प्रा) जोगिणी>(अपभ्रश) जोगिणी>(हि.) जोगिन आदि। सस्कृत से भिन्न शैली मे प्रयुक्त प्रत्यय वाले शब्द—(स.) नापिती>(हि.) नाइन, (स.) धौतिका>(हि) धोबिन, (सं.) साध्विका>(हिन्दी) साधण/साधनी।

'आइन'—यह प्रत्यय भी 'इनी' का ही विकसित रूप है जो हिन्दी मे जाति-

वाचक शब्दों मे प्रयुक्त होता है; यथा—ठकुराइन, पण्डिताइन (स. पण्डिता), वनियाइन आदि ।

'इया'—इया प्रत्यय भी स्त्रीलिङ्ग शब्द वनाने मे काम आता है । इसका विकास सम्भवतः सस्कृत प्रत्यय 'इका' से हुआ है । संस्कृत मे यह लघुता सूचक प्रत्यय था, जो स्त्रीलिङ्गवाची रहा है; (इका>इआ>इया) यथा—घटी>घटिका, मक्षी>मक्षिका, वाटी>वाटिका आदि । हिन्दी मे ऐसा क्रम है, पर इसके साथ कोमलता का भाव भी जोड दिया गया है। हिन्दी 'वाछा' (गाय का वच्चा) के दो स्त्रीलिङ्ग रूप प्रचलित है; (१) वाछी, (२) वछिया। इसी तरह गाय के लिए गइया (गैया) शब्द भी चलता है । मटका>(१) मटकी, (२) मटकिया आदि । लघुता के वोधन मे, पर पुल्लिङ्ग रूप मे ही; घड़ा>घड़िया (छोटा मटका), भाई>भइया (भैया); पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग; यथा—गढ>गढ़इया, लोटा>लुटिया आदि । ये शब्द लघुता का वोध भी कराते है।

'कारक'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ में कारको की सख्या आठ थी । अपभ्रश तक आते-आते यह सख्या तीन रह गई । हिन्दी मे केवल दो ही कारक है; (१) ऋजु, (२) तिर्यक् । प्रथम वे कारक जिनमे कारक चिह्नो[5] का प्रयोग नही होता और दूसरे वे जिनमे कारक चिह्नो का प्रयोग होता है; यथा—राम खाता है (ऋजु) । राम ने खाया (तिर्यक्) । प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे किसी न किसी रूप मे कारक विभक्तियाँ वर्तमान थी, पर हिन्दी तक आते-आते इनका स्थान कुछ शब्दाशो ने ले लिया और भाषाविदो ने उन शब्दांशो को 'परसर्ग' की सज्ञा दी । इन परसर्गो का स्थूल रूप उत्तरकालीन संस्कृत मे दिखाई पड़ने लगता है; यथा—कार्यस्य कृते, रामस्यार्थे, अस्मात् कारणात् आदि । धीरे-धीरे ये विकसित होते रहे और अपभ्रंश भाषा के व्याकरण मे हेमचन्द्राचार्य को इसकी पर्याप्त लम्वी सूची देनी पडी । सस्कृत एवं अपभ्रश (विशेषकर) के व्याकरण इस वात के साक्षी है कि इन परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ मे सविभक्तिक शब्द के साथ किया जाता था । इसका कारण यह हो सकता है कि प्रारम्भ मे विभक्ति-प्रत्यय पूर्णतः घिस तो नही गए थे, पर वे अपना पूर्ण अर्थ द्योतन कराने मे असमर्थ से होने लगे थे । इस प्रकार एक ओर तो ये प्रत्यय अपनी अर्थवोधन-शक्ति से हाथ धोते जा रहे थे और दूसरी ओर इनके रूप का भी क्षय होता जा रहा था । हिन्दी भाषा तक आते-आते कुछेक स्थानो को छोड़कर ये प्रत्यय पूर्णत. लुप्त हो गए और कारको का वोधन पूर्णतः परसर्गो के हाथ मे आ गया । अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की तुलना मे हिन्दी ने कम से कम परसर्गों

---

5 कारक चिह्नो का विवरण एव विकास नवम अध्याय मे दे दिया गया है।

को अपनाया। हिन्दी मे इन परसर्गो का प्रयोग प्रातिपदिक के साथ भी होता है और सविभक्तिक शब्दों के साथ भी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में कुछ विभक्ति-प्रत्यय अब भी अवशिष्ट है। ऋजु रूपों मे बहुवचन में केवल आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति-प्रत्यय अवशिष्ट है और वह भी कर्ता और कर्म कारक के द्योतन मे। तिर्यक् रूपो मे केवल आकारान्त एकवचन में ही विभक्ति-प्रत्यय के साथ परसर्ग प्रयुक्त होते है। शेष प्राति-पदिकों के साथ विभक्ति के स्थान पर परसर्गों से ही काम लिया जाता है; यथा—लड़के ने, लड़के को, लड़के से, लड़के के लिए आदि। अन्य रूप, यथा—राम ने, मुनि को, भानु से, पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहुवचन में समस्त प्रातिपदिक सविभक्ति होकर परसर्ग का आश्रय लेते है और तब अर्थबोध कराते है। स्त्रीलिङ्ग शब्दो मे ऋजु रूप के एकवचन मे सभी शब्द प्रातिपदिक रूप में ही रहते है, पर बहुवचन मे ऐकारान्त और ओकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति-प्रत्यय के साथ वाक्य मे प्रयुक्त होते है। जहाँ तक तिर्यक् रूपो का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन में प्रातिपदिक रूप रहते हैं और परसर्गो की सहायता से कारक-बोध कराते है। बहुवचन में समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति-प्रत्यय के साथ होते हैं और परसर्ग के माध्यम से कारक का बोध कराते है। सक्षेप मे यो कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल मे, जो विभक्ति-प्रत्यय कारक और वचन दोनों का बोध कराते थे, उन प्रत्ययों के घिसे हुए रूप जो हिन्दी मे मिलते है, वे अब केवल मात्र वचन का बोध कराने की ही सामर्थ्य रखते है। कारकों का बोध या तो स्थान के द्वारा, अथवा परसर्ग के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपो के द्वारा ही हिन्दी भाषा मे होता है।

परसर्गों के लिखने की समस्या—हिन्दीजगत् मे एक समस्या बड़े जोरों से चल रही है कि परसर्गो को शब्द के साथ जोड़कर लिखा जाए अथवा मूल शब्द से हटाकर पृथक् लिखा जाए। इसमे भिन्न-भिन्न विद्वानो के तीन मत है। एक तो वे जो परसर्गो को शब्द से सटाकर लिखने के हामी है, दूसरे वे जो परसर्गो को शब्द (मूल) से हटाकर पृथक् रूप में लिखने के समर्थक है और तीसरे वे जो सज्ञा शब्दो के साथ सटाकर और सर्वनाम शब्दो से हटाकर लिखना चाहते है। इन तीनो मतो में दूसरा मत मेरी बुद्धि मे अधिक समीचीन है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है, इस मत के मानने वालो के मस्तिष्क मे सस्कृत के विभक्ति प्रत्ययो का प्रभाव है और वे परसर्गों को भी विभक्ति प्रत्ययो की तरह प्रत्यय ही मानकर चलते है, जो कि उचित नही है। इन विद्वानो का तर्क है कि यदि हम परसर्गों को हटाकर पृथक् रूप मे लिखेगे तो सर्वनाम 'हमारा' को भी हम आरा, 'मेरा' को 'मे रा' और 'इसे' को 'इस ए' लिखना

पड़ेगा, जो कि अर्थवोध की दृष्टि से ठीक नही है। सम्भवतः यही डर तीसरे मत के समर्थको को भी है, इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गो को सटाकर लिखने की वात करते है। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दो मे प्रयुक्त 'आर' तथा 'ए' परसर्ग नही है, अपितु 'आर' तो सम्वन्ध-सम्वन्धी प्रत्यय है[6] और 'ए' विभक्ति-प्रत्यय है, जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दो मे वर्तमान है। अत इन्हे मूल शब्द से पृथक् लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। उधर परसर्ग प्रत्यय नही हैं, अपितु मूल शब्दो के घिसे हुए रूप है। अनेक परसर्ग तो अव भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व रखते हैं। अतः ऐसे शब्दो एव शब्दांशो के समास को छोड़कर कभी भी सटाकर नही लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्यो लिखे जाएँ ? इसके लिए एक सवल तर्क यही है कि अनेक वार मूल शब्द और परसर्ग के वीच मे हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते है और यह प्रयोग इस वात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अग नही। यथा—'राम ने कहा', राम ही ने कहा। 'राम से पूछा' तथा राम ही से पूछा आदि। मेरी दृष्टि मे परसर्गो को मूल शब्दो से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप मे ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

'ने' तथा 'को' परसर्गो का प्रयोग—हिन्दी मे अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते है, किन्तु 'ने और को' परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नही होते। अतः हिन्दी भाषा पर दोपारोपण किया जाता है कि हिन्दी मे अजीव वात है कि कही ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते है और कही नही होते, पर यह थोड़ा-सा समझ का ही फेर है; अन्यथा इनके प्रयोगो मे कोई उलझन नही है। जहाँ तक 'ने' परसर्ग के प्रयोग की वात है, यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदो मे सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और *अन्य स्थानो पर कर्ता-कारक मे 'ने' का प्रयोग* नही होता। यथा—राम खाता है, राम खायेगा, राम खाए; पर भूतकाल मे—राम ने खाया, राम ने खाया था, राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल मे भी 'ने' का प्रयोग नही होगा; यथा—राम हँसा, राम गया आदि। सकर्मक क्रिया मे भी 'वोलना, भूलना, वकना' क्रियाओ के साथ 'ने' नही लगेगा।

'को' 'कर्म-कारक' का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। 'को' परसर्ग के आधार पर डॉ. उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी मे नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है, पर यह उचित नही प्रतीत होता। डॉ. तिवारी ने उदाहरण दिये है—'धोवी को वुलाओ, गाय को खोल दो' आदि

---

6 "युष्मदादेरीयस्य डारः" हेमशब्दानुशासन, ८.४३४।

तो कहा जाता है, पर 'घास को काटो और कपड़ों को लाओ' नही कहा जाता है; क्योकि ये दोनो शब्द नपुसकलिङ्ग के द्योतक है। यहाँ विचारणीय है कि उपर्युक्त "घास" और "कपड़ा" शब्द नपुसकलिङ्ग नही है। 'घास' सस्कृत के 'घास.' से विकसित पुल्लिङ्ग शब्द है। प्राकृत मे भी 'घास' पुल्लिङ्ग है, फिर हिन्दी मे जहाँ नपुंसकलिङ्ग है ही नहीं तो फिर यह नपुसकलिङ्ग कैसे है? इसी प्रकार 'कर्पट.' शब्द सस्कृत मे 'पुल्लिङ्ग' है और प्राकृत में भी इसका तद्भव रूप 'कप्पड' पुल्लिङ्ग है। जहाँ तक 'को' परसर्ग के प्रयोगाभाव का सम्बन्ध है, वह क्रिया-कारण है; जैसे—'मैंने एक लड़का देखा' या 'मैंने एक लड़की देखी' दोनो वाक्यो मे 'को' परसर्ग का प्रयोग नही है, पर ये नपुंसकलिङ्ग भी नही है। 'को' न होने का कारण है 'हिन्दी का कर्मणि प्रयोग। जब इसका कर्तृ प्रयोग होगा तो 'को' आ जायेगा, यथा—हरि ने एक लड़की को देखा—कर्तृ प्रयोग। हरि ने लड़की देखी—कर्मणि प्रयोग। अत. कह सकते है कि कर्मणि प्रयोग और द्विकर्मक क्रिया के दूसरे कर्म को छोड़कर, सर्वत्र 'को' का प्रयोग होना चाहिये।

सर्वनाम—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे सर्वनामो की संख्या ३५ थी, जो घटते-घटते हिन्दी मे केवल दस रह गयी। हिन्दी के सर्वनाम सबसे सरल है। सस्कृत मे 'अस्मद् और युष्मद्' को छोड़कर सब सर्वनाम प्रायः त्रिलिङ्गी है, जबकि हिन्दी मे सर्वनामो मे लिङ्ग उलझन है ही नही; यथा—मैं जाता हूँ, मैं जाती हूँ, तुम जाते हो, तुम जाती हो, यह जाता है और यह जाती है, आदि।

हिन्दी मे सर्वनाम शब्दो को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया गया है—

(१) पुरुषवाचक, (२) सम्बन्धवाचक, (३) प्रश्नवाचक, (४) अनिश्चय वाचक और (५) निजवाचक।

(१) **पुरुषवाचक सर्वनाम**—व्यक्ति के साम्मुख्य और असाम्मुख्य को लेकर पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन भेद किये जाते है—(१) उत्तम पुरुष, (२) मध्यम पुरुप तथा (३) अन्य पुरुष।

उत्तम पुरुष—जो व्यक्ति किसी को कुछ कहता है, उस कहने वाले का अपने लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम कहलाता है; यथा 'मैं'। इसका बहुवचन होता है 'हम'। इसके भी दो रूप होते है (१) ऋजु और (२) तिर्यक्।
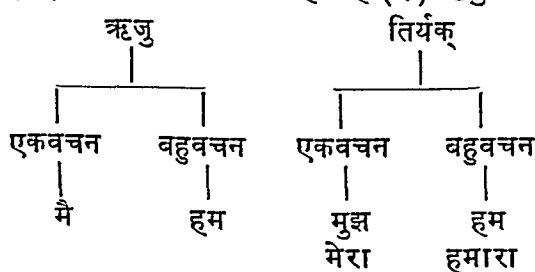
'मैं'—मैं की व्युत्पत्ति सस्कृत 'मया' शव्द से हुई है। अपभ्रंश मे तृतीया एकवचन का रूप 'मया' के स्थान पर मइ मिलता है, जो हिन्दी मे 'मैं' वन जाता है। अपभ्रंश मे यह करण कारक के साथ-साथ कर्म तथा अधिकरण कारक में भी प्रयुक्त होने लगा और हिन्दी मे यह कर्ता कारक के लिए ही स्वीकृत हो गया।

'हम'—हम की उत्पत्ति सस्कृत 'वयं' से न होकर वैदिक सस्कृत के 'अस्मे' शव्द से हुई है; यथा—(छा.) अस्म>(म.भा.आ.) अम्ह>हम। वीच मे एक रूप 'हम्म' को भी विद्वान् स्वीकार करते है, पर यह रूप कभी प्रयुक्त हुआ हो, यह संदिग्ध है।

'मुझ'—'मुझ' की उत्पत्ति सस्कृत 'मह्यम्' से हुई है; यथा (स.) मह्यम्> (म. भा. आ.) मज्झ >(हि.) मुझ।

'मेरा'—'मेरा' की उत्पत्ति 'मम केर' से की जाती है। पर मेरी दृष्टि मे इसकी व्युत्पत्ति 'महार' से की जाए तो उत्तम रहे, क्योकि 'मम केर' मे प्रथम सस्कृत शव्द है और दूसरा अपभ्रश। इस प्रकार से शव्द-निर्माण का प्रचलन पाया नही जाता। अतः इसकी व्युत्पत्ति यो सम्भव हो सकती है कि संस्कृत के सम्वन्ध-सम्वन्धी 'ईय्' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रश मे 'डार' प्रत्यय होता है। 'ड्' का लोप होने पर 'आर' वच जाता है और जव इसे पंचमी के साथ लगाते है तो 'महार' बनता है और 'ह' के लोप पर 'मेआर' वनेगा, जिससे स्वर-विपर्यय से 'मेअरा' 'मेरा' वन जायेगा। 'ए' के आदेश का जहाँ तक सम्वन्ध है, यह प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे प्रचलित हो गयी थी। आधुनिक मारवाडी मे सर्वत्र 'ह्' के लोप के पश्चात् उसके पूर्ववर्ती 'अ' को 'ऐ' कर दिया जाता है। कही-कही 'ए' भी मिलता है। यह मेरी दृष्टि मे अधिक वैज्ञानिक है, क्योकि द्वितीया और तृतीया मे इसका प्रयोग विशेषणवत् भी होता है।

'हमारा'—इसकी व्युत्पत्ति विद्वान् लोग 'अस्मकेर' से करते आये है, जो उचित नही। जव 'हम' की व्युत्पत्ति—'अम्ह' से मानी जाती है—तो 'हमारा' की व्युत्पत्ति अपभ्रंश 'अम्हार' से मानी जानी चाहिये। (अप.) अम्हार> हम्मार>(हि.) हमारा।

मध्यम पुरुष—मध्यम पुरुष वहाँ होता है जहाँ वक्ता श्रोता के लिए सर्वनाम शव्द का प्रयोग करता है; यथा—तू। वहुवचन होगा 'तुम' और तिर्यक् रूप होगे 'तुझ और तुम्ह' तथा 'तेरा और तुम्हारा'।

'तू'—'तू की उत्पत्ति सस्कृत 'त्व'>(म.भा.आ.) तुअ>(अप.) तुहं> (हि.) तू>(सा हि) तू' से हुई है। 'ह्' के लोप के कारण 'उ' का दीर्घ हो जाना अधिक वैज्ञानिक है।

'तुम'—'तुम' की व्युत्पत्ति प्राकृत 'तुम्ह' से 'ह्' के लोप होने पर निष्पन्न होती है।

'तुझ'—'तुझ' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'तुभ्यम्' से स्पष्ट रूप में हो सकती है; यथा—(सं) तुभ्यम्>(म भा.आ.) तुज्झ>(हि.) तुझ।

'तेरा'—'तेरा' की व्युत्पत्ति 'तवकेर' से दिखाई जाती है, पर मेरी दृष्टि में इसकी व्युत्पत्ति भी 'तुहार>तहार>तेरा' इस प्रकार होनी चाहिए।

'तुम्हारा'—इसकी व्युत्पत्ति 'युष्मकेर' से की जाती है। इसकी व्युत्पत्ति 'तुम्हार' (अपभ्रश) से अधिक उपयुक्त है।

अन्य पुरुष—जिसके सम्बन्ध मे वक्ता और श्रोता वार्तालाप करते है, उसके लिए प्रयुक्त किया गया सर्वनाम शब्द अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है; (१) समीपवर्ती और (२) दूरवर्ती। समीपवर्ती—यह, दूरवर्ती—वह। इनके बहुवचन क्रमश. 'ये और वे' होते हैं और तिर्यक् रूप—इस (एकवचन), इन (बहुवचन), उस (एकवचन), उन्ह, उन (बहुवचन) होते है।

'यह'—'यह' की उत्पत्ति सस्कृत 'एष.' से हुई है। सस्कृत 'एष': प्राकृत मे 'एसो' तथा अपभ्रश मे 'एहो' से 'ए' का 'य' होकर पदान्त स्वर-लोप से 'यह' बना है। (सं.) एष.>(प्रा) एसो>(अप.) एहो>(हि.) यह।

'ये'—'ये' की व्युत्पत्ति सस्कृत 'एते' से हुई है। सस्कृत 'एते' प्राकृत मे 'एए' मिलता है और अपभ्रश मे 'एह'; इसमे सम्भवत: 'य' श्रुति का आगम हुआ है और 'ह्' लोप से 'ये' निष्पन्न हुआ होगा। यह व्युत्पत्ति कुछ संदिग्ध ही है। इतना अवश्य है कि मध्यकालीन हिन्दी मे एकवचन मे 'एहा'[7] मिलता है और बहुवचन मे 'ए'[8]। अत: अनुमान लगाया जा सकता है कि पार्थक्य दिखाने के लिए 'बहुवचन' के 'ह' का लोप कर दिया गया है।

'इस'—'इस' की व्युत्पत्ति सस्कृत 'एतस्य' से निम्न प्रकार से हुई है:

(सं.) एतस्य>(प्रा.) एअस्स>(हिन्दी) इस।

'इन/इन्ह'—इन दोनो शब्दों की व्युत्पत्ति सस्कृत 'एतेषाम्' से हुई है·

(अनुमानित) 'एतानाम्' (म. भा. आ.) एआण>(अप.) एण्ह (हि) इन्ह/इन।

'वह'—'वह' की व्युत्पत्ति सस्कृत 'असौ' से निम्न प्रकार से की जाती है.

(स.) असौ>(प्रा.) असो>(अप.) अहो>(हिन्दी) वह।

---

7 सब कर फल एहा। डॉ. सरनामसिह शर्मा—हिन्दी भाषा: रूप-विकास, पृष्ठ ३०३ से उद्धृत।

8 ए विचरहि मग विच त्राना। वही, पृष्ठ ३०४ से उद्धृत।

'उस'—'उस' की व्युत्पत्ति 'अमुष्य' से सम्पन्न होती है; (स.) अमुष्य>(प्रा.) अमुस्स>(हिन्दी) उस।

'वे'—अपभ्रंश मे 'अदस्' को 'ओइ' रूप [करण कारक मे] मिलता है। बहुत सम्भव है 'ओइ' से 'व' श्रुति का आगम होकर 'वे' शब्द बना हो।

'उन/उन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत 'अउण' से सम्भावित है; यथा—
(प्रा.) अउण (अप /का) उण्ह>(हि.) उन/उन्ह।

(२) **सम्बन्धवाचक**—ये दो वस्तुओ अथवा व्यक्तियों का सम्वन्ध बताते है। इसके ऋजु रूप मे 'जो' (एकवचन) 'जो' (वहुवचन) वनते है और तिर्यक् रूप मे 'जिस' (एकवचन) 'जिन/जिन्ह' (वहुवचन) मे वनते है।

'जो'—'जो' का विकास सस्कृत 'यः' से हुआ है, (स.) यः>(प्रा.) जो>(हि.) जो।

'जिस'—व्युत्पत्ति—(स) यस्य>(प्रा.) जस्स>(हि.) जिस।

'जिन'—(स) 'येषा' से बतायी जाती है। 'जिन्ह' की भी 'येषां' से है। मेरी दृष्टि मे ये व्युत्पत्तियाँ सदिग्ध है।

(३) **प्रश्नवाचक**—जो सर्वनाम शब्द व्यक्ति के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की सूचना देते हैं, वे प्रश्नवाचक सर्वनाम कहलाते है। इसके ऋजु रूप 'कौन' (एकवचन); 'कौन', (बहुवचन); तिर्यक् रूप—किस (एक वचन); किन/किन्ह (बहुवचन) आदि वनते है।

'कौन'—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'कः पुन.' सस्कृत शब्द से मानी जाती है; यथा—(सं) कः पुनः>(प्रा.) कवुण>(अप) कउण>(हि.)कौन।

किस'—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'कस्य' से निष्पन्न होती है; यथा—(स.) कस्य>(म. भा. आ.) कस्स/किस्स>(हि) किस।

'किन/किन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत 'केषाम्' से वतलाते हैं, पर यह अभी सदिग्ध है।

(४) **अनिश्चयवाचक**—जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति की अनिश्चयता सूचित की जाती है, वहाँ पर इस सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है। इसका ऋजु रूप एकवचन और बहुवचनो मे 'कोई' होता है और तिर्यक् रूप 'किसी' (एकवचन); किन्ही (बहुवचन) होता है।

'कोई'—इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'कः अपि' 'कोऽपि' से हुई है; यथा—(स.) कोऽपि>(प्रा.) कोपि>(अप) कोवि>(हि.) कोई।

'किसी'—इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से मानी जाती है; यथा—(सं) कस्यापि>(प्रा.) कस्सवि>(अप.) कस्सई>(हि.) किसी।

'किन्ही'—इसकी व्युत्पत्ति 'केषामपि' से वताई जाती है।

(५) **निजवाचक सर्वनाम**—अपने लिए जब सर्वनाम शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब उन्हे 'निजवाचक सर्वनाम' कहते है। संस्कृत के हलन्त 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग हिन्दी मे सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होने लग गया। संस्कृत 'आत्मन्' शब्द के प्राकृत मे दो रूप मिलते है, एक 'अत्त' और दूसरा 'अप्प'; अपभ्रंश मे 'अप्पण' भी बनता है। हिन्दी में प्राकृत 'अप्प' से आप और अपभ्रंश 'अप्पण' से 'अपना' शब्द बने हैं। 'अप्पण' शब्द का सम्बन्ध प्राकृत 'अप्पणअ' और संस्कृत 'आत्मानकः' से जोड़ा जा सकता है।

(सं.) आत्मन्>(म. भा. आ.) अप्प>(हि.) आप।

(सं.) आत्मानकः>(प्रा.) अप्पणअ>(हि.) अपना।

विशेषण—जो शब्द संज्ञाओ की विशेषता प्रकट करते हैं, उन्हे विशेषण कहा जाता है। ये शब्द कभी किसी वस्तु के गुण को कभी उसके परिमाण को तो कभी संख्या को प्रकट करते है। अतः इन्हे गुणवाचक, परिमाणवाचक और संख्यावाचक विशेषण आदि तीन भागो मे बांट सकते हैं। परिमाणवाचक विशेषण मे भी प्रयोग तो संख्या शब्दो का ही होता है, पर विशेष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि इसकी गणना नही हो सकती, बल्कि नाप या तोल होता है। अतः कुछ विद्वान् मूलतः विशेषण को सख्यावाचक बनाकर उसके दो भेद करते है—(१) गणना मूलक संख्यावाचक विशेषण और (२) परिमाण मूलक संख्यावाचक विशेषण। उपर्युक्त तीनो भेदों के अनिश्चयात्मक रूप भी होते है; यथा—'कैसा लड़का, ऐसा लड़का, वैसा लड़का' आदि। ऐसे वाक्यो से गुण का बोध तो होता है, किन्तु उस गुण के निश्चित रूप की प्रतीति नही होती। इसी प्रकार 'इतना दूध, कितने लडके, जितनी पुस्तकें' आदि मे भी संख्या की निश्चयात्मकता का ज्ञान नही होता। अत उक्त तीनो भेदो मे से प्रत्येक को निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक रूप मे और विभाजित कर सकते हैं और इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से विशेषण के छः भेद हो जाते है, परन्तु भाषा-वैज्ञानिक विवेचन के लिए हम तीन ही भेद लेकर चलते हैं—(१) गुणवाचक विशेषण, यथा—काला, गोरा आदि, (२) सख्यावाचक विशेषण; दो, तीन, चार, तीसरा, तीनो, चौगुना आदि; (३) सार्वनामिक विशेषण अर्थात् जिन विशेषण शब्दो के मूल मे सर्वनाम शब्दो की स्थिति पायी जाती हो।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ और मध्यकालीन आर्य भाषाओ मे विशेषण के लिङ्ग, वचन और कारक उसके विशेष्य के अनुसार चलते थे, पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे इस प्रवृत्ति का परित्याग कर दिया गया है। डॉ. उदयनारायण तिवारी की यह बात उचित प्रतीत नही होती कि केवल साहित्यिक हिन्दी ने प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ की इस प्रवृति को सुरक्षित

रखा है ।[9] प्राय: समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ में केवल लिङ्ग के क्षेत्र मे औकारान्त एवं आकारान्त भाषाओ के ओकारान्त विशेषण और आकारान्त विशेषण शब्द विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार बदल जाते है। हाँ, पजावी भाषा तो साहित्यिक हिन्दी से एक कदम और आगे वढ़ती है कि उसके स्त्रीलिङ्ग विशेषण शब्द विशेष्य के वचन का भी अनुसरण करते है। उपर्युक्त इस कथन की पुष्टि उदाहरण के द्वारा इस प्रकार हो सकती है :

आकारान्त भाषाएँ (हिन्दी) :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छा लडका	अच्छे लडके	अच्छे लडके	अच्छे लडको
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी लडकी	अच्छी लडकियाँ	अच्छी लडकी	अच्छी लडकियों

आकारान्त पंजाबी भाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छा मुडा	अच्छे मुडे	अच्छे मुडे	अच्छे मुडा
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी कुडी	अच्छियाँ कुडियाँ	अच्छी कुडी	अच्छिआँ (याँ) कुडियाँ

आकारान्त मराठी भाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	काला घोडा	काले घोडे	काल्या घोड्या	काल्या घोड्या
स्त्रीलिङ्ग—	काली घोडी	काली घोड्या	काली घोडी	काली घोड्या

उपर्युक्त उदाहरणो के आधार पर हम कह सकते है कि आकारान्त प्रधान भाषाओ के विशेषण शब्द (केवल आकारान्त) विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार चलते है, पर तिर्यक् रूप के बहुवचन मे विशेषण शब्द विशेष्य की प्रणाली से नही चलकर तिर्यक् रूप के एकवचन मे ही रहता है, अथवा यो कहिये कि ऋजु रूप के वहुवचन की स्थिति मे ही रहता है। स्त्रीलिङ्ग मे विशेषण सर्वत्र वचन की दृष्टि से एकरूप रहता है, केवल पजावी भाषा को छोड कर।

औ/ओकारान्त भाषाएँ (मारवाड़ी) :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	भलौ छोरौ	भला छोरा	भला छोरा	भला छोराँ
स्त्रीलिङ्ग—	भली छोरी	भली छोर्याँ	भली छोरी	भली छोर्याँ

---

9 डॉ उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ४३५।

ब्रजभाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छौ/छो	अच्छे	अच्छे	अच्छे
	पामरौ/रो	पामरे	पामरे	पामरेँन्
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी	अच्छी	अच्छी	अच्छी
	पामरी	पामरी	पामरी	पामरिन्/रीन्

गुजराती :

पुल्लिङ्ग—	सारो छोकरो	सारा छोकरा	सारा छोकरा	सारा छोकराओ
स्त्रीलिङ्ग—	सारी छोकरी	सारी छोकरीओ	सारी छोकरी	सारी छोकरीओ

उपर्युक्त उदाहरणो मे भी आकारान्त प्रधान भाषाओ की प्रणाली का ही अनुगमन किया गया है। आकारान्त विशेषणों के अतिरिक्त सभी विशेषण शब्द हिन्दी मे एक रूप रहते है, विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित नही होते; यथा—सुन्दर बालक, सुन्दर बालिका, सुन्दर बालको, सुन्दर बालिकाओ/बालिकाएँ आदि। सस्कृत भाषा के अनुकरण पर तथा सौन्दर्य की दृष्टि से कही-कही 'मतुप्, इन्, विन्, क्त, ईयस् तथा मय आदि प्रत्ययान्त तत्सम विशेषण शब्द अपने विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार' बदल जाते है; यथा—मनोहारी पुरुष और मनोहारिणी स्त्री, बलवान् भाव और बलवती इच्छा आदि, किन्तु हिन्दी मे इसके लिए कट्टरता नही बरती जाती; यथा—'राम विद्यार्थी है' और सीता विद्यार्थी है, राम धनी पुरुष है और सीता-धनी स्त्री है, आदि।

सख्यावाचक विशेषण—सख्यावाचक विशेषणो मे 'ग्यारह, बारह, तेरह और पन्द्रह' को छोड़कर सभी सख्यावाचक शब्दो की उत्पत्ति संस्कृत संख्याओं से सम्पन्न हो जाती है। यद्यपि उक्त तीनो शब्दो की व्युत्पत्ति भी विद्वान् लोग संस्कृत 'एकादश, द्वादश और त्रयोदश' से ही करते है, तो भी उनका 'र' की व्युत्पत्ति के लिए दिया गया तर्क गले नही उतरता। कुछ लोग 'द्' के लिए 'र्' का आदेश बताते है, कुछ लोग 'द्' का लोप कर 'र्' का आगम करते हैं, पर यह क्लिष्ट कल्पना ही है; क्योकि 'द्' को ड्' का आदेश तो प्राकृतो मे मिलता है पर 'द्' को 'र्' का आदेश केवल इन तीन स्थलो को छोड़कर कही नही मिलता। पाली भाषा मे हम देखते है कि उसके ध्वनि-नियम के अनुसार 'द्वादश' का 'दुवादस' तो मिलता ही है, साथ ही 'बारस' भी मिलता है, यह रूप एकदम कहाँ से आ गया ? विचारणीय विषय है और स्मरणीय बात यह है कि आगे की भाषाओ ने इसी रूप को सर्वाधिक मात्रा मे अपनाया भी है। इसी आधार पर 'ग्यारह और तेरह' का भी रूप निर्धारित हुआ ज्ञात होता है। उक्त व्युत्पत्ति मे 'श' का 'ह्' तो जचता है पर 'द्' का 'र्' बिल्कुल समझ मे नही

आता। हाँ, 'त्' के साथ 'र्' आगम (मुख्यतया और सम्भवतः 'त्र' के मिथ्या सादृश्य के आधार पर) के उदाहरण मध्यकालीन राजस्थानी में बहुतायत से मिलते हैं। अतः बहुत सम्भव है कि 'त्' के साथ 'र्' के आगम की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की किसी बोली-विशेष मे रही हो और उस बोली मे सर्वप्रथम 'सप्तदश' के स्थान पर 'सत्तरह' का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और फिर अन्य ये चार शब्द भी वही से आ गए हो, पर इसमे 'चौदह' की समस्या बनी रह जाती है। अतः इस पर कुछ अधिक सूक्ष्मता और तुलनात्मक शैली से अध्ययन की आवश्यकता है। शेष शब्द निम्न प्रकार से व्युत्पन्न है—

हिन्दी	म० भा० आ०	प्रा० भा० आ०
एक	एक्क	एक
दो	दु[10] (द्वि, पालि)	द्वि
तीन	तिण्णि	त्रीणि
चार	चत्तारो/चत्तारि	चत्वारि
पांच	पंच	पञ्च
छः	छह	षट् (षष्)
सात	सत्त	सप्त
आठ	अट्ठ	अष्ट
नौ	नउ	नव
दस	दस	दश
बीस	वीसअ/वीसइ	विंश
तीस	तीसअ	त्रिंशत्
चालीस	चत्तालीसा	चत्वारिंशत्
पचास	पचासा	पञ्चाशत्
साठ	सट्ठि	षष्टि.
सत्तर	सत्तरि	सप्तति:
अस्सी	असीइ	अशीतिः
नब्बे	नब्बए	नवतिः
सौ	सउ	शतम्
लाख	लक्ख	लक्ष
करोड़	कोडि	कोटि
अरब	×	अर्बुद
खरब	×	खर्व

[10] हेमचन्द्र कृत हेम शब्दानुशासन, १/९४।

(ख) **क्रमवाचक विशेषण**—क्रमवाचक बनाने के लिए प्रथम मे 'ला'; द्वितीय, तृतीय में 'सरा'; चतुर्थ में 'था'; छठे में 'आ' और शेष सब में 'वाँ' प्रत्यय लगाये जाते हैं। 'ला' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, 'सर' 'सृत' से, 'आ' 'अ' से, 'वाँ' संस्कृत 'म:' से 'अ' के स्थान पर 'आँ' बढाकर व्युत्पन्न किये जाते है।

(ग) **समानुपाती संख्यावाचक**—इन विशेषण शब्दो के साथ प्राय: 'गुना' शब्द जोडकर निष्पन्न कर लिया जाता है; यथा—दुगुना, तिगुना, दसगुना आदि। 'गुना' शब्द सस्कृत 'गुणक.>(म. भा. आ.) गुणअ>(हि.) गुना से व्युत्पन्न हुआ है।

सार्वनामिक विशेषण—सार्वनामिक विशेपण वे शब्द होते है जिनका मूल सर्वनाम शब्दो मे निहित होता है। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) गुण-वाचक, (२) अनिश्चित सख्यावाचक, जो गणना और परिमाण दोनो मे प्रयुक्त हो सकते है। डॉ. उदयनारायण तिवारी का इन्हे केवल परिमाणवाचक कहना उचित प्रतीत नही होता, क्योकि 'इतना दूध' कह सकते है तो 'इतने लड़के' भी कहा जा सकता है।

(क) **गुणवाचक सार्वनामिक विशेषण**—'गुण' को व्यक्त करने वाले सार्वनामिक विशेपण शब्द हिन्दी मे लगभग पाँच है—(१) ऐसा, (२) कैसा, (३) वैसा, (४) तैसा और (५) जैसा।

व्युत्पत्ति :

(१) **ऐसा**—'ऐसा' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत 'एतादृशक:' से हुई है; यथा—(स) एतादृशक·>(म. भा. आ) एइसअ>(अप) अइसअ>(हि) ऐसा।

(२) **कैसा**—(स) कीदृशक:>(प्रा) कइसअ, (अप.) कइसअ> (हि.) कैसा।

(३) **वैसा**—(स.) ओतादृशक:>(म. भा. आ.) उइसअ>(हि)वैसा।

(४) **तैसा**—(स) तादृशक:>(म. भा. आ.) तइसअ>(हि.) तैसा।

(५) **जैसा**—(स.(यादृशक >(म भा. आ.) जइसअ>(हि.) जैसा

(ख) **अनिश्चित संख्यावाचक सार्वनामिक विशेषण**—ये शब्द गणना परिमाण को सूचित करते हैं, जिनकी सख्या निश्चित नही है। ये भी सख्या मे पाँच ही है। इनका रूप 'त्ता' अन्त वाला है, पर हिन्दी मे 'ना' प्रत्यय[11] और जोड देने से इनके रूप—(१) इतना, (२) उतना, (३) जितना, (४) कितना, (५) तितना (यह शब्द साहित्यिक हिन्दी मे प्रयुक्त नही होता) बन जाते है।

---

[11] 'ना' प्रत्यय को बीम्स ने लघुतावाचक प्रत्यय माना है, पर यह अपना अर्थ खो बैठा है। [डॉ उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४५७ के अनुसार]।

(१) **इतना**—(सं.) इयत्तकः>(म. भा. आ) एत्तिअ>(हिन्दी) इत्ता+ना=इतना।

(२) **उतना**—(सं) उयत्तकः>(म. भा. आ.) उत्तिअ>(हिन्दी) उत्ता+ना=उतना।

(३) **जितना**—(म. भा. आ.) जेत्तिअ>(हि.) जित्ता+ना जितना। पिशल ने इसके लिए 'यमत्तकः' शब्द की संस्कृत भाषा मे होने की कल्पना की है।[12]

(४) **कितना**—(स.) कियत्तकः>(म. भा. आ.) केत्तिअ>(हि.) कित्ता+ना=कितना।

(५) **तितना**—(स.) तित्तकः (कल्पित)>(म. भा. आ.) तेत्तिअ>(हि.) तित्ता+ना=तितना।

आख्यात—आख्यात के मूल रूप को 'धातु' कहते है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं मे दो प्रकार की धातुएँ उपलब्ध होती है—(१) सिद्ध धातुएँ अर्थात् मूल धातुएँ, (२) साधित/साध्य धातुएँ अर्थात् प्रत्यय इत्यादि लगाकर बनाई गई धातुएँ। सिद्ध धातुओ के अन्तर्गत सस्कृत में भाषा की अकर्मक, सकर्मक तथा द्विकर्मक धातुएँ आती है। सस्कृत मे धातुएँ मूलतः अकर्मक; यथा—हस्, स्वप्, विश्, चल् आदि। सकर्मक; यथा—खाद्, कृ, क्री, तन् आदि तथा द्विकर्मक; यथा—दुह्, चि, ब्रू, शास् आदि, होती है। इनमे कोई भी प्रत्यय लगाकर सकर्मक अथवा द्विकर्मक बनाने की प्रणाली सस्कृत मे नही है। साधित धातुओ से तात्पर्य है किसी सिद्ध धातु या नाम के साथ प्रत्यय आदि जोडकर भिन्नार्थक धातु का निर्माण करना; यथा—प्रेरणार्थक, सन्नन्त तथा यङ्लुङन्त आदि।

हिन्दी भाषा मे इस प्रक्रिया को कुछ परिवर्तित कर दिया दिखाई देता है। अनेक विद्वानो—हार्नले, ग्रियर्सन, डॉ चाटुर्ज्या, डॉ. तिवारी तथा डॉ. सरनामसिंह ने हिन्दी धातुओ को भी दो भागो मे ही विभाजित किया है—(१) सिद्ध धातुएँ; (२) साधित धातुएँ। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया है—

वर्गीकरण

(१) **सिद्ध धातुएँ :**

(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ—(क) साधारण धातुएँ, (ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ।

---

[12] पिशल—प्राकृत व्याकरण, नियम सं १४५, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी, डी. लिट्। पिशल ने अनेक काल्पनिक शब्दो से विकास दिखलाया है। जैसे—उपर्युक्त 'ओतादृशक.' संस्कृत मे नही मिलता। इसी प्रकार अन्य शब्द (उयत्तकः) भी दर्शनीय है।

(२) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएँ।

(३) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम, और अर्धतत्सम धातुएँ।

(४) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुएँ।

(२) साधित धातुएँ :

(१) आकारान्त णिजन्त (प्रेरणार्थक)

(क) तद्भव—(१) प्राचीन (उत्तराधिकार रूप से प्राप्त)।
(२) नवीन (पुरानी तथा आधुनिक हिन्दी में बनी हुई)।

(२) नामधातु—

(ग) तत्सम

(ग) तद्भव।

(३) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यय युक्त (तद्भव)।

(४) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएँ।

(५) संदिग्ध व्युत्पत्ति की धातुएँ।

उपर्युक्त वर्गीकरण यद्यपि सर्वमान्य सा हो गया है, तथापि इसमें एक कमी दृष्टिगत होती है। जैसा कि संस्कृत धातुओं के विभाजन में निवेदन किया गया है कि संस्कृत भाषा में सकर्मक और द्विकर्मक धातुएँ सिद्ध धातुएँ हैं, वहाँ इनके लिए साधित प्रणाली का प्रावधान नहीं है। कारण स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति ही ऐसी है। हिन्दी भाषा में अकर्मक धातुओं को सकर्मक बनाया जाता है तथा सकर्मक को द्विकर्मक। अतः साधित धातुओं में उक्त धातुओं का प्रावधान भी होना चाहिये। उदाहरण के द्वारा इन्हें यों स्पष्ट किया जा सकता है—हिन्दी में 'हँस' अकर्मक धातु है, इसका सकर्मक रूप बनेगा 'हँसा'; यथा—(१) बच्चा हँसता है। (२) माँ बच्चे को हँसाती है। श्री किशोरीदास वाजपेयी इसे द्विकर्तृ अथवा प्रेरणा कहते हैं, और (३) 'माँ बच्चे को नौकर से हँसवाती है' को कहेंगे प्रेरणा की प्रेरणा। यदि कोई कहे 'हँसवावती है' तो इसे वाजपेयी जी कहेंगे 'प्रेरणा की प्रेरणा की प्रेरणा' और इस प्रकार इस प्रेरणा का कोई अन्त न होगा। यहाँ वाक्य नं० २ में वक्ता का अभिप्राय 'हँसने' के 'कर्तृत्व' को बताना नहीं है, अपितु 'हँसाने' का कर्तृत्व बताने की अभिलाषा है। फलतः कर्ता 'माँ' होगी, न कि बच्चा। जब कि वाजपेयीजी 'माँ' को गौण कर्ता का स्थान देते हैं। इसका एक मात्र कारण वाजपेयी जी की दृष्टि का 'सिद्ध धातु' पर टिके रहना ही है। वस्तुतः 'प्रेरणा' में, किसी से काम करवाने की इच्छा मात्र निहित होती है और वह प्रेरक कर्ता केवल प्रेरणा का काम मात्र करता है और मूल क्रिया से सर्वथा असम्पृक्त हो जाता है, जबकि सकर्मक प्रयोग में वह किसी न किसी रूप में क्रिया के साथ

सम्पृक्त रहता है। उदाहरण से इसे यो समझा जा सकता है—'राम रोता है,' का अर्थ होगा कि उसकी आँखों मे से आँसू आ रहे है अथवा उसका मुख ऐसा बना हुआ है जिससे लगता है कि वह रोने की क्रिया कर रहा है। इसमे कर्ता 'राम' है। अब मान लीजिए कि एक बच्चा माँ को शिकायत कर रहा है 'अशोक पप्पू को रुलाता है' तो उक्त वाक्य मे बच्चा माँ को यह बताने में इतना उत्सुक नहीं है कि 'पप्पू रो रहा है' बल्कि यह बताने मे अधिक उत्कट है कि 'अशोक' 'पप्पू' को किन्ही चेष्टाओ के द्वारा रोने के लिए बाध्य कर रहा है। अतः 'अशोक' का कर्तृत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि 'पप्पू' को क्या माने ? क्या यह विशुद्ध कर्म है ? वास्तव मे 'पप्पू' विशुद्ध कर्म है। रुलाने का फल 'पप्पू' को ही मिल रहा है। अस्तु, उपर्युक्त वर्गीकरण में इतना संशोधन अपेक्षित कि आकारान्त अकर्मक से बनी सकर्मक धातुएँ तथा सकर्मक से बनी द्विकर्मक धातुएँ भी साधित धातुओ मे सम्मिलित की जानी चाहिये और प्रेरणार्थक धातुओ को उपरिकथित सकर्मक द्विकर्मक आदि धातुओ से अन्तर स्पष्ट करने के लिए, 'अव/अवा' प्रत्ययान्त धातुएँ कहना चाहिये, न कि आकारान्त णिजन्त।

(१) **सिद्ध धातुएँ**[13]—वे अकर्मक, सकर्मक एवं द्विकर्मक धातुएँ, जो अपने मूल रूप मे प्रयुक्त होती है, सिद्ध धातुएँ कहलाती है। इन्हे पूर्व पृष्ठो* मे पाँच भागो मे विभाजित किया गया है—

(१) साधारण तद्भव सिद्ध धातुएँ—√काँप, √काढ, √गल, √चल, √काट, √कह आदि।

(२) उपसर्ग युक्त सिद्ध धातुएँ—√उपज, √उजड, √उतर, √निरख, √परख, √पखाल आदि।

(३) णिजन्त से आई सिद्ध धातुएँ—√मार, √उखाड, √तार, √ताप, √पसार, √हार आदि।

(४) अर्धतत्सम शब्दो से आई हुई—√गरज, √अरज, √तज, √दुह, √रच आदि।

(५) संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली धातुएँ—√टोह, √टोक, √लोट, √लड, √फडक आदि।

(२) **साधित धातुएँ**—सिद्ध धातुओं तथा नाम आदि के साथ प्रत्यय लगाकर जिन धातुओ का निर्माण किया जाता है उन्हे साधित धातुएँ कहा

---

[13] विस्तार के लिए देखे—हार्नले कृत हिन्दी धातुएँ और डॉ. उदयनारायण कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६७ से ४७२ तक।

* वर्गीकरण—उदयनारायण तिवारी द्वारा प्रदत्त।

जाता है। हिन्दी में साधित धातुएं क्रमशः इस प्रकार विवेचित की जा सकती है।

(१) **आकारान्त सकर्मक और द्विकर्मक तथा प्रेरणार्थक धातुएँ**—हिन्दी मे अकर्मक धातुओ और सकर्मक धातुओ को क्रमशः सकर्मक, द्विकर्मक और प्रेरणार्थक बनाया जाता है। इसके लिए मूल धातु के साथ 'आ तथा वा' प्रत्यय लगाये जाते हैं। 'आ तथा वा' प्रत्ययो का विकास सस्कृत के 'णिजन्त' रूप से हुआ ज्ञात होता है। डॉ. उदयनारायण तिवारी[14] और डॉ. सरनामसिह शर्मा ने[15] णिजन्त धातुओं मे 'आय्' प्रत्यय की बात कही है, पर सस्कृत के 'णिजन्त' में 'आय्' प्रत्यय कही पर भी दृष्टिगत नही होता। सस्कृत में 'णिच्' के' ण और च्' का लोप होकर 'इ' बचता है, और प्रत्यय के बाद भ्वादि गण के 'अ' विकरण को रखा जाता है और 'इ' को गुण (ए) हो जाता है। आगे पड़े हुए 'अ' के कारण 'ए' को 'अय्' हो जाता है और इस प्रकार 'णिच्' का 'अय्' रूप होता है, पर 'आय्' कदापि नही। विद्वानो का 'आय्' का भ्रम सम्भवत बहुत सी धातुओ मे आय अक्षर मे 'आ' होने के कारण अथवा आद्य अक्षर के 'अ' को 'आ' कर देने के कारण हुआ लगता है, पर सस्कृत मे 'आद्य' अक्षर के 'अ' को हुए 'आ' के और 'अय्' प्रत्यय के बीच मे कोई न कोई स्वर या व्यञ्जन अवश्य रहता है, जहाँ 'आ' के पश्चात् एकदम 'अय्' प्रत्यय आ भी जाता है, वहाँ सस्कृत की प्रकृति के अनुसार 'प' या 'ल' का आगम हो जाता है। अतः यह प्रश्न पूर्णतः विचारणीय है तथा मननीय भी। इसे उदाहरणो से यो स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) जहाँ आद्य अक्षर के 'अ' को 'आ' कर दिया जाता है—√वद्+णिच्=√वादय्, √सद्+णिच्=√सादय्, √अद् + णिच्=आदय्, √तड्+णिच्√ताडय् आदि।

(ख) जहाँ 'अ' को 'आ' नही होता—√रक्ष+णिच्=√रक्षय्, √कथ्+णिच्=√कथय्, √भक्ष्+णिच्=√भक्षय्, √गम्+णिच् गमय्।

(ग) आद्य अक्षर मे 'आ' अथवा 'ऐ' होने पर, जबकि धातु मे केवल एक व्यञ्जन या संयुक्त व्यञ्जन के साथ उक्त स्वर हो; यथा—दा, पा, ग्लै आदि। इनमें 'प्' या 'ल्' का आगम होता है; यथा—

---

[14] उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४७३ (द्वितीय संस्करण)।

[15] डॉ. सरनामसिह शर्मा 'अरुण' कृत हिन्दी भाषा : रूप विकास, पृष्ठ ३२४।

'प्'—√स्था+णिच्=√स्थापय्, √ज्ञा+णिच्=ज्ञापय्√दा+णिच्=√दापय, √पा (पीना)+णिच्=√पायय् ।

'ल्'—√पा+णिच्=पालय्

सस्कृत भाषा में सामान्यतः यह भी देखा जाता है कि धातु के साथ णिच्' प्रत्यय लगाने पर आद्य अक्षर की 'इ' को 'ए'; 'ई' का आय्; 'उ' को 'ओ' तथा आव्; 'ऋ' को 'अर्' और 'आर्'; 'ऐ' को 'आ' हो जाता है। (आ हो जाने से 'प्' का आगम हो जाता है।) कुछ धातुओं की 'इ, ई' को' भी 'आ' हो जाता है और फिर 'प्' का आगम। कही-कही 'उ' को 'ऊ' भी होता है। यथा—

'इ' को 'ए'—√इष्+णिच्=√एषय्, √क्लिश्+णिच्=√क्लेशय्, √क्षिप्+णिच्=√क्षेपय् ।

'ई' को आय्—√नी+णिच्+√नायय्, √शी+णिच्=√शायय्, √भी+णिच्=√भायय् ।

'उ' को ओ—√चुर+णिच्=√चोरय्, √मुद+णिच्√मोदय्, √मुष+णिच्=√मोषय्, √युज्+णिच्=√योजय् ।

'उ' को आय—√हु + णिच=√ हावय् √स्तु + णिच्=स्तावय, √श्रु+णिच्√श्रावय्, √सु+णिच्=√सावय् ।

'ऋ' को अर/आर्—√वृध्+णिच्=√वर्धय्, वृत्+णिच्=√वर्तय्, √भृ+णिच्√भारय्, √कृ+णिच्=कारय् ।

'ऐ' को आ(+प)—√ग्लै+णिच्=√ग्लापय्, √गै+णिच्=√गापय्, √म्लै+णिच्=√म्लापय्, √ध्यै+णिच्=√ध्यापय् ।

'इ, ई' को आ—√जी+णिच्=√जापय, √क्री+णिच्=√क्रापय्, √अधि+इ+णिच्=√अध्यापय् ।

'उ' को ऊः—√गुह्+णिच्=√गूहय ।

उपर्युक्त उदाहरणो का अध्ययन करने पर एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत भाषा मे धातु को णिजन्त बनाते समय 'आ' ध्वनि का बहुत बड़ा योग रहता है। किसी न किसी रास्ते से जैसे-तैसे करके अधिकाश णिजन्त धातुओ के आद्य अक्षर मे 'आ' आ ही जाता है और 'आ' के आने पर अथवा पूर्वस्थिति 'आ' के कारण 'प्' का आगम भी हो जाता है। इस प्रकार 'आ' अकेले और 'आप्' ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि यह कहा जाय कि इनका प्रभाव इतना बढ़ गया कि मुख्य प्रत्यय 'अय्' को भी मुँह की खानी पड़ी और मध्यकाल मे ही णिजन्त धातुओं मे 'आव' या 'अव' का प्रयोग प्रारम्भ हो गया जो 'आप' का स्पष्टत विकसित रूप ही कहा जा सकता है जो आज तक हिन्दी भाषा मे सुरक्षित है

तथा इसका प्रयोग 'णिच्' प्रत्यय के स्थान पर धड़ल्ले से होने लगा। भाषा-वैज्ञानिक विकास को दृष्टि में रखते हुए 'आव्' का विकास 'अय्' की अपेक्षा 'आप्' से अधिक सटीक बैठता है। हिन्दी मे यह स्थिति दो रूपो मे आई—एक स्वतन्त्र 'आ' के रूप में और दूसरी 'आव्' के रूप मे। 'आ' ने अकर्मक धातुओ को सकर्मक बनाया और सकर्मक धातुओं को द्विकर्मक तथा 'आव्' ने प्रेरणार्थक क्रियाओ का निर्माण किया। प्राकृतो का यह 'आव्' स्थान-विपर्यय से 'अवा' हो जाता है तथा ग्रामीण प्रयोगो मे 'आव्' भी मिलता है। इसकी व्याख्या यो भी कर सकते है कि 'आव्' के 'आ' का लोप होकर पूर्व प्रत्यय 'आ' आगे आ बैठा और इस प्रकार दो प्रत्ययो से प्रेरणार्थक का निर्माण हुआ। इनमे प्रथम व्याख्या ही अधिक ठीक लगती है, क्योकि भाषाओ मे इस प्रकार का विकास-क्रम अन्य स्थानो पर भी देखने को मिलता है। विकास का एक रूप हिन्दी मे यह भी है जिसका सकेत पहले दिया जा चुका है कि सस्कृत मे यह 'आगम' धातु के कलेवर मे होता था और हिन्दी मे यह धातु के अन्त मे लगाया जाता है। इसीलिए सस्कृत के इस 'आगम' को प्रत्यय की सज्ञा दी गई है। 'ल' की स्थिति हिन्दी मे भी सस्कृत के समान ही है। वहाँ भी इसका आगम होता था और हिन्दी मे भी कुछ धातुओ मे इसका आगम ही होता है; जैसे √खा+आ=√खिला, √नहा+आ=√नहला, √दे+आ=√दिला आदि।

इस विषय मे एक बात और कहनी है कि हिन्दी मे प्रेरणार्थक धातु बनाते समय आद्य व्यञ्जन के स्वर का विकास सस्कृत से बिलकुल विपरीत दिशा मे होता है। उपर्युक्त उदाहरणो में आप देखेगे कि सस्कृत मे 'इ' को 'ए' और 'उ' को 'ओ' तथा 'इ' को 'आ' होता है, पर हिन्दी मे 'ए' को 'इ', 'ओ' को 'उ' और 'आ' को 'इ' किया जाता है—

'ए' को 'इ'—√भेज+वा=√भिजवा (ग्रा. भिजाव्), √दे+वा ('ल' का आगम)=√दिलवा।

'ओ' को 'उ'—√रो+वा=√रुलवा, √फोड्+वा=√फुड़वा, √रोद्+वा=√रुँदवा।

'आ' को 'इ'—√खा+वा ('ल' का आगम)=√खिलवा।

संक्षेप मे कह सकते है कि संस्कृत की प्रकृति ह्रस्व को दीर्घ करने की थी और हिन्दी की प्रवृत्ति दीर्घ को ह्रस्व कर देने की ओर है; यथा . √नहा+वा=√नहलवा आदि।

(२) **नामधातु**—संज्ञाओ एव क्रियामूलक विशेषणो के साथ जब धातु-मूलक प्रत्यय लगाकर उनका क्रियाओ की तरह प्रयोग किया जाता है, तब उन क्रियाओ के मूल रूप को धातु कहा जाता है। (१) कुछ तो मध्यकालीन

भारतीय आर्यभाषाओ से उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई है; यथा—बैठना (उपविष्ट), पीटना (पिष्ट), काटना (कृष्ट) आदि प्राकृतो से मिली हुई है। (२) **नवीन नामधातुओं का निर्माण**—हिन्दी-नवीन नामधातुओ का निर्माण सस्कृत के दो प्रत्ययो के आधार पर हुआ है। संस्कृत मे नामधातु बनाने के लिए अनेक प्रत्ययो का प्रयोग होता था। उनमे से दो को लीजिये—(१) क्यच् और (२) णिच्। 'क्यच्' प्रत्यय की मुख्य विशेषता है कि इसमे केवल 'य' शेष रहता है और जब 'य' प्रत्यय को अकारान्त अथवा आकारान्त नामो के साथ जोड़ा जाता है तब अन्तिम 'अ/आ' के स्थान पर 'ई' हो जाता है। इस प्रकार रूप बनता है—पुत्र+क्यच्=पुत्रीय। णिच् का 'आ' पहले से ही सुरक्षित था। अतः कही अकेले 'आ' से काम लिया गया है और कही 'क्यच्' के 'ईय' को 'इय' बनाकर तथा उसके साथ 'आ' जोडकर। इस प्रकार 'नामधातु' सर्जक दो प्रत्यय हिन्दी मे चलते है--(१) 'आ' और (२) 'इया'।

उपरिकथित, बैठना पीटना आदि मध्यकालीन आर्यभाषाओ से आई हुई उन नामधातुओ को छोडकर जो हिन्दी मे सिद्ध धातुओ जैसी लगती है, शेष हिन्दी की नामधातुओ का सर्जन इन्ही प्रत्ययो से हुआ है।

(क) **'आ' प्रत्ययान्त नामधातुएँ**—चपत+आ=√चपता(ना), गर्व+आ√गरबा(ना), लहर+आ√लहरा(ना), लोभ+आ√लुभा(ना) आदि।

(ख) **'इया' प्रत्ययान्त नामधातुएँ**—लात+इया√लतिया(ना), हाथ+इया=√हथिया(ना), बाँथ+इया=√बँथिया(ना), साठा+इया=√सठिया(ना), बात+इया=√बतिया(ना)।

(३) **तत्सम शब्दो से बनी नामधातुएँ**—(सं) आकुल+आ=√अकुला, (स.) आलाप, √अलाप आदि।

(४) **विदेशी शब्दों से बनी नामधातुएँ**—शर्म+आ√शरमा/शर्मा(ना) गर्म+आ√गर्मा(ना) आदि।

(३) **संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त धातुएँ**—ये वे धातुएँ है जो या तो दो धातुओ के मेल से बनी है या फिर कोई प्रत्यय उनके साथ जोड़कर निर्मित की गई है—

(१) **संयुक्त धातुएँ**—दो समानार्थी धातुओ ने एक साथ मिलकर एक धातु का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ उसे सयुक्त धातु कहा जाता है।

(२) **प्रत्यययुक्त धातुएँ**—इन धातुओ के साथ कोई न कोई प्रत्यय लगा हुआ मिलता है। इन प्रत्ययो के विकास का अभी पूर्ण ज्ञान नही हो सका है। ऐसे प्रत्यय जो हिन्दी धातुओ के साथ मिलते है, सख्या मे पाँच है—(१) क, (२) ट, (३) ड़, (४) र और (५) ल।

(१) 'क' प्रत्ययान्त—अटकना, सटकना, गटकना, झपकना, पिचकना आदि।
(२) 'ट' प्रत्ययान्त—घिसटना, चिपटना, रिपटना, झपटना, लिपटना आदि।
(३) 'ड़' प्रत्ययान्त—रगडना, झगड़ना, पकड़ना, सुकड़ना आदि।
(४) 'र' प्रत्ययान्त—ठहरना, पुकारना, वहारना (झाड़ू लगाना) आदि।
(५) 'ल' प्रत्ययान्त—उगलना, टहलना, वहलाना, दहलना आदि।

(४) **ध्वन्यात्मक धातुएँ**—वे धातुएँ, जिन्हे वस्तु की ध्वनि को आधार मानकर बना ली गई हो; यथा—फूंकना, टपकना, खड़खडाना, भिनभिनाना, फुसफुसाना आदि।

(५) **संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएँ**—ऐसी धातुएँ जिनका हिन्दी में प्रयोग तो होता है पर उनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है; यथा—अँटना, चौंकना, झाँकना, झाड़ना आदि।

प्रयोग—प्रयोग की दृष्टि से क्रियाओ के तीन भेद होते है—(१) कर्तरि प्रयोग, (२) कर्मणि प्रयोग और (३) भावे प्रयोग।

(१) **कर्तरि प्रयोग**—कर्तरि प्रयोग से तात्पर्य होता है, जहाँ क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्ता के अनुसार हो, अर्थात् जहाँ पर क्रिया और कर्ता का सीधा सम्बन्ध हो; यथा—लडका खाता है, लड़के खाते है, लड़की खाती है और लड़कियाँ खाती है। इन वाक्यो मे 'खाना' क्रिया कर्ता के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। अतः यहाँ पर क्रिया का कर्तरि प्रयोग है।

(२) **कर्मणि प्रयोग**—क्रिया के कर्मणि प्रयोग मे क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्म के अनुसार होते है अर्थात् क्रिया का सीधा सम्बन्ध कर्ता से न होकर कर्म से होता है; यथा—लड़के ने पुस्तक पढ़ी, लड़को ने पुस्तके पढ़ी, लड़की ने ग्रन्थ पढा और लड़कियो ने ग्रन्थ पढ़े। इन चार वाक्यो मे क्रिया के लिङ्ग, वचन और कर्ता का अनुगमन न करके कर्म का कर रहे है। अतः यहाँ पर कर्मणि प्रयोग होगा। इन वाक्यो मे प्रयुक्त 'ने' परसर्ग मूलतः तृतीया का ही सूचक है।

(३) **भावे प्रयोग**—जिन प्रयोगो मे क्रिया, कर्ता और कर्म मे से किसी का भी अनुगमन न कर सर्वदा एक रूप रहती है वहाँ क्रिया का भावे प्रयोग कहा जाता है; यथा—लडके ने लड़कियो को देखा, लड़को ने लड़की को देखा, लड़की ने लड़को को देखा और लड़कियो ने लड़के को देखा। उक्त चारो वाक्यों मे 'देखा' क्रिया सभी अवस्थाओ मे एक समान रही है। अत. यह क्रिया का भावे प्रयोग कहा जायेगा।

वाच्य—हिन्दी मे मूलतः भूतकाल में वाच्य परिवर्तन होता है; पर उसे हमने कर्मणि प्रयोग मे दिखा दिया है। हिन्दी में सस्कृत और अग्रेजी के अनुसार

वाच्य परिवर्तन होता है। संस्कृत में कर्मवाच्य के लिए धातु में 'य' जोड़ा जाता है। मध्यकाल मे यह 'इय्य' वना अपभ्रंश मे 'इज्ज' जो राजस्थानी मे आज भी 'ईज' के रूप मे वर्तमान है। हिन्दी मे कर्मवाच्य के लिए 'भूतकालिक कृदन्त के साथ कालानुसार 'जाना' क्रिया को जोडा जाता है, वर्तमानकाल—जाया जाता है, रोया जाता है। भूतकाल—रोया गया, खाया गया। भविष्यत् काल—रोया जायेगा, खाया जायेगा आदि।

काल रचना—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ मे काल तथा प्रकारो की रचना को 'लकार' कहा जाता था। इसे यह नाम वस्तुतः पाणिनि ने दिया था। इससे पूर्व सम्भवतः काल रचना को लकार के नाम से अभिहित नही किया जाता था। ये लकार संख्या मे दस है, जिनका प्रयोग तीन कालो (१) भूतकाल, (२) वर्तमानकाल और (३) भविष्यत्काल के लिये और दो प्रकारो—(१) आज्ञार्थक और (२) विध्यर्थक के लिये किया जाता था। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ् लकार का प्रयोग मिलता है। 'लट्'[16] लकार का प्रयोग वर्तमानकाल का सूचक है। 'लङ्'[17] लुङ्[18] और 'लिट्'[19] तीनो लकारो का प्रयोग कुछ-कुछ भिन्नताओं के साथ भूतकाल के लिये होता है। लुट्[20] और लृट्[21] भविष्यत्काल के सूचक है। 'लोट्'[22] आज्ञा, विनय आदि भावप्रकार के लिये प्रयोग मे लाया जाता है। लिङ्[23] का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण आदि के भावप्रकार के लिये होता है। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ्[24] का प्रयोग किया जाता है। 'लृङ्'[25] क्रिया की अतिपत्ति के लिये काम मे लाया जाता है और 'लेट्'[26] लकार, इच्छा की तीव्रता के लिए, केवल वेदो मे प्रयुक्त हुआ है।[27] इनमे प्रत्येक लकार के तीन पुरुष और प्रत्येक पुरुष के तीन वचन होते है। इस प्रकार एक लकार मे एक के नौ रूप बनते है और इस प्रकार ग्यारहो लकारो के ६६ रूप हो जाते है। इन रूपो की रचना के लिए ६ आत्मनेपद के प्रत्ययो और ६ परस्मैपद के प्रत्ययों का विधान है,

---

16 वर्तमाने लट् ३/२/१२३। 17 अनद्यतने लङ् ३/२/१११।

18 अद्यतने (भूतार्थे) लुङ्। 19 परोक्षे लिट् ३/२/११५।

20 अनद्यतने लुट् ३/३/१५। 21 लृट् शेषे च ३/३/१३।

22 लोट् च ३/४/६८।

23 विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३/३/१६१।

24 लिङाशिषि ३/४/११६। 25 लृङ् क्रियातिपत्तौ।

26 लिङर्थे लेट् ३/४/७।

27 लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोऽस्तु लिङ्लोटौ—लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

जिन्हे तिङ् प्रत्यय कहा जाता है। जब धातु के साथ इन प्रत्ययों को जोड़ दिया जाता है, तब धातु की 'आख्यात' सज्ञा हो जाती है।

तिङ्न्त कालो के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ मे कृदन्तकालो का भी प्रचलन था। ये कृदन्तकाल भी भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्-काल का सूचन कराते थे। भूतकाल के लिए 'क्त और क्तवत्' प्रत्ययो का, वर्तमान के लिए 'शतृ और शानच्' प्रत्ययो का तथा भविष्यत् काल के लिए तव्य, अनीय र् आदि प्रत्ययो का विधान है। तिङ्न्त रूपो मे वचन और पुरुष का अनुसरण किया जाता है और कृदन्त रूपो में कारक, वचन और लिङ्ग के अनुसार क्रिया के रूप की रचना होती है; यथा—स गतः, सा गता, ते गताः, ताः गता. आदि।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ ने भूतकाल के सूचक 'तिङ्' प्रत्ययो का सर्वथा बहिष्कार कर दिया और भूतकाल का सूचन कृदन्त रूपो से किया जाने लगा। भविष्यत्काल के लिए 'लृट्' के रूपो को अपनाया और लुट् को छुट्टी देदी गई। 'लेट्' लकार तो संस्कृत में ही अवकाश ग्रहण कर चुका था और प्रकारो मे भी विधिलिङ् का पल्ला हल्का हो चला था अथवा यो कहिये कि 'लोट्' लिङ् और आशीर्लिङ् आपस मे घुलने-मिलने लग गए थे। इस प्रकार अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण तक केवल तीन ही लकारो की सत्ता अवशिष्ट रह पाई थी। हिन्दी भाषा ने कुछ विशेष विकास का परिचय दिया है। भविष्यत् काल के जो 'स' परक या 'ह' परक रूप राजस्थानी, ब्रज, अवधी ने अपभ्रंश भाषा से ग्रहण कर लिए, हिन्दी ने उन्हें भी छोड़ दिया और अपनी प्रकृति के अनुसार भविष्यत्काल की रचना की। इसके साथ वर्तमानकाल के सूचन के लिए अपभ्रंश ने जिन शतृ आदि प्रत्ययो को ग्रहण किया था, हिन्दी भाषा ने उन्हे ससम्मान स्वीकार किया और भूतकाल के लिए भी अपभ्रश गृहीत कृदन्त रूपों को ही अपनाया।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि हिन्दी ने काल रचना के लिए परम्परागत तिङ् और कृत् दोनो रूपो को अपनाया। इन रूपों के साथ-साथ काल रचना का विस्तार हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार सहायक क्रियाओ के माध्यम से किया। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी काल रचना को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) तिङन्त काल, (२) कृदन्त काल, (३) यौगिक काल अथवा सहायक क्रियाओं से युक्त कृदन्त काल।

इससे पूर्व कि हम काल-रचना विवेचन मे प्रविष्ट हो, यह आवश्यक होगा कि हम सहायक क्रियाओ के सम्बन्ध में कुछ विचार-विमर्श कर लें। हिन्दी मे सहायक क्रियाओं का बहुत प्रचलन है। प्रायः सभी भाषाओं में सहायक क्रियायें

होती है, सस्कृत में भी है, पर हिन्दी इस क्षेत्र मे इनसे कुछ आगे है। हिन्दी मे दो प्रकार की सहायक क्रियाये, प्रयुक्त होती है। एक तो वे, जिन्होने मूल क्रिया के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया और केवल काल सूचन का भार अपने ऊपर ले लिया। जैसे है, था, गा आदि और दूसरी वे जो अपना अस्तित्व बनाए हुए है या बनाए रखती है और आवश्यकता पड़ने पर केवल उस प्रयोग-विशेष मे अपना स्वार्थ त्याग भी देती है; यथा—जा, आ, सक, चुक, पा आदि। अत. इनमे एक तात्त्विक अन्तर दृष्टिगत होता है। इनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पहले वर्ग की क्रियाओ को सहायक क्रियाये और दूसरे वर्ग की क्रियाओ को सयोगी क्रियाये कहा जाए, तो अधिक उत्तम रहेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर इन पर विचार भी किया जायगा।

वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'है' की व्युत्पत्ति सस्कृत 'अस्ति' से मानी जाती है। सस्कृत का यह 'अस्ति' शब्द 'अस्' धातु का लट् लकार मे बना प्रथम पुरुष का एकवचन है, जिसका प्राकृतो मे 'अत्थि' और अपभ्रश मे 'अहि' रूप बनता है। इसी की 'इ' को वृद्धि होकर 'अहै' बनता है और 'अ' लोप से हिन्दी 'है' बन जाता है।

(सं.) अस्ति>(प्रा.) अत्थि>(अप.) अहि>(आ. भा. आ.) अहइ/अहै>(हि.) है।

'हैं'—हिन्दी का बहुवचनान्त रूप है। बहुवचन बनाने के लिए हिन्दी मे अनुस्वार का प्रयोग एक प्रख्यात तथ्य है। अतः इसकी उत्पत्ति के लिए प्रा. भा. आ. मे खोजने से कोई लाभ नही है।

'हो'—मध्यम पुरुष बहुवचन के इस रूप की व्युत्पत्ति भी 'अस' धातु से की जाती है, परन्तु इसका विकास यदि 'भू' धातु मे खोजा जाए तो अधिक उत्तम रहेगा। प्राकृत भाषाओ मे 'भवति' का एक रूप 'होति/होदि' भी बनता है और अपभ्रश मे मध्यम पुरुष एकवचन मे 'होहि' और 'होइ' दो रूप बनते है। इसमे 'इ' का लोप होकर 'हो' व्युत्पन्न होता है; यथा—

(स.) भवसि>(प्रा.) होसि>(अप.) होहि/होइ>(हि.) हो।

उत्तम पुरुष एकवचन की वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'हूँ' की व्युत्पत्ति सस्कृत की 'अस्' धातु के उत्तम पुरुष के (वर्तमानकाल) एकवचन रूप 'अस्मि' से की जाती है। 'अस्मि' का प्राकृत मे 'अम्हि' रूप बनता है। इससे हिन्दी का 'हूँ' बन गया, पर यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है। 'इ' का 'ऊ' बन जाना कुछ समझ मे नही आता। यदि 'स्म' के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जाये, तो हम वस्तुस्थिति के अधिक समीप होगे। 'स्मः' का प्राकृतो मे 'म्हो' बनता है और

अपभ्रंश में नियमानुसार 'म्हुँ' बनेगा, जिसमें 'म्' लोप और 'उँ' के दीर्घीकरण से 'हूँ' बन जायेगा।

(सं.) स्मः>(प्रा.) म्हो>(अप.) म्हुँ>(हि.) हूँ।

'भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' का सम्बन्ध भाषाविद् 'स्था' से जोड़ते हैं। यह तो सर्वमान्य है कि हिन्दी का 'था' किसी कृदन्त क्रिया का विकसित रूप है, क्योंकि इसमें लिङ्ग परिवर्तन होता है। अत. इसकी व्युत्पत्ति हमे किसी कृदन्त रूप मे ही खोजनी चाहिए, पर 'स्था' तो धातु है, इसका कृदन्त (भूतकालिक) रूप बनता है 'स्थितः'। इससे 'था' का विकास सिद्ध नही होता। कुछ इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत शब्द 'असन्त' से बताते है, पर 'असन्त' कहाँ से आया, इसका उनके पास कोई उत्तर नही है। अतः मेरे विचार से इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'भूतः' से माननी चाहिए। हेमचन्द्र शब्दानुशासन, २.६६ के अनुसार प्राकृत मे 'भूतः' का 'हूत' तथा 'हुत्त' बनते हैं, जिनके अपभ्रंश मे 'हुव/हुअ' बनते हैं, जिनसे हिन्दी 'हुआ' और 'हुवा' का विकास हुआ है। उधर अपभ्रंश मे 'हूत' भी चलता रहा होगा, जिसका ब्रजभाषा में 'हुतो' बनता है—'एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस'। यही 'हुतो' आगे चलकर 'हतो' (एक. व.) 'हता' (बहु. व.) और 'हती' स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने लगा। 'ऊ' का लोप होकर 'अ' का आगम होगया अथवा 'ऊ' को 'अ' का आदेश हो गया। आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इसके दो रूप हो गए; यथा—हो, हा, ही और तो, ता, ती। तीसरा रूप 'ह' के प्रभाव के कारण है जो आधुनिक भाषाओं की एक प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है—अल्पप्राण+ह=महाप्राण-व्यञ्जनविपर्यय के प्रभाव के साथ-साथ 'त' का महाप्राणीकरण होकर 'था' बन गया। बहुवचन और एकवचन का व्यत्यय भी अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की एक विशेषता है। अतः इसका विकास निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

(सं.) भूतः>(प्रा.) हूतो>(अप.) हुतो>(आ. भा. आ.) हतो (बहु. व.) हता>(हि.) था।

भविष्यत्कालिक प्रत्यय अथवा सहायक क्रिया 'गा' की व्युत्पत्ति विद्वान् लोग भूतकालिक कृदन्त 'गतः' से करते है, यह भी उचित प्रतीत नही होती। इसमे दो आपत्तियाँ आती हैं; एक तो भूत और भविष्यत् का क्या सम्बन्ध? क्या ऐसी प्रवृत्ति कही भाषा मे मिलती है, जहाँ 'भूत' का प्रयोग भविष्यत् में किया गया हो? दूसरे गत्यर्थक 'गम' धातु केवल भविष्यवाची प्रत्यय का रूप भाषा के कौनसे स्तर पर धारण करती है, स्पष्ट नही है। अतः 'गा' की व्युत्पत्ति 'गत.' से मानना युक्तिसंगत नही हो सकता। अभी तक यह भी स्पष्ट नहीं है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, किन्तु यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट

नही है, तो इसका तात्पर्य यह भी नही है कि उसकी गलत उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाए। हाँ, यह एक ध्रुव सत्य है कि हिन्दी मे भविष्यत्‌काल का बोध कराने के लिए वर्तमान इच्छार्थक के साथ 'गा, गे, गी' आदि प्रत्यय लगाये जाते है।

सहायक क्रियाओ की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम हिन्दी भाषा के काल-रूपों की व्युत्पत्ति पर विचार करेगे। जैसाकि बताया जा चुका है, हिन्दी मे कालो की रचना तीन प्रकार की पायी जाती है। (१) संस्कृत के तिङन्त रूपो से विकसित काल, (२) संस्कृत के कृदन्त रूपों से विकसित काल और (३) सस्कृत के कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं को लगा कर बनाए गए यौगिक काल।

तिङन्तों से विकसित प्रकार तथा काल—तिङन्त रूपो से अवशिष्ट दो प्रकार के काल हिन्दी भाषा मे उपलब्ध होते है; एक तो विशुद्ध तिङन्त और दूसरे प्रत्यय संयोगी तिङन्त काल। प्रथम को प्रकार की दृष्टि से तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—(१) निर्देशक, (२) इच्छार्थक और (३) आज्ञा। निर्देशक और आज्ञा मे केवल वक्ता के कहने के ढग का ही अन्तर हिन्दी मे पाया जाता है, कोई विकासात्मक अन्तर नही है। इनका विकास संस्कृत 'लट्' लकार के रूपो और मध्यम पुरुष एकवचन का विकास सस्कृत 'लोट्' लकार के मध्यम पुरुष एकवचन से सम्पन्न हुआ है। विकासात्मक दृष्टि से इन रूपो को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

	हिन्दी	**अपभ्रंश**	**प्राकृत**	**संस्कृत**
	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष वहुवचन (लट् लकार)
एकवचन	चलूँ	चलहुँ	चलमु	चलामः
बहुवचन	चले	चलइँ/चलमि/ चलउँ (बहुवचन)	चलमि (एक व.)	चलामि (एकवचन)
	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष (लोट् लकार)
एकवचन	चल	चल	चल	चल (लट्)
वहुवचन	चलो	चलउ/चलहु	चलह	चलथ
	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष (लट् लकार)
एकवचन	चले	चलइ	चलदि	चलति
वहुवचन	चलें	चलइँ/चलं	चलंदि/चलंति	चलन्ति

आदरसूचक आज्ञा का विकास संस्कृत भाषा के विधिलिङ् के रूपों से हुआ है। हिन्दी भाषा में इसके रूप केवल मध्यम पुरुष बहुवचन में ही उपलब्ध होते है। हिन्दी भाषा मे इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के आशीर्लिङ् के 'या' प्रत्यय से हुआ है। 'या' का मध्यकालीन भाषाओं में 'एय्य और एज्ज' मे विकास हुआ है। अपभ्रंश में यह 'इय तथा इज्ज' मे विकसित हो गया था। हिन्दी भाषा मे केवल कुछ ही शब्दों मे 'ईज' का प्रयोग मिलता है; यथा—कीजिये, दीजिये, लीजिये और पीजिये। राजस्थानी भाषा में इसका सर्वाधिक प्रचार है। एक बात ध्यान में रखनी है कि 'प्राकृतो' मे 'एज्ज' को प्रत्यय न मानकर 'तिङ्' प्रत्यय के स्थान पर आदेश विकल्प से माना है। उपर्युक्त शब्दो के अन्त का 'इय' प्रत्यय संस्कृत के कर्मवाच्य के 'य' प्रत्यय से विकसित है। सस्कृत कर्मवाच्य 'य' प्रत्यय प्राकृतो में 'इय/इय्य/ईय और अपभ्रश मे 'इज्ज'' बन गया जो मारवाडी, सिंधी आदि में सुरक्षित है। हिन्दी भाषा ने इसके 'इय' रूप को ही सुरक्षित रखा है और इस प्रकार 'कीजिये' आदि शब्दों का 'लट्' लकार के विकसित प्रत्यय के योग से निर्माण हो जाता है। हिन्दी मे 'चलिये, करिये, बैठिये आदि मे इसी का योग दृष्टिगत होता है। वैसे इन्हे 'आशीर्लिङ्' के प्राकृत प्रत्यय 'एय्य+इय' से भी व्युत्पन्न हुआ माना जा सकता है।

प्रकारों के अतिरिक्त वर्तमान इच्छार्थक और वर्तमान आज्ञार्थक कालो की व्युत्पत्ति भी उपर्युक्त प्रणाली से ही हुई है। सम्भाव्य भविष्यत् की उत्पत्ति भी सस्कृत 'लट्' लकार से ही हुई है। डा देवेन्द्र नाथ शर्मा सम्भाव्य भविष्यत् की व्युत्पत्ति सस्कृत के 'विधिलिङ्' रूपो से करते है। इन का सम्बन्ध हिन्दी के अन्य पुरुष एव मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष बहुवचन के रूपो के साथ ठीक बैठता है, पर उत्तम पुरुष एकवचन मे फिर वही कठिनाई उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार प्राकृत भाषाओ मे भी विधिलिङ् के रूप 'लट् लकार' के अनुरूप चलने लग गये थे। अतः डॉ देवेन्द्र नाथ का 'ए' (विधिलिङ् की) के प्रति जो मोह है, वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। 'अइ' से हिन्दी 'ए' की व्युत्पत्ति अधिक वैज्ञानिक है। अतः मेरी दृष्टि मे उक्त शब्द रूपो की व्युत्पत्ति 'लट्' लकार के रूपो से ही सम्पन्न हुई है।

सामान्य भविष्यत् काल के सूचक हिन्दी रूपो की व्युत्पत्ति वर्तमान आज्ञार्थक के रूपो के साथ 'गा, गे, गी' आदि प्रत्यय लगा कर की जाती है। अतः इसे भी तिङन्त काल ही कहा जाता है।

कृदन्त काल—सस्कृत के कृदन्त रूपो से हिन्दी मे सामान्य भूतकाल और सम्भाव्य भूतकाल के रूपो का विकास हुआ है। सामान्य भूतकाल के रूप संस्कृत के 'क्तान्त' कृदन्त रूपो से विकसित हुए है; यथा—

(सं.) पठितः>(म. भा. आ.) पढ्डिअ>(हिन्दी) पढ़ा। बहुवचन सूचक प्रत्यय 'ए' से 'पढे' और स्त्री प्रत्यय 'ई' के योग से 'पढी' शब्द व्युत्पन्न होते है।

सम्भाव्य भूतकाल के रूपो का विकास सस्कृत के 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्तों के रूपो से हुआ है। सस्कृत मे जब धातु के साथ 'शतृ' प्रत्यय का योग होता है तब 'शतृ' का केवल 'अत्' शेष रहता है और प्रातिपदिक बनता है 'पठ्+अत्= पठत्'। इसी रूप के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन रूप 'पठन्तः' से हिन्दी मे 'पढ़ता' बनता है; यथा—(सं.) पठन्तः>(म. भा. आ.) पठंत>(हि.) पढ़ता।

यौगिक काल—उपर्युक्त इन रूपो के साथ हिन्दी मे विकसित 'है और था' तथा इनके विकृत रूपो का पुरुषानुसारी प्रयोग कर हिन्दी के विभिन्न कालो की रचना की जाती है। सामान्य वर्तमान काल के लिए, 'शतृ' प्रत्यय से विकसित, सम्भाव्य भूतकाल के शब्द 'पढता' के साथ 'है, है, हो, हूँ' आदि का प्रयोग होता है; यथा—पढ़ता है, पढता हूँ, आदि। अपूर्ण भूतकाल के लिए उक्त शब्द रूप के साथ 'था, थे, थी' आदि लगा दिये जाते है; यथा—पढ़ता था, पढती थी, पढते थे आदि। अपूर्ण भविष्यत्काल अथवा सदिग्ध वर्तमानकाल के लिए सहायक क्रिया के भविष्यत्कालीन रूप 'होगा, हूँगा, होगे' आदि को सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ जोड़ दिया जाता है; यथा—पढता होगा, पढता हूँगा आदि। इसी प्रकार सम्भाव्य वर्तमानकाल के लिए सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ 'होउँ, होवे' आदि जोड़ दिये जाते है; यथा—पढता होउँ, पढता होवे। आसन्न भूतकाल के लिए उक्त रूप के साथ होता, होते आदि जोड़े जाते है; यथा—पढता होता, खेलते होते आदि।

'शतृ' प्रत्ययान्त रूपों के साथ जिस प्रकार सहायक क्रियाओ को जोड़कर भिन्न-भिन्न कालो का बोध करवाया जाता है, ठीक उसी प्रकार सहायक क्रियाओ के उन्ही रूपो को उसी प्रकार 'क्तान्त' प्रत्यय वाले शब्दो से विकसित शब्दो के साथ जोडकर कालो की पूर्णता इत्यादि का द्योतन करवाया जाता है।

सम्भाव्य वर्तमान का बोध कराने वाली सहायक क्रियाएँ सस्कृत 'भू' धातु के लट् लकार के रूपो से व्युत्पन्न हुई है। प्राकृत मे 'भू' को 'हव' आदेश हो जाता है और अपभ्रश मे 'हो' और इनके साथ लगे 'तिङ्' प्रत्ययो के कारण 'होऊँ, होवे' आदि की उत्पत्ति होती है।

सम्भाव्य भूतकाल की सहायक क्रिया सस्कृत की शतृ प्रत्ययान्त 'भू' धातु के 'भवन्तः' से व्युत्पन्न है; यथा (स.) भवन्तः>(म. भा आ.) होतो>(हि) होता।

सम्भाव्य भविष्यत् की सहायक क्रियाये सम्भाव्य वर्तमान के क्रिया रूपो के साथ 'गा, गे, गी' लगाकर निष्पन्न की जाती है; यथा—होऊँगा/हूँगा, होगा, होगे आदि।

भविष्यत्काल आज्ञार्थक का केवल एक ही रूप 'नान्त' मध्यम पुरुष बहुवचन में मिलता है, यथा—चलना, पढना, खाना आदि। हिन्दी क्रिया का औत्सर्गिक रूप ही इसे कहा जा सकता है।

पूर्वकालिक क्रियाएँ—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की छान्दस की भाषा मे क्रिया के इस रूप को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रत्ययों को काम में लाया जाता था। संस्कृत में इसके लिए केवल दो प्रत्ययो—(१) क्त्वा और (२) ल्यप् का ही विधान कर दिया गया और उसमे भी अनुपसर्ग धातु के साथ 'क्त्वा' और उपसर्ग सहित धातु के साथ 'ल्यप्' को निश्चित कर दिया गया। छान्दस मे इस प्रकार के नियम का पालन नही मिलता। प्राकृतों मे उक्त प्रत्ययो के लिए महाराष्ट्री में, 'तुम्' अत्, तूण और तुआण; शौरसेनी में, इय और दूण और मागधी अवन्ती मे 'तूण' आदेश होने लगे। अपभ्रश में इसके लिए आठ प्रत्ययो का विधान मिलता है; यथा—इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि तथा एविणु। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने इनमे से केवल 'इ' को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही क्रिया के मूल रूप का भी प्रयोग इस अर्थ मे किया जाने लगा। हिन्दी भाषा ने उपर्युक्त प्रणाली से भिन्न रूप मे अपना विकास किया और क्रिया के मूल रूप के साथ 'कर' शब्द जोड़कर इस अर्थ का द्योतन कराने लगी; यथा—खाकर, जाकर, रहकर आदि। ग्रामीण रूप मे इस अर्थ के लिए 'के' का प्रयोग होता है, यथा—खा के। हिन्दी के साहित्यक रूप मे भी 'कर' के साथ 'के' का ही प्रयोग किया जाता है। सम्भवत. द्विरुक्ति से बचने के लिए। राजस्थानी मे 'करि' मिलता है। 'कर' की व्युत्पत्ति सस्कृत 'कृत' से की जाती है।

हेत्वर्थक क्रियाएँ—'हेतु' का वोध कराने के लिए सस्कृत भाषा मे 'तुमुन्' प्रत्यय धातु के साथ जोडा जाता है। प्राकृतो मे इसके लिए अन्य प्रत्ययो के साथ-साथ 'अण' प्रत्यय जोडा जाने लगा। अपभ्रश मे यह पर्याप्त मात्रा मे लोकप्रिय हुआ। इसके साथ-साथ अपभ्रंश मे 'हेतु-वोध' के लिए, एव अणहं, अणहिं, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु का विधान मिलता है। इसके 'एवि' के विकसित रूप को राजस्थानी भाषा ने अपनाया। हिन्दी भाषा ने प्रत्ययो का सहारा छोडकर क्रिया के औत्सर्गिक रूप के साथ 'के लिए' जोडकर क्रिया के हेतु का बोध कराना प्रारम्भ किया। हिन्दी की सरलता का यह सर्वोपरि प्रमाण है।

संयुक्त क्रियापद[28]—हिन्दी मे दो-दो तीन-तीन क्रियाएँ एक साथ लाकर

---

[28] डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४९२-९३।

भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है। विद्वानों ने विकास क्रम को दृष्टि मे रखकर इनके पाँच भेद किये है—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त पदयुक्त; यथा—फाड़ देना, जा सकना।

(२) आकारान्त क्रिया-मूलक विशेष्य पद युक्त; यथा—जाया करना, बजा चाहना, बोला चाहना।

(३) असमापिका पद युक्त; यथा—जाने देना, खाने देना, आदि।

(४) वर्तमानकालिक कृदन्त युक्त—जाता रहना, घटता रहना, आदि।

(५) विशेष्य अथवा विशेषण पद युक्त—भोजन करना, सुख देना, आदि।

अव्यय—सस्कृत भाषा मे अव्यय का विधान पाया जाता है। महामुनि यास्क के द्वारा प्रस्थापित उपसर्ग[29] और निपात[30] की पाणिनि ने अव्यय संज्ञा की है। अव्यय शब्द का निर्वचन विद्वान् लोग इस प्रकार करते है—नास्ति व्ययः=विनाशः=विकृतिर्यस्य, यस्मिन् वा तद् अव्ययम्' अर्थात् जिस शब्द मे लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार कोई विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था मे एक रूप रहता हो—उसे अव्यय कहते हैं। इसीलिए प्राचीन दार्शनिको ने ब्रह्म को अव्यय कहा है। गोपथ ब्राह्मण मे ब्रह्म परक स्तुति मे 'अव्यय' की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार से की है—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम्॥"[31]

हिन्दी भाषा मे इनका अध्ययन दो वर्गों मे विभाजित कर किया जाता है—(१) उपसर्ग, और (२) अव्यय। अव्ययो को भी क्रिया विशेषण, सम्बन्ध बोधक, समुच्चय बोधक तथा विस्मयादि बोधक आदि वर्गों मे विभाजित किया जाता है। हिन्दी में एक दूसरा प्रकार भी प्रचलित है, जिसके अनुसार शब्दो के रूप की दृष्टि से दो भाग किये जाते है—(१) विकारी और (२) अविकारी। विकारी के अन्तर्गत, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया की गणना की जाती है और अविकारी के अन्तर्गत अव्ययो (उपरिकथित चारो भाग) को लेते है। पहले यहाँ हिन्दी उपसर्गों और तत्पश्चात् अव्ययो का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपसर्ग—हिन्दी भाषा मे विद्वानों ने तीन प्रकार के उपसर्गों को चिह्नित

---

29 प्रादय. "उपसर्गाः क्रियायोगे।" पाणिनि अष्टाध्यायी, १/४/५८। प्राग्रीश्वरान्निपाता, १/४/५६ तथा चादयो सत्वे, १/४/५७।

30 स्वरादिनिपातमव्ययम्, १/१/३६ तथा चादयो सत्वे, १/४/५७।

31 भीमसेन शास्त्री कृत हिन्दी टीका, लघुसिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ ६३५ से उद्धृत।

किया है; (१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) विदेशी। जहाँ तक तत्सम उपसर्गो का सम्बन्ध है, वे सस्कृत भाषा से ज्यो के त्यो ग्रहण कर लिए गये है, परन्तु उनका प्रयोग भी, एक दो उपसर्गों को छोड़कर तत्सम शब्दों के साथ ही किया जाता है। पाणिनि के अनुसार 'प्रादिक' शब्दो का प्रयोग, जब क्रिया के साथ किया जाता है, तब उनकी 'उपसर्ग' सज्ञा होती है। इससे यह भी लक्षित होता है कि जब वे क्रिया के योग मे नही आते है, तब उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा नही होगी और उपसर्ग सज्ञा नही होगी तो उनकी अव्यय संज्ञा भी नही होगी और जब अव्यय सज्ञा नही होगी तो उनके साथ कारक, लिङ्ग, वचन का भी प्रयोग होगा; यथा—'वि' प्रादिको मे आता है और क्रिया के साथ योग होने पर यह उपसर्ग बन जायेगा और इससे निपात सज्ञा के कारण अव्यय हो जायगा। तब इसके साथ विभक्ति प्रत्यय नही लगेगे और यह इसी रूप मे क्रिया के साथ युक्त हो जायगा; वि+कस्+घञ्=विकास।

महर्षि पतञ्जलि ने इसमे सुधार कर पाणिनि के उक्त सूत्र के दो भाग कर क्रिया भाव मे भी प्रादिको की निपात संज्ञा की है। अत: प्रादिक निपात सज्ञक होते है; केवल असत्त्व अर्थ को छोडकर। जब प्रादिको मे से कोई शब्द द्रव्यार्थ (सत्त्व) देता है, तब उसकी निपात सज्ञा नही होती है; यथा—वि.=पक्षी। विं पश्य (पक्षी को देखो) अत सिद्ध हुआ कि सस्कृत के उक्त प्रादिको की उपसर्ग सज्ञा क्रिया के ही योग मे असत्त्व अर्थ मे प्रयुक्त होते समय होती है, अन्यथा नही। प्रादिक सख्या मे २२ हैं। यथा—(१) प्र, (२) परा, (३), अप, (४) सम, (५) अनु, (६) अव, (७) निस, (८) निर्, (९) दुस्, (१०) दुर्, (११) वि, (१२) आङ्, (१३) नि, (१४) अधि, (१५) अभि, (१६) अति, (१७) सु, (१८) उत्, (१९) अभि, (२०) प्रति, (२१) परि और (२२) उप्।

हिन्दी भाषा मे भी उपसर्ग की परिभाषा लगभग इसी प्रकार से की जाती है। 'उपसर्ग' उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते है जो शब्द रचना के निमित्त शब्द के पहले लगाया जाता है।[32] उपसर्ग के साथ यह तथ्य भी जुडा हुआ होता है कि वह शब्द के मूल अर्थ में परिवर्तन ला देता है। संस्कृत मे इससे संबद्ध तीन मत प्रचलित थे।[33] प्रथम मत के लोग यह मानते थे कि 'अनेकार्था. धातव.' के कारण धातु के अनेक अर्थ होते है, पर उपसर्ग के योग से पूर्व वे गुप्त रहते है और उपसर्ग का योग हो जाने पर प्रकाश मे आ जाते है। वस्तुतः उपसर्ग अपना कोई अर्थ नही रखते। दूसरे मत के अनुसार उपसर्ग

---

[32] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २२३।

[33] वामन शिवराम आप्टे कृत सस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ, २१२।

अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं, वे धातुओ के अर्थों मे सुधार करते हैं, बढ़ाते हैं और कई उनके अर्थों को विल्कुल बदल देते है। तीसरे मत के अनुसार कुछ उपसर्ग धातु के मूल अर्थ मे वाधा उपस्थित करते हैं, कुछ धातु के अर्थ का ही अनुगमन करते हैं और कुछ अन्य ही विशिष्ट अर्थ प्रकट कर देते है। इन सब को मिलाकर संक्षेप मे कहा जा सकता है कि उपसर्ग शव्द के मूल अर्थ में वैशिष्टच लाते है और इसीलिए शव्द से पूर्व इनका योग किया भी जाता है।

हिन्दी के तद्भव उपसर्ग निम्नलिखित है—

'अ'—इस उपसर्ग का विकास संस्कृत 'अ' (नञ्) से ही हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि इसका प्रयोग तद्भव शव्दों के साथ भी किया जाता है; अथाह, अजान।

'औ'—इसका विकास संस्कृत के 'अव' उपसर्ग से हुआ है। संस्कृत 'अव' प्राकृतों मे 'अउ' और हिन्दी मे 'औ' हो जाता है। अर्थ होता है 'हीन'। प्रयोग—औघट, औसुन।

'अन'—इसका उद्भव संस्कृत 'अन्' (नञ्) से हुआ है। संस्कृत भाषा मे स्वरों से पूर्व 'अ' को 'अन्' आदेश हो जाता है; यथा—अनास्था, अनार्य आदि। इसी 'अन्' को स्वरान्त कर हिन्दी में तद्भव की तरह प्रयुक्त किया जाता है और इसका प्रयोग व्यञ्जन से पूर्व भी होने लगा। स्वर के साथ; यथा—अनाड़ी (अनार्य), अनाखर (अनक्षर) आदि। व्यञ्जन के साथ; यथा—अनहोनी, अनसखरी (पवित्र), अनसमझ आदि।

'दु'—'दु' उपसर्ग का विकास संस्कृत 'दुर्'/दुस्' से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ होता है 'बुरा'। अभाव अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने 'दुवला' शव्द मे 'दु' का वुरे अर्थ मे प्रयोग माना है। मेरे विचार से यहाँ पर इसका अभाव अर्थ मे प्रयोग है। जिसमे वल का अभाव हो गया हो, वह है दुवला (सं. दुर्वलक.) संस्कृत कोश मे भी 'दुर्वल' का अर्थ 'शक्तिहीन' या 'वलहीन' दिया है। 'दुकाल' मे इसका प्रयोग वुरे अर्थ मे है; यथा—वुरा है जो समय वह है 'दुकाल'। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने 'दु' (दो के अर्थ मे) को उपसर्ग मानते हुए 'दुधारा, दुमुहाँ' आदि उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। मेरे विचार मे यहाँ 'दु' उपसर्ग नही है, बल्कि द्विगु समास मूलक वहुव्रीहि समास के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसी कारण इसकी अव्यय संज्ञा हो गई है, अथवा यो कहिये कि विभक्ति का लोप हो गया है।

'नि'—'नि' उपसर्ग का विकास संस्कृत 'निर्' से हुआ है। 'निर्' युक्त शव्दो के 'र्' का द्वित्व प्राकृतो से ही प्रारम्भ हो गया था और हिन्दी तक आते-आते उस 'द्वित्व' हुए व्यञ्जनो में से 'र्' से वने हुए व्यञ्जन का लोप भी

हो गया और इस प्रकार केवल 'नि' ही उपसर्ग रूप मे अवशिष्ट रह सका; यथा—निकम्मा, निहत्था, निकाली और निखट्टू, आदि।

'कु'—संस्कृत गत्यर्थक शब्दो मे परिगणित उपसर्ग प्रतिरूपक 'कु' से इसका विकास हुआ है। संस्कृत मे स्वर सामने आने पर 'कु' को कद् आदेश हो जाता है; यथा—कदाचार। हिन्दी मे सर्वत्र 'कु' ही रहता है। 'कु' उपसर्ग का प्रयोग 'बुरा' अर्थ मे किया जाता है; यथा—कुचाल, कुपूत, कुजात, आदि।

'स'—संस्कृत 'सु' से हिन्दी 'स' उपसर्ग का विकास हुआ है। इसका प्रयोग 'उत्तम' या 'अच्छे' अर्थ मे किया जाता है। कही-कही मूल संस्कृत 'सु' का प्रयोग भी तद्भव शब्दो के साथ उपलब्ध होता है। क्रमश. उदाहरण इस प्रकार है—सकुल, सपूत, सुवस, सुलखा, आदि।

उपर्युक्त उपसर्गों के अतिरिक्त डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने,[34] 'बिन, भर, अध, और उन' शब्दो को भी उपसर्ग माना है। डॉ 'बाहरी' ने[35] प्रारम्भ के दो छोड दिये है। मेरे विचार मे ये चारो ही उपसर्ग नही हैं, अपितु स्वतन्त्र शब्द है और समस्त पदो में इनका प्रयोग निपात की तरह होता है। अतः इन्हे उपसर्ग की सज्ञा नही देनी चाहिए।

विदेशी उपसर्गों मे प्रायः अरबी और फारसी के प्राप्त हैं, पर इनका प्रयोग प्रायः अरबी फ़ारसी शब्दो के ही साथ होता है। ये उपसर्ग हिन्दी की अपनी सम्पत्ति नही बन पाये। ये उपसर्ग निम्न हैं—कम, खुश, दर, बद, बा, बे, ला, ना, सर, आदि। इनमे से कुछ का प्रयोग तद्भव शब्दों मे प्रचलित हुआ था, पर यह प्रवृत्ति शीघ्र ही बन्द हो गयी। इसका कारण सम्भवतः हिन्दी का सस्कृत भाषा की ओर अधिक झुकाव ही होना है। कुछ स्वतन्त्र शब्द भी हैं; यथा—कम, खुश, बद, आदि। मेरे विचार मे इन्हे उपसर्ग नही माना जाना चाहिए।

क्रियाविशेषण—हिन्दी भाषा में कुछ इस प्रकार के शब्द है, जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं। कुछ क्रिया के स्थान, कुछ समय और कुछ रीति आदि का बोध कराते हैं। इनका प्रयोग सर्वत्र अव्यय-रूप मे होता है। अतः इन्हे अव्यय शीर्षक के अन्तर्गत लिया जाता है। इन शब्दो का विकास प्राय संस्कृत संज्ञाओ एव सर्वनामो से हुआ है। विद्वान् लोग इन शब्दो को दो भागो मे विभक्त करते है—(१) सज्ञा पदो से निर्मित क्रिया—विशेषण और (२) सर्वनाम पदो से निर्मित क्रिया विशेषण :

---

[34] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २२४।

[35] डॉ. हरदेव बाहरी कृत हिन्दी उद्भव : विकास और रूप, पृष्ठ १५०।

(१) **संज्ञा पदों से निर्मित**—संज्ञा पदो से निर्मित क्रिया—विशेषण कालवाची है—

(हि) खण/छन/छिन>(प्राकृत) खण/छण>(सं.) क्षण, (हि.) समय/समैं>(म भा.आ) समय>(सं.) समय, (हि.) घड़ी>(म.भा.आ.) घड़िआ>(सं.) घटिका, (हि.) फुर्ती/र्ति>(म.भा.आ.) फुत्ति/फुत्ती>(सं.) स्फूर्ति आदि। इन शब्दो के साथ कारक चिह्नो का प्रयोग किया जाता है, यथा—घड़ी मे, छण में, फुर्ति से, आदि।

(२) **सर्वनामजात क्रियाविशेषण**—इन क्रिया विशेपणो को पाँच भागो मे विभाजित किया जाता है; (क) काल वाचक, (ख) स्थान वाचक, (ग) दिशा वाचक, (घ) रीति वाचक और (ङ) परिमाण वाचक।

(क) **काल वाचक**—अव, जव, तव, कव आदि चार शव्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति अभी सदिग्ध है। वीम्स इनकी व्युत्पत्ति 'वेला' शव्द से पूर्व सर्वनाम अग जोड़कर करते है, यथा—एते वेले 'या' एता वेला>अव। आपके अनुसार उड़िया का एते वेले/एवे आदि शव्द इसके प्रमाण हैं। डॉ. चाटुर्ज्या इसका विकास वैदिक 'एव' से जोडते है; यथा—(वै.सं.) एव>(स) एवम्>(म भा.आ) एव्व/एव्व>(हि) अव। डॉ. चाटुर्ज्या वस्तुस्थिति के अधिक समीप प्रतीत होते है—

अव—(स) एव>(म.भा.आ) एव्व>(हि.) अव।
कव—(सं.) कैव (का+एव)>(म भा.आ) केवँ>(हि) कव।
नव—(स.) ता+एव>(म.भा आ.) तेवँ>(हि.) तव।
जव—(स.) या+एव>(म भा आ) जेवँ>हि) जव।

(ख) **स्थान वाचक**—यहाँ, वहाँ, कहाँ, जहाँ, तहाँ आदि शव्द स्थान वाचक क्रिया विशेपण है।

यहाँ—(सं.) एतस्मात्>(प्रा) एअम्हा>(अप.) एअहाँ>(हि.) यहाँ।
वहाँ—(स) अमुष्मात्>(प्रा.) अउम्हा>(अप.) वहाँ>(हि) वहाँ।
कहाँ—(स) कस्मात्>(प्रा.) कम्हा>(अप.) कहाँ>(हि.) कहाँ।
जहाँ—(सं.) यस्मात्>(प्रा.) जम्हा>(अप.) जहाँ>(हि.) जहाँ।
तहाँ—(सं.) तस्मात्>(प्रा.) तम्हा>(अप.) तहाँ>(हि) तहाँ।

जव इन शव्दो का अधिकरण अर्थ मे प्रयोग होता है, तव इनकी व्युत्पत्ति सस्कृत के सर्वनामो के सप्तमी के प्रत्यय 'स्मिन्' से होगी जिनसे हिन्दी मे 'कही, वही' आदि का निर्माण होता है। कालान्तर मे पचमी के सूचक 'कहाँ, वहाँ' आदि का भी सप्तमी के अर्थ मे प्रयोग होने लग गया दिखाई देता है। इनके साथ 'से' (अपादान कारक सूचक) और 'मे, पर' आदि परसर्गो का प्रयोग ही इस वात का प्रमाण है।

(ग) **दिशा वाचक**—हिन्दी मे दिशावाचक क्रिया विशेषण पाँच हैं; यथा—इधर, उधर, किधर, जिधर तथा तिधर। 'तिधर' के प्रयोग का प्रचलन हिन्दी मे नही के बराबर है। बीम्स ने इन शब्दो के 'धर' अंश का सम्बन्ध संस्कृत 'मुखर' शब्द के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है, जो कि उचित प्रतीत नही होता। अब तक उक्त शब्दो की सन्तोषजनक व्युत्पत्ति ज्ञात नही हो पायी है।

(घ) **रीति वाचक**—रीति वाचक क्रिया विशेषण 'ज्यो, त्यों, यों, क्यों,[36] ऐसे, वैसे, जैसे, कैसे तथा तैसे' आदि ९ शब्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—

ऐसे—(सं.) ईदृशी>(अप.) अइसइ>(हि.) ऐसे।
वैसे—(स.) अमुदृशी>(अप.) अवुसइ>(हि.) वैसे।
जैसे—(सं.) यादृशी>(अप.) जइसइ>(हि.) जैसे।
कैसे—(स.) कीदृशी>(अप.) कइसइ>(हि.) कैसे।
तैसे—(सं.) तादृशी>(अप.) तइसइ>(हि.) तैसे।

(ङ) **परिमाण वाचक**—परिमाण वाचक क्रिया विशेषण शब्द सख्या मे पाँच है—इतना, उतना, कितना, जितना, तितना। इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मतुप्' प्रत्ययान्त सर्वनाम शब्दो से हुई है। इनका विकास विशेषण शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

सस्कृत भाषा के कुछ अव्यय शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी मे क्रिया विशेषण की तरह किया जाता है, जो व्युत्पत्ति-सहित नीचे दिये जा रहे हैं—

आज—(स.) अद्य>(म. भा. आ.) अज्ज>(हि.) आज।
कल—(स.) कल्यं>(म. भा. आ.) कल्लं>(हि.) कल/कालें (ग्रा. प्र.)
परसो—(सं) परश्वस्>(मा.भा.आ) परस्सउ>(हि.) परसों।
तुरन्त—(सं) त्वरित>(म. भा. आ.) तुरत>(हि.) तुरन्त/तुरत।
झट—(स.) झटिति>(हि.) झट।
भीतर—(स) अभ्यन्तर>(म. भा आ.) भितर>(हि) भीतर।
वाहर—(सं.) वहिर>(म. भा. आ.) वहिर>(हि) वाहिर।
आगे—(स.) अग्रे>(म. भा. आ) अग्गे>(हि.) आगे।
पीछे—(सं.) पश्चे>(म. भा. आ.) पच्छे>(हि) पाछे, पीछे।
ऊपर—(स.) उपरि>(म. भा. आ.) उप्परि>(हि.) ऊपर।
नीचे—(सं.) नीचैस्>(म. भा. आ.) निच्चैइ>(हि.) नीचे।

सम्बन्ध वाचक अव्यय—हिन्दी मे सम्बन्ध बोधक अव्यय के रूप में,

---

[36] प्रारम्भ के चार शब्दों की व्युत्पत्ति सदिग्ध है।

'और, एवं, तथा, कि, मानो, जैसा आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है, जिनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—'और'—(सं.) अपर>(म. भा. आ.) अवर>(अप.) अउर>(हि) और। ('एवं और तथा' तत्सम शब्द है)।

'कि'—(सं) किम्>(म. भा. आ.) किं>(हि.) कि। (फारसी में 'भी' 'कि' मिलता है)।

'मानो'—(सं.) मान्यतु>(म. भा. आ.) मण्णउ>(हि.) मानो।

जैसा—(सं) यादृशक.>(अपभ्रंश) जइसअ>(हि.) जैसा।

समुच्चय बोधक अव्यय[37]—ये शब्द कुछ विभाजक होते है, कुछ प्रतिषेधात्मक होते है और कुछ परिणामात्मक होते है, जिनसे वाक्यो मे योग हो जाता है।

(क) विभाजक—हिन्दी में विभाजक के रूप मे 'वा, अथवा और या' का प्रयोग मिलता है। इनमे से क्रमशः दो तत्सम शब्द है और एक फ़ारसी शब्द है। निषेधात्मक शब्द भी विभाजक का कार्य करते है। इसके लिए 'न, नही' का प्रयोग होता है। 'न' तत्सम शब्द है। 'नही' संस्कृत 'न हि' का तद्भव रूप है।

'चाहे, तो भी' आदि का प्रयोग भी इसी अर्थ मे किया जाता है। चाहे—(स) चक्षन्ते>(म. भा. आ.) चाहइ>(हि.) चाहे।

'तो, भी'—(स.) तदपि>(हि.) तो भी। (प्राकृत मे सम्भवत तउहि)।

विस्मयादि बोधक अव्यय—स्थिति-विशेष के अनुसार भावो के बोधक शब्द होते है। इनमे अधिकाश देशज होते है और भाषानुसार इनका निर्माण नये सिरे से होता रहता है; यथा—छि छि, हे हे, आदि। कुछ पुराने शब्द का परिवर्तित रूप मे भी प्रयोग होता है, यथा—'ओहो' संस्कृत 'अहो' का तद्भव रूप है। 'काँव-काँव, भन-भन, वड़-वड़' आदि अनुरणनात्मक शब्द है।

---

[37] 'किन्तु, परन्तु' दोनो ही तत्सम शब्द हैं, पर हिन्दी मे इनका प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता है।

परिशिष्ट १

हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों ? (एक विमर्श)

शीर्षक मे विषय-सामग्री उसी प्रकार सन्निहित होती है, जिस प्रकार एक सूक्ष्म वटवीज मे विशालकाय वरगद का वृक्ष। अतएव विपय-सामग्री की सुस्पष्ट अभिव्यंजना के लिए उसके शीर्षक का विश्लेपण परमावश्यक हो जाता है। भाषाए मानवीय चिन्ता, अनुभव एव अर्जित ज्ञान की अभिव्यंजिका शक्तिया हुआ करती है। अत: भापा-वैज्ञानिक इनकी तुलना भाषा-शास्त्रीय कसौटी पर कस कर करता है, कला-मर्मज्ञ उनका परीक्षण काव्य-शास्त्रीय प्रणाली के आधार पर करता है, समाज-शास्त्री उनमे निहित सामाजिक रीति-रिवाजो का अवलोकन कर अपना मत स्थिर करता है और इसी प्रकार विज्ञानवेत्ता उसमे उपस्थित वैज्ञानिक चिन्तन को व्यक्त करने वाली सामर्थ्य का नाप-जोख कर उन्हे अपने अध्ययन का विपय बनाता है; किन्तु आज यह विषय जिन परिस्थतियो मे आया है इससे इसका सम्वन्ध उपर्युक्त वातो से न रहकर कुछ भिन्न हो गया है। आज हमारा विचारणीय पक्ष उपर्युक्त भाषाओ की ज्ञान-गरिमा नही, अपितु उनका पद है जिसका विश्लेषण उनमे निहित ज्ञान की सामर्थ्य और उसके उपासको एव व्यवहार कर्ताओ की संख्या के आधार पर किया जाना है और वह पद है भारत जैसे विशाल देश की राजभापा का। अत: इसी आधार पर प्रस्तुत विपय का विश्लेषण किया जा रहा है।

भारत एक विशाल देश है। यह अनेक जातियो, सम्प्रदायों, मतों, प्रान्तो एव भाषाओं की संगम भूमि है। इस अकेले देश मे चौदह ऐसी उन्नत भापाएँ प्रचलित है जो अपना अभूतपूर्व साहित्य रखती है। जिनमे से दस भाषाओ को तो विश्व के किसी राष्ट्र की भाषा के साथ तुलनार्थ उपस्थित किया जा सकता है, किन्तु जहाँ यह बात एक और गौरव का विषय है वहाँ दूसरी ओर अनेक समस्याओ की प्रदाता भी। इसी कारण से आज राजभापा के प्रश्न ने एक उग्र रूप धारण कर लिया है।

१५ अगस्त, १९४७ से पूर्व जव हम फिरंगियो की दासता की श्रृंखलाओ से आवद्ध थे, तव हमारी राजभाषा आंग्ल भापा थी और उस समय हम अपने गौराङ्ग महाप्रभुओं की भापा के अध्ययन और अध्यापन मे एक अभूतपूर्व गौरव का अनुभव करते थे; किन्तु आज स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी हम कुत्ते की हड्डी की तरह उसका साथ छोडने को तत्पर नही है। मैं अंग्रेजी भापा का विरोधी नही हूँ, विरोधी हूँ उसके उस अधिकारहीन पद का जिसे वह

भारत मे प्राप्त किये हुए है। किसी भी भाषा का ज्ञान के आधार पर किया गया अध्ययन तो उचित है, किन्तु जब उसके प्रति आसक्ति किन्ही निहित स्वार्थों के कारण होती है, तब वह मानव आत्मा की सबसे गर्हित प्रवृत्ति का द्योतक होती है व उसके क्लैव्य का सूचक होती है। कापुरुषो के चरित्र की यह सबसे बडी पहचान होती है कि वह किसी भी कार्य को अपनी आत्मिक शक्ति के उत्थान के लिए नही करता, अपितु बलिष्ठ की पूजा के लिए करता है। अग्रेजी की उपासना हमारी इस प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। अग्रेजो को प्रसन्न करने के लिए सात-समुद्र पार से आई हुई भाषा को जिसके साथ हमारा कोई भी तथा किसी भी प्रकार का निकटवर्ती लगाव न था, उसे हम पढ़ सकते थे, किन्तु राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने वाली अपने ही देश की भाषा को पढना हम अपनी मानहानि समझते है, जिसकी विचित्र रूप-सज्जा ने भारतीयो मे वैमनस्य का बीज वपन कर दिया है।

मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेजी एक समृद्ध भाषा है, उसका विपुल साहित्य है तथा वह एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा भी है और उसके लिए वह हमारे सम्मान एव श्रद्धा की पात्री है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि वह हमारी मा का आसन ग्रहण करे। उसकी चकाचौध मे हम अपनी मां की सादगी को भुला दे और यदि हम ऐसा करने का दुस्साहस करते है तो यह हमारे देश एव जाति के लिए अत्यन्त अशोभनीय एव लज्जाजनक कृत्य है। यदि हमारी माता मे कतिपय त्रुटियाँ है, यदि वह वाङ्मय के कुछ क्षेत्रो को अपने मे सँजोये हुए नही है तो उसके सशक्त एवं प्रतिभाशाली पुत्रो का यह पावन कर्तव्य है कि वे इसकी पूर्ति करे, अपने अनथक परिश्रम के द्वारा उसकी ऐसी साज-सज्जा करे, जिससे उसके सामने आज हमको लुभाने वाली विदेशी भाषा को भी दाँतो तले अगुली दबानी पड़े। हमे रूस, चीन, फ्रास, जर्मनी के पथ का अनुसरण करना चाहिये, न कि लका और इण्डोनेशिया का। फिर यह भी ध्रुव सत्य है कि जो वास्तविक एवं हार्दिक वात्सल्य हम अपनी मा से प्राप्त कर सकते है, वह सौतेली मा से नही, वह हमारी आँखो को चौधिया तो सकती है किन्तु हृदय प्रदान नही कर सकती। यदि इस चकाचौध से प्रभावित होकर हम अपनी ही माताओ का तिरस्कार कर बैठते है तो निश्चय ही हम कापुरुष है, क्योकि हम मे अपनी मा के अभावो की क्षति-पूर्ति करने की सामर्थ्य नही है। हाँ! अग्रेजी भाषा को उसकी समृद्धि के आधार पर हम शिक्षिका का पद तो दे सकते है, किन्तु राष्ट्रभाषा का पवित्र-पद जो हमारी अपनी भाषाओ के लिए सुरक्षित है, समर्पित नही कर सकते; और इस प्रकार शिक्षिका का पद तो हम विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा को प्रदान करने के लिए तैयार है, अग्रेजी को विशेष महत्ता केवल इसलिए प्राप्त है कि वह इस देश में पहले से प्रचलित है।

राजभापा विधेयक के लिए लचीली नीति का आश्रय तथा आंग्ल भापा के संदर्भ मे उस पर विचार-विमर्श करना एक ऐसी राजनैतिक भूल होगी जो भारत के प्राचीन गणमान्य व्यक्ति अपने खोखले अह की तुष्टि के लिए या मिथ्या उदारता के नाम पर कर चुके है तथा जिनका परिणाम हम आज तक भोग रहे है। हाँ, भारतीय भाषाओ पर हम एक बार नही, हज़ार बार विचार करने को तैयार है पर उसमे देश की एकता का प्रश्न और जनहित की भावना आँखों से ओझल न होने पाए। आंग्ल भाषा को राजभापा के पद से अपदस्थ करने वाले सघर्ष मे हमारे प्रधान मन्त्री को उतनी सुदृढ़ता का परिचय देना चाहिए, जितनी सुदृढता का परिचय अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन ने देश की एकता को खण्डित करने वाले अमेरिका के दक्षिणी राज्य को दिया था। मै नही समझ पाया कि जिस देश में एक से एक अधिक गुणागरी, कला-मर्मज्ञा एवं ज्ञान-संयुक्ता चौदह माताएं उपस्थित हैं तो इस देश के कतिपय निवासी एक विदेशी मा के प्रति इतने उत्कठित क्यो है? कमाल की बात तो यह है कि वह हमसे चिढ़ती है, हमसे दूर भागती है और हम उससे चिपकना चाहते है। आप इसे चाहे भावुकता ही कहे पर, मैं राजस्थान के भू. पू. राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द के साथ अक्षरशः सहमत हूँ। उन्होने कहा था—

"हिन्दी से सबको चिढ़ है तो किसी दूसरी भारतीय भाषा को उसका स्थान दे दिया जाय, किन्तु अंग्रेजी को सर पर ढोना तो डूब मरने के बराबर है।" (हिन्दी दिवस के अवसर पर एक विशेष लेख, डॉ. सम्पूर्णानन्द। धर्मयुग १६ सितम्बर, १९६२)

प्राचीन वाङ्मय उस देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अनुभूतियो का कोष होता है, जो देश उससे लाभ नही उठाता, वह अपनी हठ-वादिता एव जड़-बुद्धिता का परिचय देता है। भारत का इतिहास यह रहा है कि उसने किसी युग मे अखण्ड भारतीय राष्ट्रीयता का परिचय नही दिया और परिणाम-स्वरूप अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलापने की स्थिति मे विश्व के अन्य देशो की तुलना मे यह देश अधिक बार और अधिक समय तक दासता की शृंखलाओ मे आबद्ध रहा। प्राचीन युग मे भारतीय अखण्डता का भेदक प्रान्तीयतावाद तथा घिनोना धार्मिक प्रमाद रहा और आज उनका स्थान प्रान्तीय भापाओ को दिया जा रहा है। राष्ट्रभापा के प्रश्न पर यदि आज गाधार के आम्भीक, सुल्तान के अजयपाल, लोहकोट के भीमपाल, जालौर के वाक्पतिराज, कन्नौज के जयचन्द और सोमनाथ मन्दिर के रुद्रभद्र की गर्हित एव वीभत्स नीतियो का अनुसरण किया गया तो देश के लिए वह अत्यन्त भयानक सिद्ध होगा।

१४ सितम्बर, १९४९ को देश के विचारशील राजनीतिज्ञो ने अत्यन्त

विचार-विमर्श के पश्चात् राजभाषा के सम्मानित पद पर हिन्दी को सुशोभित किया था। ज्यों-ज्यों संविधान की इस धारा को कार्यान्वित करने का समय समीप आता गया, त्यों-त्यों कतिपय निहित स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने इस प्रश्न को उलझाना प्रारम्भ कर दिया और परिणाम यह हुआ कि २६ जनवरी, १९६५ को जब सरकार ने हिन्दी भाषा को राजभाषा घोषित किया तो दक्षिण भारत के प्रान्तीयतावादी विचार वाले व्यक्तियों ने इसका विरोध किया और दो नादान भावुक नवयुवकों को भड़का कर मृत्यु की गोद मे सुला दिया, जो अत्यन्त अशोभनीय कार्य था।

मैं तो यह कहूँगा कि वर्तमान सरकार ने अंग्रेजी को राजभाषा के पद से अपदस्थ कर अत्यन्त बुद्धिमानी का परिचय दिया है, किन्तु मुझे यह भी आशा है कि भारत शैक्षाणिक दृष्टि से इस महान् भाषा का सम्मान करता रहेगा और इसके साथ उसी प्रकार सम्पर्क बनाए रखेगा जिस प्रकार आज वह राष्ट्रमण्डल के माध्यम से अंग्रेजो से सम्पर्क बनाए हुए है। हम उससे ज्ञान ग्रहण करते रहेगे और उसके भण्डार को अपनी प्रतिभा से भरते रहेंगे, किन्तु हमारे घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप करने का अधिकार कभी नही देंगे। काका कालेलकर ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को बडी ही सुन्दर वाणी दी है, जब उन्होने कहा था—

"राज्य का सब काम अंग्रेजी मे चलाना प्रजा पर एक बोझ डालना है, वह भी प्रशासको की सुविधा के लिए। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि स्वराज्य प्रजा के लिए है, शासन अधिकारियो के लिए नही। यदि यह अस्वाभाविक स्थिति देर तक बनी रही तो हम बिगड उठेगे।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २ सितम्बर, १९६२ से उद्धृत)

दक्षिण भारत मे हिन्दी का विरोध कर अंग्रेजी की स्थिति को वैसी ही बनाये रखने वालो मे उन लोगो की कमी नही है जो महात्मा गाधी की दुहाई देते हुए नही थकते हैं, किन्तु जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न आता है, अंग्रेजी को अपदस्थ करने का प्रश्न आता है, तो वे अपने आदर्श नेता के उन शब्दो को भूल जाते हैं जो उन्होने यंग इण्डिया मे प्रकट किए थे—

"That crores of men should learn a foreign tonguo for the convenience of a few hundreds of officials is the height of absurdity. (*Young India*, 21-4-1920)

उस समय उन्होने मद्रास के लोगो से उनके कर्तव्य को भी पूछा था—

"What is the duty of the thirtyeight million inhabitants of that Presidency ? Should India for their sake learn English ?

or Should they for the sake of two hundred seventy seven million inhabitants of India learn Hindustani.

(*Young India*, 21-4-1920)

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर प्रशासन-कार्य भारत मे प्रचलित सभी भाषाओ में चलाया जाए या उन भाषाओ मे से किसी एक भापा को समस्त भारत के प्रशासन के लिए रखा जाए। इसका उत्तर एक वाक्य मे यों रखा जा सकता है कि जनता का प्रशासन जनता की भाषा मे संचालित किया जाए। तामिलनाडु की जनता का प्रशासन तमिल मे और वंगाल की जनता का प्रशासन वंगला मे तथा इसी प्रकार अन्य प्रान्तो में भी। इसके अतिरिक्त केन्द्र से सम्वन्ध रखने वाली सभी विद्याओ के लिए तथा अन्तर-प्रादेशिक व्यवहार एव वार्तालाप के लिए एक भापा का प्रयोग हो, जिससे भारत की भावनात्मक एकता सुदृढ हो और केन्द्रीय मंत्रालयों के कार्यालय भापाओ के अजायवघर न वन जाएँ। अव वह भाषा कौनसी हो ? इस प्रश्न का समाधान हमे खोजना है। यह घरेलू मामला है कि हम सव एक स्थान पर वैठ कर प्रान्तो की भावना से ऊपर उठ कर समग्र भारत में हित-साधना के लिए, उसके विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए तथा उसके समुचित कल्याण के लिए उस महान् देश में प्रचलित १४ भापाओ मे से किसी एक को जो सभी का सही प्रतिनिधित्व कर सकती हो, उसकी एकता को दुर्वल न वना कर सुदृढ़ आधार-भित्ति प्रदान करने मे समर्थ हो, इस पद से सुशोभित करें। इसके लिए हमे दो वातों का ध्यान रखना पड़ेगा—(१) कम से कम परिश्रम और अधिक से अधिक लाभ; और (२) भापा का सामर्थ्य।

उपर्युक्त प्रश्न भारत के लिए नवीन नही है। पुरातन युग से ही ऐसे प्रश्न उपस्थित होते रहे है और भारतीय मनीषियो ने उसका हल खोजा है। पहले ये प्रश्न धर्मोपदेश के लिए उठते थे जो उस समय राष्ट्रहित-विधायक समझे जाते थे और आज ये प्रश्न राष्ट्र के प्रशासन के लिए उठा, जो उसी सीमा तक हमारा हितसाधक है। अत्यन्त प्राचीन काल मे इसी प्रकार का प्रश्न इस देश के समक्ष उपस्थित हुआ था। जव वैदिक सस्कृत से निसृत तीन वोलियाँ—प्राच्या, उदीच्या तथा मध्य देशीया—इस भू-भाग में प्रचलित थी। भगवान् वुद्ध प्राच्या का मोह त्यागने को तत्पर नहीं थे और व्राह्मण लोग वैदिक संस्कृत नही छोडना चाहते थे, किन्तु उस समय भी ईश्वर चिन्तन मे लीन ऋषियो ने इसका निर्णय किया और उदीच्या एवं मध्यदेशीय के सम्मिलित रूप संस्कृत को राष्ट्र भापा का गौरवमय पद प्रदान किया, जिसे अन्त मे वुद्ध सम्प्रदाय ने भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् भी अनेक प्रान्तों मे से महाराष्ट्री को और अनेक प्राकृतजा वोलियों मे से अपभ्रश को

अन्तर-प्रादेशिक भाषा माना गया। अव भारत में प्रचलित चौदह भाषाओं में से हिन्दी को अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् संविधान में राज-भाषा के पद से सुशोभित किया गया। भारत के अनेक भाषाविदों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के चिन्तनशील मनीषियो एवं राजनीति-विशारदो ने यह सुझाव दिया है कि भारत के आन्तर-प्रादेशिक भाषा के पद को ग्रहण करने का सामर्थ्य केवल-मात्र हिन्दी भाषा मे ही निहित है। वंगाल के विश्व प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ. सुनीतकुमार चटर्जी ने वताया कि हिन्दी या हिन्दुस्थानी आज के भारतीयो के लिए एक वहुत वड़ा रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का वृहत्तम साधन है तथा भारतीय एकता एव राष्ट्रीयता का प्रतीक वन सकता है। वास्तव मे हिन्दी ही भारतीय भाषाओ का प्रतिनिधित्व कर सकती है। (भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी, पृष्ठ २०४)

पूर्वी भारत के महान् विचारक श्री केशवचन्द सेन ने इससे भी वहुत वर्ष पहले भारतीयो को सचेत करते हुए समस्त देश के लिए एक भाषा की आवश्यकता को वताते हुए उसके लिए हिन्दी का ही नाम लिया है—

यदि भारतवर्ष एकना हयले भारतवर्ष एकता नहय, तव ताहार उपाय-कि ? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार कराई उपाय। एखन भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्राय: सर्वत्र्न्ह प्रचलित। एइ हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय तवे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हवति पारे। (समाचार सुलभ, चैत्र ५, १२८०)

पश्चिम मे गुजरात के ही नहीं, अपितु समस्त भारतवर्ष की आत्मा महात्मा गाँधी ने भी वही अनुभव किया था कि भारत की राष्ट्र भाषा वनने का सामर्थ्य केवल मात्र हिन्दी मे ही निहित है—

"I have attended all the Congress sessions, but one, since 1915, I have studied then specially in order to study the utility of Hindustani compared to English for the conduct of its proceedings, I have spoken to hundreds of delegates and thousands of visitors and I have perhaps covered a large area and seen a much larger number of people, literate and illiterate than any public man, not excluding Mrs. Besant and Lokmanya Tilak and I have come to the deliberate conclusion that no language except Hindustani, can possibly become a national medium for exchange of ideas or for the conduct of National Proceeding." (*Young India*, 21-1-1920)

इसके साथ ही दक्षिण के कृष्ण स्वामी की चर्चा करते हुए गाँधीजी ने बताया कि वे भी इसी विचार धारा के पोषक थे—

"That late Justice Krishna Swami, with his unerring instinct recognised Hındustani as the only possible medium of expression between the different parts of India."

(*Young India*, 21-1-1920)

आजकल भी दक्षिण मे ऐसे विद्वानों का अभाव नही है, जो इस तथ्य को भली-भाँति स्वीकार करते हैं। अर्थशास्त्र के परम विद्वान् डॉ. वी. के. आर. वी. राव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अतएव हमें उपर्युक्त विद्वानो के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और हिन्दी भाषा के विरोध का कार्य, जो राष्ट्रीय विरोध के तुल्य कहा जा सकता है, छोड देना चाहिए। दक्षिण मे इसके प्रमुख विरोधियों मे श्री राजगोपालाचारी और द्रविड़ मुनेत्रकषगम के नेताओ का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है और मज़ेदार बात यह है कि ये लोग दक्षिण की भाषाओ की समृद्धि और प्रसार के प्रति इतने उत्सुक नही हैं जितने प्राणप्रिया आंग्ल भाषा को अंक से चिपकाए रखने मे सतर्क हैं। विचित्र विडम्बना है। राजाजी का ही उदाहरण लीजिए, एक बार आप ने अग्रेज़ी के समर्थन मे एक लेख माला का प्रारम्भ किया था, जिसमें उन्होने मुख्य रूप से तीन प्रश्न उठाए हैं—[1]

(१) हिन्दी अग्रेजी के समान समस्त भारत मे न ही समझी जाती है और न ही पढी जाती है।

(२) वह एक प्रदेश की भाषा है।

---

[1] कहा जाता है कि हिन्दी जनता की भाषा है और सरकार और जनता की भाषा एक होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि हिन्दी किसकी भाषा है—इस देश मे रहने वाले सब की तो नही ? निश्चय ही दक्षिण के करोड़ो लोगो की तो नही। दक्षिण का कोई भी पठित या अपठित, न उसे बोलता है और न समझता है। उत्तर के चार प्रान्तों में वह बोली जाती है जो एक-दूसरे के समीप है अथवा आजू-बाजू मे है। उसे बोलने वाले इस देश में प्रतिशत के हिसाब से कुछ भी क्यों न हो, वे देशभर मे फैले हुए नही है। वे प्रदेश-विशेष मे ही सीमित हैं। उनकी भाषा को राजभाषा मानने मे उन्हे अधिक गौरव प्राप्त होगा। शायद वह हिन्दी-भाषियो से संख्या मे अधिक होगे। अग्रेजी देश भर मे बराबरी से फैली हुई है। अग्रेजी के राजभाषा बनने मे देश का कोई भी भाग अन्य भागों से प्रतिकूल या क्षति का अनुभव न करेगा। राजकाज मे सबको समता प्राप्त होगी और हिन्दी को लादने से यह समता नष्ट हो जायगी। (धर्मयुग, १ सितम्बर, १९६३ मे श्री शिवड़े द्वारा उद्धृत)।

(३) हिन्दी के राजभाषा होने से दक्षिण का महत्व कम हो जाता है—

यदि इन तीनो प्रश्नो का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो लगता है कि इनकी आधारशिलाएँ अत्यन्त ही निर्बल है। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, वह किसी भी प्रकार मान्य नही है। यद्यपि हिन्दी उत्तर भारत के अधिकाश जनता की मातृभाषा है फिर भी वह समस्त भारत मे अग्रेजी से अधिक मात्रा मे लोगो द्वारा बोली और समझी जाती है। सरकार द्वारा प्रस्तुत आंकड़े इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। अग्रेजी पढे-लिखे लोगो की संख्या समस्त भारतवर्ष मे ११ प्रतिशत है, जबकि मद्रास इसमे तीसरे स्थान पर आता है। जनसख्या की दृष्टि से मद्रास मे अंग्रेजी जानने वालो की संख्या केवल १'१२ प्रतिशत है और इसकी तुलना मे पजाब और पश्चिमी बंगाल मे उक्त भाषा के जानने वालो की संख्या क्रमशः २'२५ प्रतिशत और २'३७ प्रतिशत है, जबकि स्वयं अकेले मद्रास मे हिन्दी जानने और समझने वालो की सख्या १० प्रतिशत से कम नही है। समस्त प्रदेशो मे अग्रेजी जानने वालो और साक्षरो की सख्या निम्न प्रकार है—

प्रदेश	जनसंख्या	साक्षार प्रतिशत	अंग्रेजी जानने वालों की संख्या प्रतिशत
असम	११,८६०,०५९	२५'८	—
आन्ध्र	३५,९७७,९९९	२०'८	१'२
उडीसा	१७,५६५,६४५	२१'५	० ४३
उत्तर प्रदेश	७३,७५२,९९४	१७'५	—
केरल	१६,८७५,१९९	४६'२	१'५
गुजरात	२०,६२२,२८३	३०'३	१ ००
पश्चिमी बंगाल	३४,९६७,६३४	२९ १	२'३१
पंजाब	२०,२९८,१५१	२३'७	२ २५
बिहार	४६,४५७,०४२	१८'२	—
मद्रास	३३,६५०,६१७	३०'२	१'५२
मध्य प्रदेश	३२,३९४,३७५	१६'९	—
महाराष्ट्र	३९,५०४,२९४	२९'७	१'०
मैसूर	२३,५४७,०८१	२५'३	१'१
राजस्थान	२०,१४६,१७३	१४ ७	—

इस प्रकार दक्षिण के लोगो को, जबकि अनेक आश्वासन केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जा चुके है कि उन पर हिन्दी थोपी नही जायेगी, फिर भी अपने राजनैतिक स्वार्थो को लेकर इस प्रकार के आन्दोलन खडा कर देना कहाँ तक समीचीन है, समझ मे नही आता।

हिन्दी के विस्तार के सम्बन्ध मे डॉ. चाटुर्ज्या ने अपने अनुभव के आधार पर बताया है कि हिन्दी न केवल समस्त भारतवर्ष मे पारस्परिक वार्तालाप की अन्तर प्रादेशिक भाषा है, अपितु विदेशो मे भी भारतीयो के साथ बातचीत करने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लिया जाता है। आपने लिखा है कि "रास्ते मे एकत्रित हुए लोगो के ऐसे झुण्ड हमे मिलेगे जिनकी आपस मे बोली जाने वाली स्थानीय बोली हम बिल्कुल भी न समझे, परन्तु उनमे से दस प्रतिशत लोग ऐसे निकल ही आयेगे जो सहज हिन्दुस्तानी में किए गए प्रश्न का उत्तर समझ मे आ जाने लायक हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती भाषा मे, अवश्य दे देगे। यह बात आपको सर्वत्र मिलेगी। चाहे आप कुमिल्ला जाएँ चाहे दार्जिलिग, नौआखाली या बारिसाल, चौबासा या पूना, पुरी या पेशावर, जो सारे हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्षेत्र से बिल्कुल बाहर पड़ते हैं। लन्दन मे चटगाँव, कलकत्ता, मद्रास आदि भारतीय बन्दरगाहो पर काम करके गए हुए मलय देशी नाविक ने तथा भारतवर्ष में तीन वर्ष तक मऊ, पैशावर, कलकता के छावनियो मे रहकर गए हुए एक अंग्रेज सैनिक ने, स्काटलैण्ड के सुदूर उत्तर के ओक्त नगर मे, हैदराबाद दक्खन की एक रेल कम्पनी मे काम करके लौटे हुए एक स्कॉच मजदूर ने तथा ग्रीस की राजधानी एथेस मे भारत के ग्रीक फर्म वाली ब्रदर्स के रगून एवं कलकत्ता स्थित आफिस मे कर्मचारी का काम करके लौटे हुए ग्रीक सैनिक आफिसर ने, समय-समय पर भारत के बाहर भिन्न-भिन्न जगहों पर लेखक को हिन्दुस्तानी मे सम्बोधित किया है।" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १६६-६७)।

अब बताइये राजाजी की बात को सही माने अथवा भाषाशास्त्र के पारखी परम विद्वान् डॉ. चाटुर्ज्या के वक्तव्य को ठीक कहे। एक वह भाषा जिसके समझने-बोलने वालो की संख्या सारे भारतवर्ष मे ११ प्रतिशत है और एक वह भाषा है जिसके समझने-बोलने वाले प्रत्येक प्रदेश मे ही नही, प्रत्येक झुण्ड में १० प्रतिशत है, किसे राजभाषा का गौरवमय पद प्रदान करे ? इस प्रकार की विचारधारा की पुष्टि महात्मा गाधी ने भी एक स्थान पर की है—

"The Hindi speaking man speakes Hindi wherever he goes and no one is surprised at this The Hindi speaking Hindu Preacher and Urdu speaking Molvi make there religious speaches in Hindi and Urdu, and even the illiterate masses understand them, even an unlittered Gujrati when he goes to the north-attempts to speak a few Hindi words but the northern Bhaiya who works as a gate-keeper to the Bombay Seth declines to speak in Gujrati and it is the Seth, his employer, who

is obliged to speak to him in broken Hındi. I have heard Hindi is spoken even in the far off Southern Provinces. It is not correct to say that in Madras one cannot do without English. I have successfully used Hindı there for all my work. In the trains, I have heard Madrasi passenger speakıng to other passenger in Hindi. Besides the Muslims of Madras know enough Hindi to use it successfully well, and thus Hındi has already established as national language of Indıa."

इस प्रकार हम देखते है कि राजाजी द्वारा उठाया गया प्रश्न पूर्णत: निराधार है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीयों का यह संस्कार रहा है कि वे बहुत समीप से सोचते है, उनमे विशाल दृष्टि का सर्वथा अभाव रहा है। जब तक हम इस त्रुटि को दूर नही करेंगे, देश पनप नही सकेगा। यह ठीक है कि यह एक प्रदेश की भाषा है, पर वह प्रदेश किसका अंग है ? भारत नाम के राष्ट्र का। फिर दूरी क्या ? क्या एक शरीर के दो हाथ अपने को परस्पर भिन्न मानकर एक दूसरे हाथ से चिढ़ने लगेगा ? मैं समझता हूँ कि कदापि नही और इस भावना की समाप्ति का ही तो यह उपचार है कि देश की एक भाषा हो, जो चाहे प्रारम्भ मे एक प्रदेश की हो किन्तु आने वाली सन्तान के लिए वह समग्र भारतीय राष्ट्र की भाषा हो जो उन्हे एक सूत्र मे आवद्ध करने में समर्थ सिद्ध हो। देश की एकता के सूचक कुछ प्रतीक हुआ करते है जिन पर प्रत्येक देशवासी निछावर होने को तत्पर रहता है। वे प्रतीक राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत तथा राष्ट्रभाषा है। अत: हमे उस दिन की आशा मे रहना चाहिए, जिसकी आशा श्री टी० विजयराघवाचारी ने की थी:—

"We are all eagerly looking forward to the day when we shall all be Indıans first and Madrasıs and Bengalis next

(*Young India*, 8-4-1931)

अंग्रेजी को वनाये रखने से दक्षिण के लोगो को चाहे सरकारी नौकरी का वेशक लाभ हो, जो विशुद्ध रूप मे क्षणिक एवं व्यक्तिगत है, उन्हे भारतीय एकता का गौरव एव दक्षिण के अतिरिक्त देशवासियो का सौहार्द प्राप्त नही हो सकता जो उनके लिए वहुमूल्य और देश के लिए एक स्थाई सम्पदा बन सकता है। इसलिए गाँधीजी ने कहा था :—"आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे (दक्षिण वाले) जितनी मेहनत करते है, यदि उसका आठवाँ हिस्सा भी वे हिन्दी सीखने मे करे तो वाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज तक उनके लिए वन्द है वे खुल जायें और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जाये

जैसे वे पहले कभी न थे। कोई भी द्रविड़ यह न सोचे कि हिन्दी सीखना जरा भी कठिन है। मै अनुभव से कह सकता हूँ कि द्रविड़ बालक अद्भुत सरलता से हिन्दी सीख सकते है।" (यंग इण्डिया, १६-२-२०; धर्मयुग, १-९-६३ से उद्धृत)।

तृतीय प्रश्न-केवल मात्र मानसिक ग्रन्थि है। हिन्दी चाहे उत्तरी भारत की मातृभाषा है, पर दक्षिण भारत के लोगो के परिश्रम के समक्ष शेष भारत नगण्य है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वे अंग्रेजी के अध्ययन और अध्यापन मे दे चुके हैं और वह दिन दूर नही है कि दक्षिण भारत के विद्यार्थी हिन्दी पर वैसा ही अधिकार कर लेंगे जैसा अंग्रेजी पर और उनका महत्त्व उसी प्रकार बना रहेगा जिस प्रकार का आज बना हुआ है; बल्कि उससे अधिक। क्योकि हिन्दी सीखने मे अंग्रेजी से कम परिश्रम करना पड़ेगा। अतः हमें राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हो अपने देश के लिए इतना त्याग करना ही पड़ेगा कि हम इन महत्व और अमहत्व के पचड़ो मे न पड़ें।

अन्त मे यह कहूँगा कि काश ! राजाजी और इनके अन्य सहयोगियो ने जितना परिश्रम आग्ल भाषा की जड़े भारत मे दृढ़ करने मे लगाया उतना या उससे भी कम परिश्रम किसी दक्षिण भारत की भाषा का, विशेषकर तमिल का उत्तर भारत मे प्रचार करने मे लगाया होता तो वे देश की बहुत बड़ी सेवा करते और आगे आने वाली सन्तति देश की एकता के इन कर्णधारो की मंदिरो मे प्रतिमाएँ बना-बना कर पूजती। किन्तु तथ्य इससे सर्वथा भिन्न है। ये लोग आज भी नही समझते कि देश का कल्याण आग्ल भाषा के गीत गाने मे नही, अपितु भारतीय भाषाओं के सर्वांगीण विकास मे निहित है। श्री विश्वनाथन् भी दक्षिण के ही निवासी है किन्तु उनकी वाणी मे एक सौहार्द है, मैत्री भाव है तथा राष्ट्रीय भावना है :—

"आखिर हिन्दी किसी की भाषा है ? अपने ही सहोदर, सहबान्धव और सहमार्गी, जीवन और रक्त से अपने से सम्बन्धित, अपनी ही माँ के लालो की और उसका विरोध करना अपनी ही आत्मवंचना और आत्मद्रोह का परिचय देना है।" (धर्मयुग, १ सितम्बर १९६३,—शा० विश्वनाथन्)

अब इसके लिए केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि देश की एकता बनाये रखने के लिए, इतिहास की पुनरावृत्ति रोकने के लिए, विदेशी पुनः हमारी फूट से लाभ न उठा लें, इसके लिए, दक्षिण के भाइयो को थोडा त्याग अवश्य करना पडेगा और वह त्याग इस देश के लिए इतना मूल्यवान् सिद्ध होगा कि आगे आने वाली सन्तान उसे स्वर्णाक्षरो मे लिखकर अत्यन्त गौरव प्रदान करेगी अन्यथा जैसे मध्यकालीन रजवाडो की बुद्धि पर हम जार-जार रोकर आँसू बहाते है वैसे ही वह भी हमारे नाम पर थूक दिया करेगी

कि हमारे पूर्वजों में राष्ट्रीयता नाम की कोई वस्तु नही थी, वे स्वार्थी थे, संकुचित वृत्ति वाले थे, तुच्छ थे।

अब हम इसके दूसरे पहलू पर विचार करेगे। भारत मे प्रचलित सभी उच्च भाषाओ मे, जिन्हे संविधान मे स्थान प्राप्त है, हिन्दी सर्वाधिक सरल भाषा है। इसे सरलता से तीन महीने में सीखा जा सकता है और एक वर्ष में उस पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इतनी सरलता से किसी भी अन्य भाषा को नही सीखा जा सकता। इसका पहला कारण तो यह है कि इसका व्याकरण अन्य सभी भाषाओं से सरल है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भारत के भाषा-सर्वेक्षण में सभी भाषाओ का व्याकरण दिया है, जिसमे हिन्दी भाषा के व्याकरण ने सबसे कम स्थान ग्रहण किया है। डॉ. चटर्जी ने तो इस भाषा के व्याकरण को केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखे जा सकने की बात कही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस भाषा का व्याकरण जितना संक्षिप्त एवं सरल होगा वह भाषा उतनी ही सरल होगी। यदि यह स्थान किसी अन्य प्रान्तीय भाषा को देने का उपक्रम किया जाय तो हमारे सामने दो बड़ी कठिनाईयाँ उपस्थित हो जायेगी—(१) भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओ को बोलने वालो की सख्या सीमित है, अतः उसे सीखने के लिए भारत की बहुत अधिक जनसंख्या को प्रयत्न करना पड़ेगा जो उचित नही है। (२) अन्य प्रान्तीय भाषाएं हिन्दी की तुलना मे कम सरल है, अतः उन्हे सीखने मे अधिक प्रयास करना पड़ेगा। हम सभी एक देश के वासी, एक सस्कृति के अनुवर्ती और एक माँ के लाल है। अत. हमे वही करना चाहिए जिससे कम से कम लोगों को प्रयास करना पडे और अपना कार्य भी सिद्ध हो जाये, अर्थात् अराष्ट्रीयता का फूट रूपी साँप भी मर जाये और जनतन्त्र रूपी लाठी भी न टूटे। हमे केवल मात्र यही करना है कि हम प्रसन्नता के साथ हिन्दी को राजभाषा अथवा लिंक भाषा के रूप मे स्वीकार कर ले। मै तो यह भी कहूँगा कि इसका श्रीगणेश दक्षिण वालों को करना चाहिए और आज ही। आज भारत को ऐसे लोकसभा के सदस्यो की आवश्यकता है, जिनकी चर्चा धर्मयुग मे श्री नन्दन ने की है। दुर्भाग्य है कि श्री नन्दन ने ऐसी महान् आत्मा का नाम नही दिया। प्रसंग इस प्रकार है—

"जब सदन मे हिन्दी को राज-कार्य मे प्रतिष्ठित करने के लिए पन्द्रह वर्ष का समय प्रस्तावित किया गया तो एक अहिन्दी भाषी ने तुरन्त उठकर प्रतिवाद किया—हम एक मिनट की भी देरी बरदाश्त नही करना चाहते हिन्दी को देवनागरी लिपि और हिन्दी अंको के साथ प्रतिष्ठित करने मे तनिक भी देरी नही करनी चाहिए (धर्मयुग, १५ सितम्बर, १९६३)।" निश्चय ही उस व्यक्ति के हृदय मे उस समय हिन्दी के प्रति प्रेम ही नही, अपितु राष्ट्र भक्ति की पावन-धारा ठाठे मार रही होगी। वे देश को एकता के सूत्र मे आबद्ध

देखना चाहते होगे और वह सूत्र है सारे देश की एक भापा। भारत तथा विदेश मे रहने वाले साढ़े चौवीस करोड़ जनो को एक सूत्र मे वांधने वाली मौलिक आन्तरदेशिक या आन्तरदेशीय या आन्तरजातीय भापा हो (भारतीय आर्य भापा और हिन्दी, पृष्ठ १६४)। यदि हम समस्त भारत के निवासियों की मातृभापाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि भारत मे हिन्दी बोलने वाले ४२ प्रतिशत है, जबकि इसके विपरीत आँग्ल भापा बोलने वालों की सख्या ११ प्रतिशत है तथा दक्षिण भारत की भापा को बोलने वालों की संख्या क्रमशः तेलगु, तामिल, कन्नड़ और मलयालम ९·७ प्रतिशत, ८ प्रतिशत एव ६ प्रतिशत है। अतः मैं नही समझता कि दक्षिण भारत के लोग केवल ११ प्रतिशत अग्रेजी ज्ञाताओ को देखकर ही क्यों चलते हैं? मातृभापाओं के आधार पर तैयार किये गये आँकड़ो का विवरण १९५१ की जनगणना के आधार पर निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत है—

हिन्दी—	१४,९९,४४,३१०
तेलगु—	३,२१,११,९१६
मराठी—	२,७०,४९,५२८
तामिल—	२,६५,४६,७६४
बंगाली—	२,५७,२१,६७४
गुजराती—	१,६३,१०,७७१
कन्नड—	१,४४,७१,७६४
मलयालम—	१,३३,८०,१०९
उड़िया—	१,३१,५३,१०९
आसामी—	४९,८६,२२६
कश्मीरी—	५,०५६
संस्कृत—	५५५

इस प्रकार हम देखते है कि कुल जनसंख्या का ४२ प्रतिशत तो वे लोग हैं जिनकी मातृभापा हिन्दी है। इसके अतिरिक्त कम से कम १० प्रतिशत, डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार, ऐसे आदमी मिल जायेंगे जो हिन्दी समझ सकते है और टूटे-फूटे रूप मे बोल भी सकते हैं। इस प्रकार समस्त जनसंख्या के ५२ प्रतिशत लोग हिन्दी भापा-भापी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे हिन्दी ही केवल एक ऐसी भापा है जो इस स्थान के लिए सर्वथा उपर्युक्त है। जहाँ तक इसे लादने का प्रश्न है, यह तो एक मानसिक ग्रन्थि है, समझ का फेर है। लादी जाती है—दूसरे की वस्तु। यह सभी भारतीयो की अपनी वस्तु है। अत. इसे हमे हृदय से अपनाना चाहिये। अपनी वस्तु को ग्रहण करने मे हमे कठिनाई हो सकती है, किन्तु उसे लादना कभी नहीं कहा जा सकता।

यदि सवैधानिक दृष्टिकोण से भी सोचें तो मैं कह सकता हूँ कि एक प्रजातन्त्र देश के सुयोग्य नागरिक का परम कर्तव्य है कि वह सविधान का सम्मान करे। उसमे उल्लिखित धाराओ को कार्य रूप मे परिणत करने में सहयोग दे, फिर उस मे सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस समय संविधान अपने स्वरूप को ग्रहण कर रहा था, उस समय भारत के प्रभुसत्ता का प्रमुख अधिकारी दक्षिण भारत का ही महापुरुष था। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हे उस समय इससे विरोध न था। विरोध की यह भावना तो उनका वाद का चिन्तन है जो केवल विरोधात्मक विचार-धारा मे बह जाना मात्र है।

विषय का द्वितीय एव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है राष्ट्रभाषा का विद्यालयों, महाविद्यालयो एव विश्वविद्यालयो के शिक्षा में स्थान और जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है, राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय स्तर तक एक अनिवार्य विषय के रूप मे पढाया जाना चाहिये। क्योकि वह भाषा जो केन्द्र के कार्यों की विधायिनी हो, अन्तरप्रादेशिक वार्तालाप का साधन बनाई जा रही हो, उसका अध्ययन परमावश्यक हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् एक समय आयेगा जब हम यह अनुभव करेगे कि हर देशवासी भारतीय पहले है और मद्रासी, बंगाली बाद मे। किन्तु इसके लिए एक प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि हिन्दी भाषा का अध्ययन विद्यार्थियो को किस कक्षा से प्रारम्भ करना चाहिए और कौनसी कक्षा तक करना चाहिए ? इसका अध्यापन किस लिपि के माध्यम से करवाया जाना चाहिये ?

जहाँ अध्ययन प्रारम्भ करने का प्रश्न है, सर्वसम्मत धारणा यह है कि विद्यार्थी को अपनी मातृभाषा से प्रारम्भ करना चाहिये और जब यह देखे कि विद्यार्थी अपनी भाषा को पढने और लिखने की ओर रुचि लेने लगा है, तो उसे राष्ट्रभाषा पढने के लिए दी जानी चाहिये। जब विद्यार्थी राष्ट्रभाषा को भी भली प्रकार समझने, पढने और लिखने लग जाए तब उसे आंग्ल भाषा पढ़ने को दी जानी चाहिये। इसे क्रमबद्ध यो रखा जा सकता है कि प्रारम्भ मे मातृभाषा, तृतीय श्रेणी से राष्ट्रभाषा और कम से कम आठवी श्रेणी से आंग्ल भाषा का अध्ययन विद्यार्थी करे और विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षा तक चालू रखे। इससे उनके मस्तिष्क पर आवश्यक भार भी नही पड़ेगा और भारत के लिए परमावश्यक तीनो भाषाओ का अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

परिशिष्ट २

निर्देशिका

पारिभाषिक-शब्दावली[1]

(१) **अक्षर**—वह छोटी से छोटी ध्वनि जिसके खण्ड न हो सकें। अ+क्षर अर्थात् जो घिसते नही। वर्ण भी इसे ही कहते है।

(२) **अघोष**—वे ध्वनियाँ होती है जिनका उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे से दूर रहती है तथा ध्वनि मे किसी प्रकार का कम्पन नही सुनाई देता। वर्ग का प्रथम और द्वितीय व्यञ्जन, श, प स, आदि अघोष है।

(३) **अघोषीकरण**—ध्वनि परिवर्तन मे सघोप ध्वनि का अघोपवत् उच्चारण होना; यथा—राजस्थानी, गुजराती, आदि भाषाओं मे सघोप महा-प्राण ध्वनियों एवं 'ह्' का उच्चारण।

(४) **अधिकरण**—वह स्थल या स्थिति जिसमे या जिस पर क्रिया घटित होती है। पर्वत पर वर्षा हो रही है।

(५) **अनुनासिक**—अर्धचन्द्र विन्दु। वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण नाक से होता है; यथा—चाँद, हँसना आदि। आग्ल—Incomplete Nasal.

(६) **अनुस्वार**—वह ध्वनि, जिसका उच्चारण नाक से होता है तथा जो नित्य, स्वर के पश्चात् आती है; यथा—हंस, कस, संसार। आँग्ल—Pure Complete Nasal.

(७) **अन्तस्थ**—स्वर और व्यञ्जन के बीच की ध्वनि। इन्हे अर्धस्वर भी कहते है। ये ध्वनियाँ यथास्थिति स्वर और व्यञ्जन मे परिवर्तित होती रहती है; यथा—य्, र्, ल्, व्। यदि+अपि—यद्यपि, सु+आगतम्—स्वागतम्।

(८) **अन्य पुरुष**—पुरुप वाचक सर्वनाम का एक भेद या प्रकार। जब वक्ता और श्रोता किसी तृतीय व्यक्ति के सम्बन्ध मे वार्तालाप करते हैं, तब व्याकरण में उस व्यक्ति को अन्य पुरुप कहते है; यथा—यह, वह।

(९) **अपादान**—दो वस्तुओ अथवा स्थितियो के पृथक्त्व का भाव।

(१०) **अल्प प्राण**—जिस व्यञ्जन के उच्चारण करने मे वायु का कम

---

[1] यहाँ मूलग्रन्थ मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो का अकारादि क्रम से विश्लेषण उपस्थित किया गया है।

निष्कासन होता है। वर्ग का पहला, तीसरा, पाँचवाँ व्यञ्जन तथा अन्तस्थ व्यंजन (य, र, ल, व) अल्पप्राण है। यथा—क, ग, ङ आदि।

(११) **अविकारी**—जिन शब्दो मे लिङ्ग, वचन, अथवा विभक्ति के कारण कोई भी विकार उत्पन्न नही होता। क्रिया विशेषण और अव्यय शब्द इसके अन्तर्गत आते है।

(१२) **अव्यय**—वे शब्द जो प्रत्येक स्थिति मे समान आकृति वाले रहते है। अविकारी शब्दो को ही अव्यय भी कहते है। यथा, तथा, आदि।

(१३) **आख्यात**—छान्दस एवं संस्कृत मे क्रिया को आख्यात कहते है।

(१४) **उत्तम पुरुष**—पुरुष वाचक सर्वनाम का एक भेद अथवा प्रकार। वक्ता के लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष सर्वनाम कहलाते है। मैं, हम, आदि।

(१५) **उपसर्ग**—वे शब्द अथवा शब्दांश जो शब्द से पूर्व जुड़ कर शब्द के अर्थ मे परिवर्तन ला देते हैं। प्र, परा, आदि।

(१६) **ऊष्म**—संघर्षी ध्वनियाँ जिनके उच्चारण मे घर्षण के कारण ऊष्मा पैदा होती है। 'श, ष, स' ध्वनियाँ ऊष्म ध्वनियाँ है।

(१७) **करण**—क्रिया के साधन का अर्थ देने वाले संज्ञा शब्द।

(१८) **कर्ता**—क्रिया के करने वाले को कर्ता कहते है।

(१९) **कर्म**—कर्ता के अभीप्सिततम कारक को कर्म कहते हैं। राम रोटी खाता है।

(२०) **कारक**—वाक्य मे दो अर्थ-तत्त्वों का सम्बन्ध बताने वाला शब्द या शब्दाश कारक कहलाता है।

(२१) **कृदन्त**—वे शब्द जो क्रिया के साथ प्रत्यय लगा कर बनाए जाते है; यथा—गतः, खादित्वा, चलइ, रखै, आदि।

(२२) **क्रिया विशेषण**—वे शब्द जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते है।

(२३) **क्षति-पूरक दीर्घीकरण**—संयुक्त व्यञ्जन विशेषकर 'द्वित्व' व्यञ्जन के किसी एक अवयव (व्यञ्जन) की क्षति हो जाने पर पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना; यथा—कम्म>काम।

(२४) **घोष**—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे के समीप आकर विशेष कम्पन उत्पन्न करती है, घोष कहलाती है।

(२५) **तद्धित**—क्रिया से भिन्न शब्दो के साथ लगने वाले प्रत्यय।

(२६) **तद्भव**—सस्कृत शब्दो के विकृत अथवा यो कहिये कि उनसे विकसित रूप।

(२७) **तिङन्त**—वे क्रिया शब्द जो काल सूचना हेतु 'ति. त.' आदि प्रत्ययो से युक्त होकर उपस्थित होते है।

(२८) **तिर्यक्**—वे शब्द जो परसर्गो के लगाने पर विकृत रूप वाले हो जाते है। ये संज्ञा, सर्वनाम अथवा विशेषण शब्द होते है।

(२९) **दीर्घ**—जिनके उच्चारण मे दो मात्रा का समय लगे, वे वर्ण दीर्घ कहलाते है। आ, ई, ऊ, आदि।

(३०) **द्वित्व**—अपभ्रंश की मुख्य विशेषता जहाँ संयुक्त व्यञ्जनो में से एक व्यञ्जन उससे संयुक्त दूसरे व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है; यथा :—कर्म>कम्म, कार्य>कज्ज।

(३१) **नपुंसक लिङ्ग**—संस्कृतादि भाषाओ के वे शब्द जो किसी वस्तु आदि के स्त्रीत्व और पुरुषत्व को व्यक्त करने में असमर्थ हों।

(३२) **नामधातु**—वे संज्ञा आदि शब्द जो कुछ निश्चित प्रत्ययो के जोड़ देने पर धातु का अर्थ देने लगते हैं।

(३३) **परसर्ग**—वे शब्द जो सम्बन्ध बताने के हेतु विभक्ति-प्रत्ययो के स्थान पर दो अर्थ-तत्त्वो के मध्य प्रयुक्त होते हैं। ने, को, मे, से, पर, आदि।

(३४) **पुल्लिङ्ग**—पुरुषवाची शब्द।

(३५) **पूर्वकालिक क्रिया**—वह क्रिया जो प्रधान क्रिया से पूर्व ही सम्पन्न हो चुकी हो। खाकर, पीकर, आदि।

(३६) **प्रत्यय**—वे शब्द या शब्दाश, जो मूल शब्द के अन्त मे जुड़कर उसका अर्थ बदल देते है। नीति>नैतिक।

(३७) **बलाघात**—शब्द या वाक्य के किसी अश पर बल देकर उच्चारण करना।

(३८) **बहिरंग**—मध्यदेश के चारो ओर की भाषाओ को डॉ. ग्रियर्सन ने बहिरंग संज्ञा प्रदान की है।

(३९) **मध्यम पुरुष**—पुरुषवाचक सर्वनाम का एक भेद अथवा प्रकार, जो श्रोता के लिए प्रयुक्त हो।

(४०) **महाप्राण**—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे जब अधिक मात्रा मे श्वास का निस्सरण होता है तब वह ध्वनि महाप्राण कहलाती है। वर्ग का द्वितीय, चतुर्थ, श, ष, स, वर्ण तथा 'ह' महाप्राण ध्वनियाँ होती है।

(४१) **'य' श्रुति**—एक स्वर से दूसरे वर्ण की उच्चारण स्थिति तक पहुचने के लिए अथवा पदान्त मे 'य' ध्वनि को और बढ़ा लिया जाता है, उसे 'य' श्रुति कहते है।

(४२) **लकार**—कालो की भिन्नता को सूचित करने वाले लकार होते हैं।

(४३) **लिङ्ग**—संज्ञा, क्रिया आदि के जिस विधान से किसी वस्तु व्यक्ति अथवा स्थान की जाति (पुरुष, स्त्री, जड) का बोध हो।

(४४) **'व' श्रुति**—स्वर के साथ 'व' का आगमन कर लेना।

(४५) **विकारी**—लिङ्ग, वचन और विभक्ति के कारण जिन शब्दों के रूप मे विकृति आ जाती है, उन्हे विकारी कहते है।

(४६) **विपर्यय**—ध्वनियो का परस्पर स्थान बदल लेना।

(४७) **व्यत्यय**—जहाँ पर एक विधान के स्थान पर दूसरे विधान का प्रयोग होता हो।

(४८) **संज्ञार्थक क्रिया**—कुछ ऐसे प्रत्यय, जिनके लगने पर क्रिया शब्दो का संज्ञा आदि शब्दों जैसा अर्थ देना।

(४९) **सन्धि**—किन्ही दो शब्दो या शब्दाशों के प्रथम के अन्तिम वर्ण और द्वितीय का आदि वर्ण जब आपस मे मिलकर विकार उत्पन्न करते है वहाँ सन्धि होती है।

(५०) **सम्प्रदान**—जिस वस्तु अथवा व्यक्ति के लिए क्रिया की जाती है, उसे सम्प्रदान कहते है।

(५१) **सहायक क्रिया**—वे क्रिया शब्द जो किसी क्रिया शब्द के साथ किसी काल-विशेष का बोध कराने हेतु जोड़े जाते है; यथा :—है, था, गा, आदि।

(५२) **स्त्रीलिङ्ग**—वे शब्द जो किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थान के स्त्रीत्व का बोध कराते है।

(५३) **स्वर**—वे ध्वनियाँ जो बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता के उच्चरित हो सकती है।

(५२) **स्पर्श**—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण मे जिह्वा, मुख के किसी न किसी स्थान का स्पर्श करती है। प वर्ग मे ओष्ठ एक-दूसरे का स्पर्श करते है।

(५३) **स्वरभक्ति**—संयुक्त व्यञ्जनो का सरलता से उच्चारण करने के लिए जहाँ पर स्वर का आगम कर लिया जाता है :—प्रसाद>परसाद। पंजाबी भाषा की यह मुख्य विशेषता है।

(५४) **ह्रस्व**—जिन ध्वनियों के उच्चारण मे एक मात्रा का समय लगता हो।

(५५) **सम्बन्ध**—कारक का वह रूप, जो दो वस्तुओं के सम्बन्ध का बोध कराता है।

संकेत-विवरण

का. सू.	—काम सूत्र
वि. स.	—विहारी सतसई
प्रा. पै.	—प्राकृत पैंगलम्
स. रा.	—सन्देश रासक
व. र.	—वर्ण रत्नाकर
की. ल.	—कीर्ति लता
उ. व्य. प्र.	—उक्ति व्यक्ति प्रकरण
सू. सा.	—सूर सागर
घ. क.	—घनानन्द कवित्त
सू. पू. व्र.	—सूर पूर्व व्रजभाषा काव्य

ग्रन्थ-सूची

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी —सं. एल. बी. गांधी

२. अपभ्रंश व्याकरण —सं. केशवराम शास्त्री

३. अष्टाध्यायी —पाणिनि

४. आर्यों का आदि देश —डॉ. सम्पूर्णानन्द

५. उक्ति व्यक्ति प्रकरण —दामोदर पण्डित

६. ऋग्वेद ... ...

७. औपपातिक सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ

८. कल्याण (हिन्दू संस्कृति विशेषांक) —गीता प्रेस, गोरखपुर

९. काव्यादर्श —दण्डी

१०. काव्यालंकार —भामह

११. कामसूत्र —वात्स्यायन

१२. कीर्तिलता —विद्यापति

१३. कामायनी —जयशंकर प्रसाद

१४. कौषीतकी ब्राह्मण ... ...

१५. गद्य पारिजात —सं. डॉ. सूर्यकान्त

१६. काव्य मीमांसा —राजशेखर

१७. गउड़ वहो —वाक्पतिराज

१८. घनानन्द कवित्त —सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१९. जय सोमनाथ —कन्हैयालाल माणकलाल मुंशी

२०. ताण्ड्य ब्राह्मण ... ...

२१. धम्मपद —राहुल साकृत्यायन

२२. नाट्य शास्त्र —भरतमुनि

२३. पाणिनीय शिक्षा —पाणिनि

२४. पालि जातकावली —सं. बटुकनाथ शर्मा

२५. पालि साहित्य और समीक्षा —डॉ. [illegible] शर्मा 'अरुण'

२६. पालि प्रबोध —आद्यादत्त ठाकुर

२७. पालि महा व्याकरण —कात्यायन

२८. पुरातत्त्व निबन्धावली —[illegible]त्यायन

२९. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण —पं. मधुसूदन मिश्र
३०. प्राकृत प्रकाश —वररुचि
३१. प्राकृत सर्वस्व —मार्कण्डेय
३२. प्राकृत पैंगलम् —सं. डॉ. भोलाशंकर व्यास
३३. बिहारी सतसई —सं. लाला भगवानदीन
३४. ब्रजभाषा —डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
३५. ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन ... ...
३६. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी —डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
३७. भाषा और समाज —डॉ. रामविलास शर्मा
३८. भाषा विज्ञान —डॉ. भोलानाथ तिवारी
३९. भ्रमरगीत सार —सं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४०. महाभाष्य —पतञ्जलि
४१. मोग्गलान व्याकरण —मोग्गलान
४२. राज प्रश्नीय सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४३. रामचन्द्रिका —आचार्य केशव
४४. वाक्यपदीयम —भर्तृहरि
४५. वाग्भटालंकार —वाग्भट
४६. विपाक सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४७. विष्णुधर्मोत्तर पुराण —सं. डॉ. मनमोहन घोष
४८. वैदिक व्याकरण —उमेशचन्द्र पाण्डेय
४९. वर्ण रत्नाकर —ज्योतिरीश्वर ठाकुर
५०. सन्देश रासक —सं. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी
५१. संस्कृत साहित्य का इतिहास —डॉ. रामजी उपाध्याय
५२. सांख्य कारिका ... ...
५३. सामान्य भाषा विज्ञान —डॉ. बाबूराम सक्सेना
५४. सिद्धान्त कौमुदी —भट्टोजी दीक्षित
५५. सूर सागर —सूरदास
५६ सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य —शिवप्रताप सिंह
५७ हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास —डॉ. उदयनारायण तिवारी
५८ हिन्दी भाषा और साहित्य —डॉ. श्यामसुन्दर दास
५९. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास —आदिगुरु

६०. हिन्दी भाषा : रूप विकास —डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

६१. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग —डॉ. नामवर सिह

६२. हिन्दी की तद्भव शब्दावली —डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

६३. हिन्दी काव्यधारा —राहुल सांकृत्यायन

६४. हिन्दी भाषा : उद्भव, रूप और विकास —डॉ. हरदेव बाहरी

६५. हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान) —डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'

६६. हेम शब्दानुशासन —हेमचन्द्राचार्य

अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ :

1. Historical Grammar of Apbhransh —Dr. G. V. Tagare
2. Linguistic Survey of India —Dr. Grearson
3. General Anthropology —Frang Bous
4. Man in Primitive Age —Heebel
5. The Future of India —Swami Vivekanand
6. The Vedic Age —Ed. Dr R. C. Majumdar